कारमाइकेल व्याख्यान, १९२३

अशोक

(हिन्दी अनुवाद)

लेखक

डी० आर० भंडारकर, एम. ए. (बम्बई),
मानार्ह पी-एच. डी. (कलकत्ता), एफ ए. एस. बी.,
प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति के कारमाइकेल अध्यापक,
कलकत्ता विश्वविद्यालय

१९६०

एस० चन्द एण्ड कम्पनी
दिल्ली—जालन्धर—लखनऊ

प्राक्कथन

अशोक के विपय मे इतना अधिक कहा और लिखा गया है कि जो लोग इस पुस्तक को देखेगे उनमे से कुछ शायद आश्चर्य से यह पूछेगे कि इस भारतीय नरेश के बारे मे अभी और कौनसी नई बाते कहने के लिए शेष हैं। लेकिन यह न भूलना चाहिए कि अशोक पत्थरो पर जो अभिलेख छोड गया है, वे अपने-आप मे एक साहित्य हैं और उनमे उसने जो कुछ कहा है वह सब ठीक-ठीक समझने मे अभी विद्वानो को बहुत वर्ष लगेगे। भारतीय शिलालेख-शास्त्र के किसी विद्यार्थी को यह बताने की आवश्यकता नही है कि इन अभिलेखो मे बहुत से ऐसे सदर्भ हैं जो स्पष्ट नही हैं और विद्वान् लोग प्रतिदिन उनके नये और अच्छे निर्वचन पेश कर रहे हैं। दूसरा काम यह है कि इन लेखो से प्राप्त होने वाली अनेक सूचनाओ को ऐसे ढग से जोड़ा जाय जिससे इस धर्म-प्रचारक राजा का सजीव चित्र प्रस्तुत हो सके।

मेरा खयाल है कि जोडने का यह काम अभी तक पूर्ण नही हुआ और अभी कुछ और वर्प जारी रहना चाहिए। भारतीय शिलालेख-शास्त्र का कोई हिस्सा इतना मनोरजक और इतना परिष्कारक नही है, जितना वह अग जिसे अशोक के ये अभिलेख निरूपित करते हैं और क्योकि मेने उसके लेखो के न केवल निर्वचन के काम मे, बल्कि क्रमेक्षण (Collation) और एकीकरण के काम मे भी हिस्सा लिया है, इसलिए मैं समझता हूँ कि मुझे यह पुस्तक लिखने

के लिए, जो इस बौद्ध राजा के बारे मे मेरे विचार प्रस्तुत करती है, कोई सफाई देने की आवश्यकता नही।

मेरा अशोक के लेखो का अध्ययन १८९८ मे शुरू हुआ। उस समय मेरे सम्मुख न केवल प्रिसेप, विल्सन और बरनोफ के, बल्कि प्रोफेसर कर्न, प्रोफेसर सेनार्ट और प्रोफेसर बूलर के भी अनुवाद और टिप्पणियाँ थी। मैंने इन सब पुस्तको की सामग्री को अच्छी तरह पढा। परन्तु मुझे श्री सेनार्ट की "दि इन्स्क्रिप्शन आफ पियदसी" के समान मनोरजक और लाभदायक कोई पुस्तक नही लगी। यह पुस्तक 'इण्डियन एण्टीकरी' मे अग्रेजी रूप मे प्रकाशित हुई थी। मुझे तुरन्त यह दिखाई पडा कि यह फ्रेंच विद्वान् न केवल शिलालेख-शास्त्री या सस्कृत, पालि और प्राकृत का विद्वान् है, बल्कि एक इतिहासकार भी है, जिसका लक्ष्य यह है कि शिलालेखीय और साहित्य अभिलेखो से प्राप्त होने वाली सूचनाओ की अनेक कडियो को मिलाकर एक सिलसिलेवार पूर्ण वस्तु बनाई जाय। इस प्रकार उनकी पुस्तक का चौथा अध्याय न केवल इतिहास के क्रम मे अशोक की या उसके लेखो की स्थिति बताता है बल्कि उसके राज्य के सीमा-विस्तार उसकी प्रशासन-प्रणाली, उनके स्वतन्त्र पड़ोसियो, ग्रीक जगत् के साथ उसके सम्बन्ध, उसकी बौद्ध धर्म की दीक्षा, उसके धम्म के स्वरूप, इत्यादि का भी उल्लेख करता है। सबसे पहले श्री सेनार्ट ने ही यह रास्ता दिखाया कि उसके अभिलेखो के व्यवस्थित अध्ययन से किस तरह अशोक के इतिहास की रचना की जा सकती है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मैने अशोक के लेखो का, इस दृष्टि से कि वे भारत के इतिहास पर क्या प्रकाश डालते हे, लगभग चौथाई शताब्दी अध्ययन किया है। मैंने वास्तव मे कोई प्रगति की

है या नही, और यदि की है तो कितनी, यह बात तो विद्वान् और इतिहासज्ञ ही बता सकते हैं। परन्तु यह जानने के लिए कि मेरा प्रयत्न कहाँ तक सफल हुआ है, मैंने अपनी पुस्तक के पहले सात अध्यायो के पेज प्रूफ उपलब्ध होते ही फ्रेंच विद्वान् को भेजे थे और उनसे यह प्रार्थना की थी कि वे इस पुस्तक के बारे मे अपना विचार नि सकोच होकर बताएँ। परन्तु बहुत दिनो तक कोई उत्तर नही आया और जिस समय प्राक्कथन कम्पोज हो रहा था, ठीक उस समय वह चिर-प्रतीक्षित पत्र आया। इसमे शुरू मे लिखा है—"एक वृद्ध सहयोगी के कुछ-कुछ जर्जर स्वास्थ्य के कारण हुई देरी को क्षमा कीजिए। मैं पहले ही आपके भेजे हुए अशोक के पेजो के लिए आपको धन्यवाद देना चाहता था। मैंने वर्षो पहले इस धार्मिक राजा और उसके बहुमूल्य शिलालेखो का जो अध्ययन किया था, आपने उसे स्मरण रखने की कृपा की। मं आप जैसे प्रवुद्ध निर्णायक के निर्णय से क्यो प्रभावित न होता ? आप समझ सकते हैं कि अपने यौवन-काल की वे गवेषणाएँ मुझे हमेशा प्रिय और नई लगती हैं। आपकी पुस्तक मुझे एक बार फिर उन्ही गवेषणाओ मे पहुँचा देती है। मैं इसके लिए बडा कृतज्ञ हूँ। कृतज्ञ मैं इसलिए हूँ क्योकि इससे उस प्रतिभासम्पन्न और उत्साहमय कौशल का एक उज्ज्वल उदाहरण मेरे सामने आया है, जिससे आधुनिक भारत अपने अतीत की पुन. रचना का यत्न कर रहा है।"

श्री सेनार्ट ने अपने पत्र मे मुझे स्पष्ट रूप से बता दिया है कि वे किस-किस बात मे मुझसे मतभेद रखते है। एक को छोडकर ये सब मतभेद गौण मतभेद हैं। मुख्य मतभेद उस उत्तरदायित्व के विषय मे है, जो मैंने उसकी विदेश-नीति के परिवर्तन के विषय मे उस पर डाला है, अर्थात् उसके दयापूर्ण विचारो की वह कमजोरी

जिसने उसके बाद देश पर होने वाले अनेक ग्रीक और तूरानी विदेशी आक्रमणो की सफलता को आसान बना दिया। "यह सर्वथा सम्भव है", आपने लिखा है, "कि बौद्ध शान्तिवाद के कारण अन्ततोगत्वा कुछ लोगो मे कमजोरी आई—वे लोग इसके कारण अधिक नम्र तो नही हुए, सिर्फ कर्म करने मे कम समर्थ हो गये[1]...... .. .. मुझे तो उसमे सिर्फ एक आदर्शवाद की और गहरी धार्मिकता की, जिससे हम सुपरिचित हैं, भावना दिखाई देती है क्योकि भारत का सारा सुदीर्घ अतीत इससे अनुप्राणित है, और शायद इससे भारत को अधिक आध्यात्मिक सम्मान प्राप्त हुआ है। इसकी तुलना मे भारत को वैदेशिक सफलताओं की प्राप्ति, जिसके विषय मे यह सदिग्ध है कि भारत की प्रतिभा ने इसे कभी इसके योग्य बनाया भी था या नही, बहुत गौण है।" इसलिए जब उन्होने मेरी इस पुस्तक पर ऐसी स्पष्ट आलोचना करने की कृपा की है, तब यह मानना ही

---

१. यह कह देना उचित होगा कि यह विचार मेरे मन मे भी आया था, पर मुझे इसे त्याग देना पडा क्योकि अशोक और उसके बाद हुए ग्रीक आक्रमण के बीच बहुत थोडा व्यवधान था। अशोक की मृत्यु २३६ ई० पू० मे हुई मानी जाती है और पहले बैक्ट्रियन ग्रीक आक्रान्ता यूथाई डेमस की मृत्यु १९० ई० पू० के आस-पास हुई मानी जाती है। इस प्रकार मुश्किल से पचास वर्ष का अन्तर है, और इसमे भी एन्टीओकस महान् का मौर्य साम्राज्य के उत्तर-पश्चिमी सीमान्त पर सफल हमला हो चुका था (दि कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृष्ठ ४४२ और ४४४)। इस प्रकार अशोक की मृत्यु के लगभग अविलम्ब बाद ही ग्रीक आक्रमण हो गया। क्या इतने थोडे से समय मे बौद्ध धर्म का प्रसार हो गया और उसने जनता को, और उससे भी बढकर, मगध सेना को इतना कोमल और शान्तिप्रिय बना दिया कि वह सैनिक कार्य मे असमर्थ हो गई?— यह वही सेना थी जिससे सिकन्दर के सैनिक काँपते थे, और जिसने उसके बाद सैल्यूकस की सेना को मार भगाया था।

पडता है कि मेरी सारी पुस्तक के वारे मे उन्होने जो अपना निम्नलिखित विचार प्रकट किया है वह उनका सच्चा हार्दिक अभिमत है : "आपका प्रयोजन यह नही था कि शिलालेखीय जानकारी के अनुकूल अनुश्रुतियो की साधारण परीक्षा के द्वारा अशोक का एक आलोचनात्मक इतिहास लिख दिया जाय, बल्कि आप तो शिलालेखो के विश्लेषण द्वारा यह प्रकट करना चाहते थे कि एक बुद्धिमान् और जिज्ञासाशील गवेषक को उनसे अव तक अप्रत्याशित क्या जानकारी प्राप्त हो सकती है। सम्बन्धित साहित्य से अपने दीर्घ परिचय के कारण आप इस कार्य-भार के लिए सवसे अधिक सज्जित व्यक्ति हैं। यह आपकी अद्वितीय शक्ति का चमत्कार है कि आपने पुस्तको की सहायता से स्मारको पर प्रकाश डालकर अपने चित्र को सजीव कर दिया है।"

अशोक के सम्वन्ध मे अनेक प्रश्न अव भी उलझे हुए हैं। इनमे से एक यह भी है कि भारत पर उसकी वैदेशिक नीति का क्या प्रभाव हुआ। ऐसा ही एक और प्रश्न यह है कि क्या पश्चिमी एशिया मे बौद्ध धर्म उसके प्रयत्नो से फैला और यदि हाँ तो कहाँ तक। यदि इन प्रश्नो पर स्वतन्त्रता और निर्भयता से विचार न किया जाय तो किसी अन्तिम निष्कर्ष पर नही पहुँचा जा सकता। मेरे जो कुछ विचार हैं वे मैंने प्रकट कर दिये हैं और अव यह देखना है कि विद्वान् लोग, और उनसे भी वढकर, इतिहासकार क्या-क्या विचार प्रकट करते हैं। ये सम्मतियाँ जितनी विविध होगी, इस प्रश्न को देखने के उतने ही दृष्टिकोण सामने आयेगे और परिणामतः उनके शीघ्र हल होने की उतनी ही अधिक सम्भावना होगी।

यह सच है कि इस पुस्तक का मुख्य उद्देश्य इतिहास है, शिलालेख-शास्त्र नही, तो भी, वह समय अभी नही आया, और जहाँ तक

प्राचीन भारत का सम्बन्ध है, शायद वह कभी भी नहीं आये, जब इतिहास को शिलालेख-शास्त्र, पुरातत्व या सस्कृत और सस्कृत साहित्य से पूर्णतया पृथक् किया जा सके। अशोक के लेखों में अब भी कुछ ऐसे शब्द और सदर्भ हैं, जिन्हें ठीक-ठीक समझने की आवश्यकता है, यद्यपि डाक्टर एफ० डब्लू० टामस ने इस क्षेत्र में हाल मे ही बडा भारी कार्य किया है। इसलिए मैंने अपने प्राचीन इतिहास के इस आधार की उपेक्षा नहीं की। मैंने इसकी ओर काफी ध्यान दिया है। यह बात विशेष रूप से अध्याय आठ में देखी जा सकती है, जिसमे अशोक के प्रज्ञापनो का अनुवाद और उन पर टिप्पणियाँ हैं।

मैं कह चुका हूँ कि अशोक के लेखों ने मुझे चौथाई शताब्दी तक व्यस्त रखा, परन्तु मैं इतनी बात कहे बिना नहीं रह सकता कि इस कार्य मे मैं अधिक प्रगति तभी कर सका जब मैं प्राचीन भारतीय इतिहास और सस्कृत के कारमाईकेल प्राध्यापक के पद पर नियुक्त होकर कलकत्ते आया और मैंने कलकत्ता विश्वविद्यालय के शुद्ध बौद्धिक वायुमण्डल मे साँस लिया जो स्वर्गीय सर आशुतोष मुकर्जी सरस्वती की महान् प्रतिभा की अनुपम सृष्टि है। खेद है कि हम स्नातकोत्तर अध्ययन की उन्नति मे उनके पथ-प्रदर्शन से सदा के लिए वचित हो गए। उन्हे इस पुस्तक के प्रकाशित होने मे विशेष दिलचस्पी थी, और मुझे इस बात का सदा अत्यधिक दुःख रहेगा कि वे इस पुस्तक को देखने के लिए जो अब दो वर्ष मे छपकर तैयार हुई है, कुछ दिन और जीवित न रह सके।

इस पुस्तक की अनुक्रमणिका श्री गिरीन्द्र मोहन सरकार ने तैयार की है जो कुछ समय पहले मेरे शिष्य थे। प्रूफ पढने तथा साधारण सहायता देने के लिए मैं कलकत्ता विश्वविद्यालय के दो

उपाध्यायो श्री जितेन्द्रनाथ बनर्जी और श्री नानीगोपाल मजूमदार का, तथा अपने शिष्यो श्री राकोहरी चटर्जी और श्री चिन्ताहरण चक्रवर्ती का, बहुत अधिक ऋणी हूँ और अपने इस प्राक्कथन का सबसे अधिक अच्छा उपसहार उन्ही शब्दो मे कर सकता हूँ जिन शब्दो मे फ्रेंच विद्वान् ने अपने पत्र का उपसहार किया है : "आप, जो अपनी सुन्दर परम्पराओ के प्रति निष्ठावान और ठोस ज्ञान के अनुरागी हैं, अपने इस पूर्वज को अपने गवेषणाओ और अपने देश-प्रेम की स्फुरणाओ की श्रद्धाजलि अर्पित करना चाहते थे । आपके कार्य का उचित मूल्याकन करने के लिए ब्योरे की बातो मे जाना होगा, और वैसा करना इस छोटे से पत्र मे सभव नही, अत मेरा हार्दिक अभिनन्दन स्वीकार कीजिए । मै सहानुभूति और परिश्रम के इस फलप्रद सयोग को—जिससे भारत की धार्मिकता और पश्चिम के आदरपूर्ण कौतूहल को एक हो जाना चाहिए—हमारे साझे चरितनायक के सरक्षण मे रखना चाहता हूँ ।"

—डी० आर० बी०

[अनुवाद में अनुक्रमणिका नही दी जा सकी है ।—अनु०]

संक्षेपों की तालिका

ABORI—एनल्स ग्राफ दि भडारकर ओरिएटल रिसर्च इस्टीच्यूट ।

AR—ASEC—वार्षिक रिपोर्ट, ग्रार्कियोलौजिकल सर्वे, ईस्टर्न सर्कल ।

ASI-AR—ग्रार्कियोलौजिकल सर्वे ग्राफ इण्डिया—वार्षिक रिपोर्ट ।

ASSI—ग्रार्कियोलौजिकल सर्वे ग्राफ सदर्न इण्डिया ।

ASWI—ग्रार्कियोलौजिकल सर्वे ग्राफ वेस्टर्न इण्डिया ।

CASR—कनिंगहम की ग्रार्कियोलौजिकल सर्वे रिपोर्ट ।

CCII—कनिंगहम, कौर्पस इन्स्क्रिप्शिनम इण्डिकेरम ।

CL—कारमाइकेल लेक्चर्स ।

EB—एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका ।

EC—एपिग्राफिया कर्नाटिका ।

EHI—ग्रर्ली हिस्ट्री ग्राफ इण्डिया ।

EI—एपिग्राफिया इण्डिका ।

ERE—साइक्लोपीडिया ग्राफ रिलीजन एण्ड एथिक्स ।

EZ—एपिग्राफिया जेलानिका ।

GI—गुप्त इन्स्क्रिप्शन्स ।

HAS—हैदरावाद ग्रार्कियोलौजिकल सर्वे ।

HASL—हिस्ट्री ग्राफ एशेंट सस्कृत लिटरेचर ।

HIEA—हिस्ट्री आफ इण्डियन एण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर ।

IA—इडिअन एंटिकरी ।

IHQ—इण्डिअन हिस्टौरिकल क्वार्टरली ।

JAOS—जर्नल आफ दि अमेरिकन ओरिएटल सोसाइटी ।

JASB—जर्नल आफ दि एशियाटिक सोसाइटी आफ बगाल ।

जात—जातक ।

JBBRAS—जर्नल आफ दि बौबे ब्राञ्च आफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी ।

JBORS—जर्नल आफ दि विहार उडीसा रिसर्च सोसाइटी ।

JDL—जर्नल आफ दि डिपार्टमेट आफ लैटर्स (कलकत्ता विश्वविद्यालय) ।

JPTS—जर्नल आफ दि पाली टेक्स्ट सोसाइटी ।

JRAS(NS)—जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी (न्यू सीरीज) ।

MASB—मेमोइर्स आफ दि एशियाटिक सोसाइटी आफ बगाल ।

MASI—मेमोइर्स आफ दि आर्कियोलौजिकल सर्वे आफ इडिया ।

MCNL—मणीन्द्रचन्द्र नन्दी लैक्चर्स, १९२५, (जो बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय मे श्री डी० आर० भडारकर ने दिये थे) ।

PR-ASNWFP—उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त के आर्कियोलौजिकल सर्वे की प्रगति रिपोर्ट ।

PR-ASWI—पश्चिमी भारत के आर्कियोलौजिकल सर्वे की प्रगति रिपोर्ट ।

PTFOC—पहली ओरिएंटल कान्फ्रेन्स, पूना, की कार्यवाही
PTS—पालि टेक्स्ट सोसाइटी ।
SAMJSV—सर आशुतोष मुकर्जी सिलवर जुबिली वाल्यूम ।
SBB—सेक्रेड बुक्स आफ दि बुद्धिस्ट्स ।
SBE—सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट ।
SSPS—सस्कृत साहित्य परिषद् सीरीज, कलकत्ता ।
VOJ—विएना ओरिएंटल जर्नल ।
VP—विष्णु पुराण ।
ZDMG—जेइट्सक्रिफ्ट डेर डुएटशेन मौर्गनलेंडिशेन जैसैलशैफ्ट ।

विषय-सूची

अध्याय १

अशोक और उसका आरम्भिक जीवन

भारत मे शायद ही कोई शिक्षित व्यक्ति ऐसा हो जिसने अशोक और उसके शिलालेखो का नाम न सुना हो। हर कोई जानता है कि अशोक एक मौर्य वश का नरेश, और चन्द्रगुप्त का पोता था। ग्रीक लेखकों ने चन्द्रगुप्त को सैंड्रेकोट्टोस नाम से याद किया है और वह कुछ समय तक सिकन्दर महान् का समकालीन था। यह भी सब को पता है कि इस नरेश के शिलालेख भारत भर मे पाये जाते हैं। पर सभव है कि यह बात सबको न मालूम हो कि उन शिलालेखो पर क्या लिखा है और उनसे उस मौर्य राजा का क्या विवरण प्राप्त होता है। कुछ ऐसे बौद्ध ग्रन्थ अवश्य हैं जिनमे उसके जीवन और कार्य का वृत्तान्त मिलता है, पर उनकी विश्वसनीयता पर सन्देह किया गया है, जो उचित ही है। उनमे बहुत सी कथाएँ दी गयी हैं जिनमे उसे पहले कालाशोक, अर्थात् काले अशोक, के रूप मे, और उसके बौद्ध हो जाने के बाद धर्माशोक, अर्थात् पवित्र अशोक, के रूप मे चित्रित किया गया है। क्योकि इन ग्रन्थो का एक ध्येय बौद्ध धर्म की प्रशसा करना है और उसके लिए वे यह बताते हैं कि बौद्ध धर्म ने अशोक को किस तरह दानव से देवता बना दिया, इसलिए उनके विवरण की सत्यता के बारे में स्वभावतः मन मे सन्देह पैदा हो जाता है। पर उसके शिलालेखीय स्मारको के बारे मे यह बात नही है—

इन स्मारको की, जो समकालीन अभिलेख (records) हैं और उस के आदेशो से खोदे गये थे, प्रामाणिकता असदिग्ध है। इतना ही नही, वल्कि जव हम उन्हे पढते हैं कि मानो अव भी उसकी वाणी हमें सुनायी दे रही है और उसके अन्तस्तल की भावनाएँ हमे सुना रही हैं। आगे के पृष्ठो मे दी जाने वाली अशोक की कथा, लगभग पूरी तरह, इन स्मारकों के आधार पर है, और हम वहुत निश्चय मे कह सकते हैं कि हमारा विवरण कल्पना नही, वल्कि इतिहास है।

अशोक अपने पीछे किस तरह के अभिलेख छोड गया है? क्या उनकी सख्या इतनी अधिक है और क्या वे इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि उनसे व्योरे की वातो पर प्रकाश पड सके? यदि हम उसके शिलालेखीय स्मारको का पूरा विवरण यहाँ देने लगे तो निश्चय ही पाठक उकता जाएगा, और इसलिए हमने वह एक वाद के अध्याय के लिए रख छोडा है। पर इस तथा अगले अध्याय का विषय अच्छी तरह से हृदयगम कराने के लिए इन अभिलेखो के स्वरूप की कुछ रूपरेखा यहाँ देना आवश्यक है। ये अभिलेख जैसा कि हम जानते हैं, सवके सव पत्थर पर खुदे हुए हैं। वे शिलाओ पर, स्तम्भो पर या गुफाओ मे खोदे गये हैं। शिलाओ पर के लेख भी दो प्रकार के है, अर्थात् (१) चौदह शिला प्रज्ञापन (Fourteen Rock Edicts) और (२) गौण शिला प्रज्ञापन (Minor Rock Edicts)। चौदह शिला प्रज्ञापनो का यह नाम इसलिए पडा है क्योकि वे मिलकर क्रमवद्ध चौदह विभिन्न लेखो (inscriptions) का सग्रह है, और सात विभिन्न स्थानो मे पाये गये हैं जो सव के सव भारत के सीमा-प्रदेशो पर हैं। गौण शिला प्रज्ञापनो मे दो भिन्न प्रकार के अभिलेख हैं। वे इकट्ठे तो सिर्फ मैसूर वाली तीन प्रतियो मे खुदे हुए हैं; और सब स्थानो

मे, जिनकी सख्या चार से कम नही है, सिर्फ प्रज्ञापन १ खुदा हुआ है। अशोक के स्तम्भ लेखो को भी दो भागो मे बाँट सकते है—(१) सात स्तम्भ प्रज्ञापन और (२) गौण स्तम्भ लेख। इनमे से पहले सात मिलकर एक समूह बनाते हैं, पर पिछले चार अलग-अलग शिलालेख है। अशोक के गुफा लेख वे ही है जो विहार के वरावर पर्वत की गुफाओ मे खुदे हुए हैं। ये सब मिलाकर तैंतीस विभिन्न लेखो से कम नही है, और, जैसा कि हम अपने विवरण मे आगे देखेगे, वे अशोक, उसके प्रशासन, उसके धार्मिक विश्वास और उसके धर्म-प्रचार के कार्यो आदि से सम्बन्धित अनेक बातो पर प्रकाश डालते है। आवश्यकता सिर्फ यह है कि अशोक के वारे मे जो कुछ जानने योग्य और ऐतिहासिक दृष्टि से स्वीकार्य है उसका अधिकतम अश हस्तगत करने के लिए इन अभिलेखो की सावधानी से तुलना की जाए।

जिन लोगो ने इन शिलालेखो का अध्ययन किया है वे अच्छी तरह जानते है कि ये लेख अपना उद्भव एक राजा से बताते है जो अपने आपको पियदसी, अर्थात् प्रियदर्शी, कहता है। जब लगभग तीन-चौथाई शताब्दी पहले, जेम्स प्रिसेप, जिसे ब्राह्मी लिपि का रहस्य उद्घाटित करने का श्रेय मिलना चाहिए, इन्हे पहली बार पढ रहा था, तब प्रियदर्शी नाम से वह बडे चक्कर मे पड गया था। वह नही जानता था कि यह प्रियदर्शी कौन था, किस वश का था, और किस काल मे राज्य करता था। पर उसके कुछ ही समय बाद टर्नर (Turner) ने, जो श्रीलका सिविल सर्विस का अफसर था और स्वय पाली का बडा विद्वान था, बताया कि प्रियदर्शी अशोक ही है। उसने बताया कि सिहली भाषा की इतिहास-पुस्तक दीपवश मे पियदस्सी

या पियदस्सन, मौर्यवंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त के पौत्र अशोक का ही एक और नाम है। यह सच है कि तब से इस कथन पर कोई आपत्ति नही की गयी, पर यह बात निश्चित रूप से तब ही प्रमाणित हुई जब सिर्फ छह वर्ष पहले गौण शिला प्रज्ञापन १ की छठी प्रति शोलापुर जिले (निजाम राज्य) के मस्की नामक स्थान पर प्राप्त हुई। इस लेख मे अशोक के नाम का स्पष्ट रूप से और पहली ही पंक्ति मे उल्लेख है। इसलिए अब इस बात मे सदेह नही किया जा सकता कि अशोक और प्रियदर्शी एक ही व्यक्ति है, और इन लेखों का प्रणेता वास्तव मे उस चन्द्रगुप्त का पोता है जिसने मौर्य साम्राज्य की स्थापना की।

इस प्रकार हम देखते है कि हमारे पुरालेखीय अभिलेखो का प्रणेता अशोक और प्रियदर्शी इन दोनो नामो से प्रसिद्ध था। प्राचीन भारत के राजाओ मे एक से अधिक नाम रखने की प्रथा थी, जिनमें से एक तो उनका व्यक्तिवाचक नाम होता था और अन्य नाम उन के विशेषण होते थे जो विरुद कहलाते थे। इन दोनो शब्दो मे एक निश्चित रूप से उसका नाम रहा होगा और दूसरा विशेषण होगा। और प्रतीत होता है कि प्रियदर्शी उसका विशेषण था क्योकि हम जानते है कि श्रीलका के एक इतिहास-ग्रन्थ मे अशोक के दादा चन्द्रगुप्त को भी, उसकी तरह, पियदस्सन कहा गया है। इसमे किसी को सदेह नही कि चन्द्रगुप्त उसका अपना नाम था। इसलिए प्रियदर्शन या प्रियदर्शी उसका विरुद या गौण नाम माना जाना चाहिए। हम जानते है कि अशोक के लिए यह विशेषण प्रियदर्शी था और यह बिलकुल सभव है कि उसके दादा का विरुद भी प्रियदर्शी था, प्रियदर्शन नही। क्योकि बाद के जमाने मे हम देखते हैं कि एक ही वंश

के दादा और पोता एक ही विरुद धारण करते हैं। श्रीलका के इतिहास-ग्रथ मे अशोक को प्रियदर्शी के अलावा प्रियदर्शन भी कहते हैं जिससे प्रकट होता है कि वे दोनो शब्दों को एक ही अर्थ मे प्रयुक्त करते हैं। और क्योकि अशोक के शिलालेखो से हमे पता चलता है कि वह प्रियदर्शी कहलाता था, प्रियदर्शन नही, अत यह मानना स्वाभाविक है कि उसका दादा भी प्रियदर्शी था, प्रियदर्शन नही। यह विलक्षण बात है कि उसके अभिलेख राजा को सिर्फ एक बार अशोक नाम से, और अन्य सब स्थानो पर प्रियदर्शी नाम से, पुकारते हैं। पर ऐसे उदाहरणो की कमी नही जिनमे राजा लगभग सदा अपने विरुदो से ही पुकारे जाते रहे हैं। इस प्रकार, मान्यखेत के राष्ट्रकूट कुल के गोविन्द तृतीय का पुत्र अब तक के सब लेख्यो (documents) मे अपने विरुद, अमोघवर्ष, के नाम से ही मिलता है। अपने पुरालेखो के प्रणेता के बारे मे तो हमारे पास अधिक पुष्ट प्रमाण हैं। क्योकि कम से कम एक अभिलेख मे उसका निजी नाम, अशोक, दिया हुआ है।

अपने अधिकतर पुरालेखो मे अशोक अपने आपको 'देवानाम्प्रिय प्रियदर्शी राजा' कहकर अभिहित करता है। यह राजा का पूरा अभिधान (appellation) है। पर कभी-कभी इस अभिधान के एक या अधिक अश का विलोप करके इसे सक्षिप्त कर दिया जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अशोक को देवानाम्प्रिय प्रियदर्शी, प्रियदर्शी राजा, देवानाम्प्रिय राजा, या सिर्फ देवानाम्प्रिय[1] भी कहा गया है। अशोक के पूरे नाम का दूसरा भाग प्रियदर्शी है जिस पर हम अभी विचार कर चुके हैं। इसका शाब्दिक अर्थ है "प्रेम से

१. JRAS, १९०८, ४८२--३.

देखने वाला" और भावार्थ यह भी हो सकता है कि "सौम्य स्वरूप वाला"। उसने यह विरुद कब और क्यो धारण किया, यह हम नही जानते, पर यह निश्चित है कि वह इसे करीब-करीब अपने निजी नाम की ही तरह प्रयुक्त करता था। इसलिए अधिक अच्छा हो कि हम इसका अनुवाद न करे और इसे इसके मूल रूप मे ही रहने दे। यह ध्यान देने योग्य बात है कि यद्यपि अशोक सर्वोच्च शासक था पर वह अपने को सिर्फ 'राजा' शब्द से निर्दिष्ट करता है। 'महाराजा' और 'राजाधिराज' जैसी भारी-भरकम या आडम्बर-पूर्ण उपाधियाँ, जो अलग-अलग या मिलाकर प्रयुक्त की जाती है, अशोक के समय मे प्रचलित नही हुई थी। जो और भी अधिक ध्यान देने योग्य बात है वह यह कि वह अपने आपको 'देवानाम्प्रिय' कहता है, और आसानी से समझ मे आ सकता है कि व्याकरण के आधुनिक विद्यार्थी को इस पर क्यो हँसी आने लगेगी। क्योकि क्या सिद्धान्त-कौमुदी के रचयिता भट्टोजी दीक्षित, और अभिधान चिन्ता-मणि के प्रणेता हेमचन्द्र हमे यह नही बताते कि देवानाम्प्रिय का अर्थ 'मूर्ख' या 'मूढमति' है ? इसलिए उन्हे यह कुतूहल होना स्वाभाविक है कि अशोक का अपने आपको देवानाम्प्रिय कहने का क्या अभिप्राय है। पर यह ध्यान रहना चाहिए कि यद्यपि यह शब्द अब अप्रतिष्ठाकारी भाव रखता है, पर शुरू मे, और विशेष रूप से अशोक के समय मे, यह ऐसा नही था। हम जानते है कि पतञ्जलि इस शब्द को 'भवत्, दीर्घायुः' और 'आयुष्मत्' के साथ रखता है। इससे पता चलता है कि इन आदरसूचक शब्दो के समान देवा-नाम्प्रिय शब्द भी संबोधन या नामोल्लेख की शुभावह रीति के रूप मे प्रयुक्त किया जाता था। अब यदि हम शिला प्रज्ञापन ८ पर

ध्यान दे तो हम देखेंगे कि कुछ जगह जिसे 'देवानाम्प्रिय' कहा गया है, उसे ही और जगह 'राजानो' कहा गया है। इसका मतलब यह हुआ कि देवानाम्प्रिय, राजाओ को सम्बोधित करने की एक शुभावह रीति थी। और, वस्तुतः दीपवश[1] में तिस्स को देवानाम्प्रिय कहा गया है जो श्रीलका का शासक और अशोक का समकालीन था, और उस राजा का उल्लेख करने के लिए अनेक बार अकेले इस शब्द का प्रयोग किया गया है। अन्य पुरालेखीय अभिलेखो से भी यही निष्कर्ष निकलता है। इस प्रकार, नागार्जुनी पर्वत के गुफालेखो[2] मे देवानाम्प्रिय शब्द दशरथ नाम के एक राजा को निर्दिष्ट करने के लिए प्रयुक्त किया गया है, जिसे अशोक का पोता माना गया है। इसी तरह श्रीलका के एक पुरालेख में यह विरुद अन्य राजाओ के अतिरिक्त वकनासिकतिस्स, गजवहुक-गामिनी, और महल्लक-नाग[3] के साथ लगा हुआ है। इस प्रकार देवानाम्प्रिय, ईसाई काल से पहले, सिर्फ राजाओ के लिए सवोधन की शुभावह रीति या सादर उल्लेख को प्रकट करता था, और सम्भवतः इस विश्वास को सूचित करने के लिए प्रयुक्त किया जाता था कि राजाओ की रक्षा देवता करते हैं। इसलिए इस पद का अधिक अच्छा अनुवाद होगा "देवताओ का प्रिय"। इस प्रकार अशोक की पूरी राजकीय उपाधि थी : "राजा प्रियदर्शी, देवताओ का प्रिय।"

अशोक के बहुत सारे पुरालेख इस पदावलि से शुरु होते हैं : **देवानाम्प्रियो पियदसी राजा एवं आह,** "देवताओ का प्रिय राजा

१. XI, १४, १६, २०, २५ आदि।
२. IA, XX ३६४ और आगे।
३. EZ, १. ६० और आगे।

प्रियदर्शी ऐसा कहता है।" श्री सेनार्ट[1] ने, ठीक ही, इसकी तुलना उस पदावलि से की है, जिससे एकिमीनाइडो (Achaemenides)—डेरिअस से लेकर आर्टेजेक्सिस ओकस तक—की उद्घोषणाएँ (Proclamations) शुरू होती हैं। ऐसा एक उदाहरण है "थातीय दारयवौश क्षजाथिय" राजा डेरिअस ऐसा कहता है। दोनो जगह संबोधन का रूप अन्य पुरुष (third person) की पदावली से आरम्भ होता है, और जो बात विशेष ध्यान देने योग्य है वह यह कि इस पदावलि के तुरन्त बाद उत्तम पुरुष का प्रयोग किया गया है। निःसंदेह, अब कोई यह प्रतिपादन नही कर सकता कि अशोक ने इस सूत्र की, सीधे ईरान से, नकल कर ली, क्योकि वास्तव मे, हम जानते हैं कि यह राजसभा का एक आचार (Protocol) था जिसका कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र मे उल्लेख किया है और इसलिए जो अशोक के काल से पहले ही प्रचलित था।[2] पर हमे फ्रेंच विद्वान् के इस कथन से सहमत होने में कोई बाधा नही है कि भारतीयो ने ईरानी आचार ग्रहण कर लिया था, और इसका कारण यह था कि एकिमीनियनो ने उत्तर-पश्चिमी भारत को जीत लिया था और उस पर उनका शासन था।

अपने अभिलेखो मे अशोक जब कभी कोई गिनती देता है तब वह वर्षो की गणना अपने राज्याभिषेक के समय से करता है। इसके कारण विद्वान् लोग सिंहल की इस किंवदन्ती को सत्य मानने लगे हैं कि अशोक का अभिषेक उसके राज्यारोहण के चार वर्ष बाद हुआ। पर यह किंवदन्ती यह भी बताती है कि अशोक ने, अपने पिता की

१. IA, XX. २५५-६।
२ वही, XLVII ५१-२।

मृत्यु के वाद, अपने निन्यानवे भाइयो का वध करके सिहासन प्राप्त किया और सिर्फ एक सवसे छोटे भाई, तिष्य, को जीता छोडा। पर उसके शिलालेख इस वात का खडन करते हैं—इनमे उसके न केवल एक वल्कि कई भाइयो का उल्लेख है, जो जीवित हैं, और जो न केवल उसकी राजधानी पाटलिपुत्र मे है वल्कि उसके साम्राज्य के विभिन्न नगरो मे भी है। और यदि यह वात सिद्ध हो जाती है तो यह समझ मे नही आता कि उस किंवदन्ती के उस भाग को क्यो सत्य माना जाय जो उसका अभिषेक उसके राज्यारोहण के चार वर्ष वाद हुआ वताता है। असल मे यह वात जरा भी स्पष्ट नही कि यदि वह कुछ घटनाओ की तिथिगणना अपने राज्याभिषेक के समय से करता है तो इससे यह कैसे सिद्ध हुआ कि उसके राज्याभिषेक और राज्यारोहण के वीच कुछ समय का व्यवधान था। फिर, नागार्जुनी पर्वत की गुफाओ मे कम से कम तीन लेख ऐसे हैं जिन पर अशोक के पोते दशरथ के राज्याभिषेक के तुरन्त वाद से तिथि-गणना है। तो क्या यहाँ भी हम यह कल्पना करे कि क्योकि उन अभिलेखो मे, तिथिगणना मे दशरथ के अभिषेक का जिक्र है, इस-लिए अभिषेक और आरोहण एक ही समय मे नही हुए, और उन दोनो के मध्य कुछ व्यवधान अवश्य रहा होगा? इसलिए यह मानने के लिए कोई पुष्ट कारण नही है कि अशोक के राज्याभिषेक और राज्यारोहण के वीच चार वर्ष जैसा लम्वा व्यवधान रहा था।

प्रतीत होता है कि अशोक अपने अभिषेक की वार्षिक तिथि वन्दियो को मुक्त करके मनाया करता था। स्तम्भ प्रज्ञापन ५ के अन्त मे वह जो कुछ कहता है उससे यह अनुमान किया जा सकता है। उसमे वह कहता है कि "छब्बीस वर्ष पूर्व मेरा अभिषेक होने के

बाद की अवधि मे पच्चीस वार वन्दियो की मुक्ति हो चुकी है।" क्योकि छब्बीस वर्ष की अवधि मे पच्चीस वार वन्दी मुक्त किये गये थे, अत इसका यह अर्थ हुआ कि जव यह स्तम्भ प्रज्ञापन प्रख्यापित किया गया तव उसके शासन का छब्बीसवॉ वर्ष समाप्त नही हुआ था। इस तरह इससे पता चलता है कि अपने जीवन के प्रसगो के लिए वह जो तिथियॉ निर्दिष्ट करता है वे चालू शासनीय वर्ष हैं; वे समाप्त वर्ष नही हैं जैसा कि विद्वानो ने मान लिया है।

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र मे विधान किया है कि राजा को कुछ विशेप दिनो पर खस्सी करने और पशु भ्रूण (Animal Foetus) को नप्ट करने पर पावन्दी लगानी चाहिए। इनमें राजा और देश के नक्षत्र वाले दिन भी शामिल हैं। स्तम्भ प्रज्ञापन ५ मे अशोक ने खस्सी करने और दागने की चर्चा की है और उन दिनो का निर्देश किया है जिन पर उसने इन दोनो कार्यो का निपेध किया है। वड़ी विलक्षण वात है कि इनमे से अधिकतर दिन कौटिल्य द्वारा वताये गये दिनो से मेल खाते है। और जो ध्यान देने की वात है वह यह कि उसमे वह सिर्फ दो नक्षत्र दिनो, अर्थात् तिप्य और पुनर्वसु, का नामोल्लेख करता है। वहुत सभाव्यत, इनमे से एक राजा का नक्षत्र है और दूसरा देश का। तो यह प्रश्न पैदा होता है कि कौनसा नक्षत्र देश का है और कौनसा राजा का ? यह ध्यान देने की वात है कि तिप्य नक्षत्र का उल्लेख धौलि और जौगडा के दो पृथक् प्रज्ञापनो मे भी है। हम जानते हैं कि अशोक के ये प्रज्ञापन नये जीते हुए कलिग प्रान्त के अवसरो के उद्वोधन और कर्त्तव्य-निर्देशन के लिए थे, और वह यह आदेश जारी करता है कि उनके लाभ के लिए ये प्रज्ञापन प्रत्येक तिप्य नक्षत्र वाले दिन पढकर सुनाये जायेगे।

स्पष्ट है कि इन दो नक्षत्रो मे से तिष्य को पुनर्वसु की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया गया है। यह बात इस तथ्य से भी दिखाई देती है कि यद्यपि नक्षत्रो की साधारण सूची मे तिष्य, पुनर्वसु के बाद आता है, पर स्तम्भ प्रज्ञापन ५ में यह न केवल एक बार, वल्कि दो बार, पुनर्वसु से पहले रखा गया है। वलात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि क्योंकि तिष्य को इतना अधिक महत्त्व दिया गया है, अतः यह अवश्य ही राजा का नक्षत्र होगा। यदि यह अनुमान सही है तो पुनर्वसु देश का नक्षत्र हुआ, जिससे हमारा खयाल है, हमे मगध देश समझना चाहिए।

अशोक के प्रज्ञापन उसके धम्म के विषय मे, और धम्म के प्रचार के लिए उसने जो साधन अपनाये उन साधनो के विषय मे हैं। इसलिए स्वभावतः वे उसके बौद्ध वन जाने के बाद के जीवन और कार्य पर वहुत अधिक प्रकाश डालते हैं। पर यहाँ हम यह देखने का यत्न करेगे कि ये अभिलेख उसके आरम्भिक जीवन के बारे मे, उसके निजी और सार्वजनिक दोनों ही क्षेत्रो मे, क्या थोडी-बहुत वात वताते हैं। हम पहले ही देख चुके हैं कि उसके कई भाई और बहने थी जो उसके शासन के तेरहवे वर्ष तक जीवित थी, और वे न केवल पाटलिपुत्र मे वल्कि अन्य नगरो मे भी रह रही थी। निःसदेह, अशोक का अपना अवरोधन,-या स्त्रियो के रहने का बन्द स्थान, था। उसकी वास्तव मे कितनी रानियाँ थी, यह हमे नही मालूम। पर उसकी कम से कम दो रानियाँ थी, क्योकि उसके एक शिलालेख मे उसकी दूसरी रानी का निर्देश है। और यह तथ्य ही कि उसे द्वितीय रानी कहा गया है, प्रकट करता है कि उसके समय मे रानियो का पक्तिक्रम निर्धारित हो चुका था। इस द्वितीय रानी

कर देती है कि अशोक के अवरोधन मे रानियो के अतिरिक्त स्त्रियाँ भी थी, और उसका सारा अवरोधन पाटलिपुत्र मे ही नही था, इस के कुछ सदस्य अन्य नगरो मे भी रहते थे। उसी स्तम्भ प्रज्ञापन मे और राजकीय अन्त पुर के दान की व्यवस्था करने के ही सिलसिले मे अशोक अपने पुत्रों और अन्य देवीकुमारो का उल्लेख करता है। इस तरह वह अपने पुत्रों और देवीकुमारो मे भेद करता है। ये अन्य देवीकुमार कौन हो सकते हैं ? बहुत सभाव्यतः अशोक यहाँ अपनी देवियो अर्थात् रानियो के पुत्रो की चर्चा नही कर रहा बल्कि अपने पिता की रानियो के पुत्रो की अर्थात् अपने अ-सहोदर भाइयो की चर्चा कर रहा है। हम नही जानते कि अशोक के कितने पुत्र थे। पर उसके कम से कम चार पुत्र अवश्य रहे होगे। प्राचीन काल मे यह प्रथा थी कि राजा यथासभव अपने पुत्रो को दूरवर्ती प्रान्तो मे अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजता था। ऐसे चार कुमारो का उल्लेख हमे इन पुरालेखीय अभिलेखो मे मिलता है—ये चार कुमार चार प्रदेशो—तक्षशिला, उज्जयिनी, सुवर्णनगरी और तोसली—मे राज-प्रतिनिधि थे। अगले अध्याय मे हम देखेगे कि इन चार प्रदेशो मे कौन-कौनसे प्रान्त थे। यहाँ तो हमे सिर्फ यह बात देखनी है कि अशोक के कम से कम चार पुत्र थे। सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि अशोक का परिवार बहुत बड़ा था। उसके कई भाई-बहन थे जो न केवल पाटलिपुत्र मे बल्कि पाटलिपुत्र से बाहर, साम्राज्य के अन्य भागो मे भी रहते थे। उनमे से कुछ तो निश्चित रूप से उसके सहोदर भाई थे, पर कुछ ऐसे भी थे जो उसके पिता ही से, अन्य माताओ के उत्पन्न पुत्र थे। अशोक का अवरोधन, अर्थात् महिलाओ के रहने का सुरक्षित स्थान, उसकी राजधानी ही मे न

था वल्कि और प्रान्तों मे भी था। उसमे सिर्फ उसकी रानियाँ ही न रहती थी, वल्कि वे स्त्रियाँ भी रहती थी जिनके साथ उसका सम्बन्ध था। उसकी कम से कम दो रानियाँ थी, जिनमे से एक का नाम कारुवाकी था, और कम से कम चार पुत्र थे। पर यह निर्धारण करना कठिन है कि कारुवाकी का पुत्र तीवर भी इन चार में ही था या नही।

अशोक के निजी जीवन के विषय मे हमे वहुत कम जानकारी है। उसके अभिलेख इस पर वहुत कम प्रकाश डालते हैं। पर शिला प्रज्ञापन ६ मे एक मनोरजक वाक्य आता है। इस प्रज्ञापन मे यह वर्णन है कि अशोक कितनी वार और कहाँ-कहाँ राज्य करता था। इसमे वह कहता है कि मैंने सव स्थानो पर और सव समय राज-कार्य करने की व्यवस्था की है, जैसा मुझ से पहले किसी राजा ने नही किया। इसलिए स्वभावत वह वताता है कि वह पहले कहाँ-कहाँ अपना समय गुजारा करता था जहाँ अव राज-कार्य करेगा। वह कहता है, "मैंने यह प्रवन्ध किया है कि प्रत्येक समय और प्रत्येक स्थान पर चाहे मैं भोजन करता होऊँ, चाहे अन्त.पुर मे होऊँ, चाहे भीतर के कमरे (गर्भागार) मे, चाहे पशुशाला (वज) मे, चाहे अश्वपृष्ठ (विनीत) पर और चाहे वागीचे मे होऊँ सव जगह प्रतिवेदक (शाही पेशकार) प्रजा के वारे मे मुझे सूचना दे सकते हैं।" इसलिए स्पष्ट है कि जव अशोक के पास कोई काम न होता था, तव वह, सोने के समय के अतिरिक्त और समय, अपनी राजधानी मे या तो अपने अन्त पुर की स्त्रियो के साथ भोजनालय मे होता, या अपने शयनागार मे गपशप करता, या राजकीय अश्वशाला का निरीक्षण करता और घुड़सवारी का आनन्द लेता, या उद्यानो मे

सैर-सपाटा करता था। इनमे से, या उसकी विशेष रुचि और आकर्षण की कौन-कौनसी चीजे थी, यह हमे कुछ नही मालूम, पर हम इतना जानते है कि उसकी रसना को कौनसा भोजन तृप्त करता था। जब वह जीव-हत्या को रोकने के कार्यक्रम का बडी कठोरता से पालन कर रहा था तब भी उसने अपने भोजन के बारे मे कुछ छूट कर रखी थी। अपने शिला प्रज्ञापन १ मे वह कहता है, "पर जिस समय यह लेख लिखवाया गया, केवल तीन जीव, दो मोर और एक हरिण, मारे जाते हैं, इनमे हरिण रोज नही मारा जाता। ये तीन जीव भी भविष्य मे नही मारे जायेगे।" इसमे अशोक यह स्वीकार करता है कि यद्यपि मैंने अन्य सब जीवो की हत्या रोक दी है, पर अपने भोजन के लिए मोर और हरिण मारने की इजाजत दे रखी है। और उसके इस कथन से मेरे भोजन के लिए प्रतिदिन मारा जाने वाला प्राणी मोर है, हरिण नही, प्रतीत होता है कि उसे मोर का बहुत शौक था। इस सिलसिले मे यह बात भी ध्यान रखने योग्य है जो बुद्धघोष ने अपनी सयुक्त निकाय की टीका मे लिखी है। "सीमावर्ती प्रान्तो के लोगो को 'गद्दुप्पाद' बड़े स्वादिष्ट लगते हैं पर मध्यदेश वाले उनसे घृणा करते हैं। मध्य-देश वालो को मोर का मास पसन्द है। पर और लोग इससे घृणा करते हैं।"[1] इसलिए यदि अशोक, जो मध्यदेश का निवासी था, बहुत दिनो तक मोर का मास खाना नही छोड सका, तो इसमे कोई आश्चर्य की बात नही। परन्तु इस बात मे कोई सन्देह नही रहना चाहिए कि अन्त मे उसने मोर का मास खाना भी छोड दिया, जैसा कि अपने

---

१. सारत्थप्पकासिनी, बुद्धघोष द्वारा लिखित और १८९८ मे थेर विमल-बुद्धि द्वारा श्रीलका मे प्रकाशित, पृष्ठ १०५ और आगे।

प्रज्ञापन मे वचन दिया था, और वह कट्टर निरामिपभोजी हो गया।

एक और लेख मे हमे अशोक के निजी जीवन की एक और झाँकी मिलती है। शिला प्रज्ञापन ८ मे वताया गया है कि वहुत पुराने समय से राजा लोग विहार-यात्राये किया करते थे जिनमें वे शिकार तथा इसी प्रकार के दूसरे कार्य से अपना मनोविनोद करते थे, पर अशोक ने अपने अभिपेक के दसवे वर्प से, जव उसने वुद्ध के बोध-प्राप्ति के स्थान, सवोधि, की यात्रा की थी, विहार-यात्राओ के स्थान पर धर्म-यात्राये शुरू कर दी हैं। यहाँ अशोक जो वात प्रकट करना चाहता है वह यह है कि दसवे वर्प से पहले मैं भी और राजाओ की तरह विहार-यात्राएँ किया करता था और उनमे तरह-तरह के आनन्द-विनोद करता था, जिनमे मुख्य विनोद मृगया या शिकार था। परन्तु इस विहार-यात्रा के विपय मे हम कोई स्पष्ट कल्पना नही कर सकते क्योंकि इसके वारे मे न तो अशोक हमे विस्तार से कुछ वताता है और न साहित्य के ही किसी ग्रन्थ से इसका कोई विवरण प्राप्त होता है। महाभारत के आश्रम-वासिक पर्व मे तो विहार-यात्रा का अवश्य उल्लेख है—इन यात्राओ की व्यवस्था युधिष्ठिर ने धृतराष्ट्र के लिये की थी ताकि वह अपने सौ पुत्रो की मृत्यु के शोक को भूल सके—परन्तु उसमे सिर्फ एक श्लोक है जो यह वताता है कि विहार-यात्रा मे क्या-क्या होता था। उसमे कहा गया है कि "इन यात्राओ मे आरलिक (जादूगर ?), भोजन वनाने मे निपुण लोग, और राग तथा पाडव गाने वाले धृतराष्ट्र का उसी तरह अनुरजन करते थे जैसे नगर मे।"[1] इस तरह धृतराष्ट्र की

---

[1] १. १. १८।

विहार-यात्रा मे संगीत, स्वादिष्ट भोजन और जादूगरो के खेल ही थे। इसमे शिकार का उल्लेख नही है, क्योकि धृतराष्ट्र जैसे बूढ़े और अधे आदमी को शिकार मे आनन्द मिलने की आशा नही की जा सकती। पर अशोक सिर्फ शिकार की चर्चा करता है और विहार-यात्रा के प्रसग मे और किसी मनोरजन का उल्लेख नही करता। इससे प्रतीत है कि उसके समय मे विहार-यात्रा का मुख्य अग शिकार ही था। वस्तुत राजा लोग शिकार इतना अधिक खेलते थे कि हिन्दू राजशास्त्र (Politics) के कुछ प्राचीन लेखको ने इसे बुरा कार्य बताया है और इससे दूर रहने की प्रेरणा की है। उदाहरण के लिए पिशुन ने शिकार को बुरा बताया है क्योकि शिकार मे डाकुओ का, शत्रुओ का, हिंसक पशुओ का और दावानल का खतरा है, तथा ठोकर खाने और दिग्भ्रान्ति होने का भय रहता है, इत्यादि। इसके विपरीत, कौटिल्य ने इसकी उपादेयता पर बल दिया है क्योकि उसके अनुसार, शिकार से व्यायाम होता है, चर्बी और पित्त घट जाते हैं, खडे और भागते हुए प्राणियो पर निशाना मारने का अभ्यास होता है, और पशुओ के मनोविकारो का, तथा उनके क्रुद्ध होने पर उनकी गतिविधि मे होने वाले परिवर्तनो का ज्ञान होता है। हम जानते हैं कि इनमे से कुछ बातो की चर्चा का कालिदास ने अभिज्ञान शाकुतल के दूसरे अक मे की है, जबकि दुष्यन्त से शिकार की प्रशसा करायी गयी है। कवि ने नाटक के पहले दो अको मे शिकार का एक अच्छा चित्र भी प्रस्तुत किया है, राजा के शिकार का वर्णन मेगास्थनीज ने भी किया है जो अशोक का लगभग समकालीन था। उसने लिखा है कि "राजा जिन प्रयोजनो के लिए प्रासाद से बाहर जाता है उनमे से एक है शिकार

को जाना। इसके शिकार के जाने के समय बड़ा आनन्दोत्सव होता है—चारो ओर से वह स्त्रियो से घिरा होता है और इस घेरे के बाहर भाले लिये हुए सैनिक कतार बाँधे खड़े होते हैं। सड़क के दोनो ओर रस्से बँधे रहते हैं और इन रस्सो के भीतर आने वाले को—चाहे वह स्त्री हो, चाहे पुरुष—मौत की सजा दी जाती है। ढोल और शख बजाते हुए लोग जलूस के आगे-आगे चलते हैं। राजा घेरो के अन्दर शिकार करता है और एक ऊँचे स्थान पर खड़ा होकर बाण चलाता है। उसके पास दो या तीन सशस्त्र युवतियाँ खड़ी रहती हैं। अगर वह खुले मैदान मे शिकार खेलता है तो हाथी पर बैठकर बाण चलाता है। युवतियो मे से कुछ रथो मे, कुछ घोड़ो पर, कुछ हाथियो पर सवार होती हैं और वे सब तरह के शस्त्रो से ऐसी सज्जित होती हैं कि मानो किसी दुश्मन पर चढाई करने जा रही हो।"[१] शाकुन्तल मे भी दुष्यन्त की शिकार-यात्रा का वर्णन ऐसा ही है कि जैसे यह कोई चढाई हो और राजा के साथ धनुर्धारिणी यवन स्त्रियो के रहने का भी उल्लेख है। यह माना जा सकता है कि अशोक भी अपने आरम्भिक जीवन मे, अपने सम-कालीन या पूर्ववर्ती राजाओ की तरह शिकार का आनन्द लेता होगा पर बाद मे उसके मन पर पशु-जीवन की पवित्रता की अमिट छाप पड़ गयी और उसकी आत्मा इस प्रकार के मनोरजन से पीछे हट गयी, और उसने शिकार तथा ऐसे सब विनोद त्याग दिये जिनमे क्रूरता या जीव-हत्या होती थी।

अब हम यह विचार करेंगे कि बौद्ध धर्म का कट्टर विचारक बनने से पहले अशोक का राजकीय रूप क्या था। उसके इस रूप के

१. IA, VI, १३२.

बारे मे बहुत कम बाते ज्ञात हैं और जो कुछ थोडा-बहुत ज्ञात भी है वह शिला प्रज्ञापन १ से ज्ञात होता है। इससे पता चलता है कि अन्य सब राजाओ की तरह अशोक भी अपने प्रजाजनो को दावते दिया करता था और उनका मनोरंजन किया करता था—सभाव्यतः अपनी प्रजा को प्रसन्न और सन्तुष्ट रखने के लिए यह उसकी कूट-नीतिक चाल थी। सार्वजनिक मनोरजन की एक रीति यह थी कि वह समाज कराता था। समाज दो प्रकार का होता था। एक मे जनता को स्वादिष्ट भोजन कराया जाता था जिसमे मास का सबसे प्रमुख स्थान होता था। दूसरे मे नृत्य, सगीत, मल्लयुद्ध तथा अन्य कला-प्रदर्शनो का आयोजन होता था। स्पष्टत पहले प्रकार का समाज मिल-जुलकर खाने-पीने का एक आयोजन था। दूसरे प्रकार का समाज का ध्येय जनता का मनोरजन था, और इस अर्थ मे समाज, **रंग** तथा **प्रेक्षागार** या नाटकघर का पर्यायवाचक था, और कभी-कभी इस शब्द से, वहाँ एकत्र 'जनसमूह' भी सूचित होता था। ब्राह्मण और बौद्ध साहित्य मे प्रयुक्त 'समाज' शब्द के सब उदाहरणो से यही पता चलता है कि समाज जनता की रसना या आँख और कान को तृप्त करने के लिए होते थे। इसमे कोई सन्देह नही कि भारत के प्राचीन नरेश समाजो का आयोजन करते रहते थे। इस प्रकार कटक के हाथी गुफा शिलालेख से पता चलता है कि कलिग का राजा खारवेल अपने नगरवासियो के विनोद के लिए उत्सव और समाजो का आयोजन करता था। नासिक के एक गुफा-लेख मे भी दक्षिण के एक राजा गौतमीपुत्र शातकर्णी के बारे मे ठीक बात यही कही गयी है। और स्वय कौटिल्य ने भी यह विधान किया है कि अपने देश या धर्म के समाज, उत्सव या विहार मे जनता का जो अनुराग है उसका

राजा को अनुकरण करना चाहिए।"[१] मालूम होता है कि अशोक दोनों प्रकार के समाज कराता था। पर जब उसने धर्म का प्रचार शुरू किया, तब स्वभावत उसने वे समाज निषिद्ध कर दिये जिनमे मास खिलाने के लिए पशुओ की हत्या की जाती थी, जैसा कि शिला प्रज्ञापन १ से अनुमान होता है। और समाजो मे उसके लिए कोई आपत्तिजनक बात न थी, इसलिए उन्हे जारी रखा परन्तु सार्वजनिक प्रदर्शनो का रूप थोडा-सा परिवर्तित कर दिया। नि सन्देह उसने ऐसे दृश्यो की व्यवस्था की होगी जिनसे जनता का न केवल मनोरजन हो बल्कि उसमे धर्म की उत्पत्ति, विकास और प्रचार हो। ये दृश्य क्या थे, यह हम आगे चलकर देखेगे।

उसी दिशा मे एक और कदम उठाने के लिए, उसे राज्य सम्बन्धी कारणो से भी प्रेरणा मिली होगी। उसी अधिवेशन में अशोक कहता है कि इस प्रज्ञापन के प्रख्यापन से पहले राजकीय रसोईघर मे लाखो जीव मारे जाते थे। यह ठीक वैसा ही है जैसा महाभारत के वन पर्व मे है जिसमे बताया गया है कि रन्तिदेव नामक राजा के रसोईघर मे प्रतिदिन दो हजार पशु और दो हजार गौएँ मारी जाती थी, और अपने प्रजाजनो को मास बाँटकर उसने अतुल कीर्ति उपार्जित की। और वास्तव मे, सैकडो आदमियो को प्रतिदिन भोजन वितरित करने का नियम भारत की देशी रियासतो मे आज भी प्रचलित है। रन्तिदेव की तरह अशोक भी अपनी प्रजा मे मास वितरित किया करता होगा और ऐसा करने मे उसका लक्ष्य भी ठीक वही रहा होगा, अर्थात् प्रजा का प्रिय बनना। परन्तु जब उसका अन्त करण जागृत हुआ और उसने धम्म का प्रचार आरम्भ

१. अर्थशास्त्र, पृ० ४०७।

किया तब उसने इस भीषण जीवनाश को बन्द कर दिया ।

इस प्रकार हमने अशोक का, बौद्ध धर्म ग्रहण करने से पहले का, व्यक्तिगत और राजकीय रूप देख लिया । जो चित्र हमारे सामने आया है वह उतना स्पप्ट और पूर्ण तो नही है जितना हम चाहते हैं परन्तु हमे एक ऐसा स्वरूप प्राप्त हो गया जो विश्वासयोग्य है और जो सिर्फ किवदतियो पर आधारित नही है। हम जानते हैं कि उसका परिवार कैसा था, उसकी व्यक्तिगत अभिरुचि और पसन्द क्या थी, अपने नित्य के राज-कार्य से मुक्त होने पर वह किन कार्यो मे व्यस्त रहता था । हम यह भी जानते हैं कि राजा के रूप मे उसने क्या-क्या उपाधि धारण की थी, उसने राजा के रूप मे अपना जीवन कैसे प्रारभ किया, और अपनी प्रजा के मनोरजन के लिए और उसका अनुराग प्राप्त करने के लिए वह क्या-क्या किया करता था । वह अपने अभिषेक का वार्षिक उत्सव भी कारागारो से बन्दियो को मुक्त करके मनाया करता था । उसके बौद्ध होने से पहले, अर्थात् उसके अभिषेक के आठवे वर्ष के बाद तक, जबकि उसने कलिग को जीता, राजा के रूप मे उसके बारे मे हम इतना ही जानते हैं । उसके राज्य-काल का आरम्भिक भाग घटनाशून्य था या उसमे उसने ऐसी विजय की या नही, यह हम नही जानते । उसके राज्य-काल की सबसे पहली घटना, जिसका शिलालेखो मे उल्लेख मिलता है, उसकी कलिग-विजय है—कलिग मोटे तौर से बगाल की खाडी के तट के उस भू-भाग का नाम था जो वैतरणी और लागूलिया नदियो के बीच मे है। उसने युद्ध की भयानकता और कष्टो का सजीव वर्णन किया है । वह कहता है, "१,५०,००० आदमी क़ैदी बनाये गये, १,००,००० मौत के घाट उतारे गये और इससे कई गुने मर गये ।" ये सख्याएँ

सिर्फ कलिग के वारे मे हैं और इनमे अशोक की सेना के हताहतों की सख्या नही है। इस प्रकार हम देखते है कि कलिग-जैसे छोटे-से प्रान्त मे भी १,००,००० व्यक्ति खेत रहे, कई गुने घावो और भुखमरी के शिकार हो गये, और सवसे वडी वात यह कि १,५०,००० व्यक्ति दासो के रूप मे कैद कर लिये गये। निश्चय ही कलिग-जैसे जरा से प्रदेश के लिए ये सख्याएँ वड़ी भयकर है और इनसे पता चलता है कि उस प्राचीन काल मे भी जव विनाशक शस्त्र इतने राक्षसी और घातक न थे जितने आज हैं, युद्ध कितनी भयकर वस्तु था। इस युद्ध के शीघ्र वाद अशोक वौद्ध हो गया और उसने धम्म का प्रचार आरम्भ कर दिया। इस युद्ध की स्मृति ने उसमे अत्यधिक और सच्चा पश्चात्ताप पैदा कर दिया। वह कहता है कि जव कोई नया प्रदेश जीता जाता है तव हत्या, मृत्यु और कैदी अवश्यभावी हें। यह वडे दु ख की वात है। पर इससे भी अधिक खेदजनक वात यह है कि जो लोग मरते हैं, मारे जाते हैं या कैदी वनाये जाते हैं, उनमे से वहुत सारे ऐसे होगे, जिनकी धम्म मे निष्ठा थी, और कि यदि इन आदमियो पर फिर ऐसा सकट आया तो वह उनके मित्रो, परिचितो और सम्वन्धियो पर, जो स्वय तो सुरक्षित हैं पर उनसे अनन्य प्रेम करते हैं, मुसीवत और कष्ट का पहाड ढा देगा। "सव आदमियो की यही गति है और देवानाम्प्रिय इसे खेदजनक समझता है।" यह भाषा वैयक्तिक अनुभूति से ओत-प्रोत है, और ये शिलाएँ इतने युगो वाद भी एक पश्चात्तापी आत्मा के क्रदन को मुखरित कर रही हें। इसमे कुछ सदेह नही कि यह सच्चा पश्चात्ताप था। क्योकि जव यह प्रज्ञापन जारी किया गया तव वह उस देश मे धम्म के सरक्षण, जिज्ञासा और शिक्षण का आरम्भ कर

चुका था। जब कोई नया प्रदेश जीता जाता है और अभी अस्थिर दशा मे होता है, तब उस देश मे प्रशासन और शातिस्थापन के लिए नियुक्त अधिकारी बहुत बार न्याय और दया की सीमा का अतिक्रमण कर जाते है। उसके अधिकारियो ने भी ऐसे अतिक्रमण किये थे और उसके एक शिलालेख से हम जानते हैं कि उसने उनसे कितना कठोर व्यवहार किया और भविष्य मे ज्यादतियों को रोकने के लिए क्या-क्या कदम उठाए। इतना ही नही युद्ध का अमानवीय और अन्यायपूर्ण रूप उसके दिमाग मे इतना चक्कर काटता रहता था कि उसे कलिग देश में यह प्रज्ञापन खुदवाने में लज्जा अनुभव हुई। कलिग मे उसके शिला प्रज्ञापन दो स्थानो पर उत्कीर्ण हैं। उसकी विजय का वर्णन करने वाला प्रज्ञापन अन्य सब स्थानो पर तो अन्य शिला प्रज्ञापनो के साथ खोदा गया है, लेकिन कलिग मे प्राप्त हुई प्रतियो मे सिर्फ यह एक प्रज्ञापन छोड दिया गया है। इससे अधिक पश्चात्ताप और लज्जा की भावना क्या हो सकती है ?

करीब-करीब निश्चय से कहा जा सकता है कि अशोक ने इनके बाद और कोई विजय नही की। परन्तु अपने विशाल साम्राज्य के होते हुए भी उसने कलिग को क्यो जीता और अपने अधीन किया, यह रहस्य कुछ समझ मे नही आता। अगले अध्याय में हम देखेंगे कि उसका साम्राज्य कितना विस्तृत था और वह कितनी विपुल सत्ता का अधीश्वर था।

अध्याय २

अशोक का साम्राज्य और प्रशासन

इस अध्याय मे हम भरसक यह पता लगाने का यत्न करेंगे कि अशोक का साम्राज्य कहाँ-कहाँ तक फैला हुआ था और यह जानने का यत्न करेगे कि उसकी सत्ता और प्रभुत्व किस क्षेत्र मे था। और इसके वाद हम विचार करेंगे कि वह अपने राज्य मे कैसे प्रशासन करता था, और क्या उसने अपने प्रशासन मे कोई नयी वाते जारी की। इन दोनो वातो की जाँच, हम मुख्यत, उसके लेखो के साक्ष्य से ही करेंगे। इनमे से पहले प्रश्न के वारे मे, अर्थात् उसके राज्य के विस्तार के विषय मे, हमें अन्तरग साक्ष्य (internal evidence) और वहिरग साक्ष्य दोनो, विचार के लिए उपलब्ध हैं। वहिरग साक्ष्य तो वह है जो उसके स्मारको के प्राप्ति-स्थानो से मिलता है। हमारे लिए इनमें से सवसे महत्त्वपूर्ण लेख शिला प्रज्ञापन हैं क्योकि वे इस देश की सीमाओ पर मिले हैं। अव हम पूर्व से शुरू करके पश्चिम की ओर चलेंगे। उसके चौदह शिला प्रज्ञापनो की दो प्रतियाँ वगाल की खाडी के पास, उसके राज्य-क्षेत्र के दक्षिण-पूर्वी भाग मे मिली हैं। इनमे से उत्तर वाली प्रति उडीसा के पुरी जिले मे, भुवनेश्वर से लगभग सात मील दूर, धौलि नामक गाँव मे है। दक्षिण वाली प्रति मद्रास प्रान्त के गजाम जिले मे जौगडा कस्वे मे अवस्थित है। शिला प्रज्ञापनो के ये दोनो रूप नये जीते गये कलिंग प्रान्त मे खोदे

गये थे, यह कलिग ही, जो भारत के सबसे अधिक दक्षिण-पूर्वी भाग मे था, अशोक के साम्राज्य की सबसे अधिक दक्षिण-पूर्वी सीमा बनाता होगा। उत्तर की ओर आने पर हम देखते हैं कि अशोक के शिला-प्रज्ञापनो की एक तीसरी प्रति देहरादून जिले मे कालसी गाँव के पास मिलती है। पश्चिम की ओर चलने पर हमे दो रूप मिलते हैं, जो दोनो उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त मे पाये जाते हैं। इनमे से एक ऐबटाबाद से पन्द्रह मील उत्तर मे, मानसेरा (जिला हजारा) मे खोदा गया है और दूसरा पेशावर जिले मे, पेशावर से चालीस मील उत्तर-पूर्व मे शाह-बाजगढी मे उत्कीर्ण हैं। यहाँ से दक्षिण की ओर चले और पश्चिमी तट पर पहुँच जाएँ तो हमे एक प्रति काठियावाड मे जूनागढ के पास मिलती है और एक दूसरी प्रति बम्बई से लगभग सैंतीस मील उत्तर मे, थाना जिले के सोपारा स्थान पर प्राप्त होती है। अशोक के साम्राज्य की दक्षिणी सीमा पर इन चौदह शिला प्रज्ञापनो मे से एक भी नही मिला, और वास्तव मे, बहुत दिनो तक इसके साम्राज्य के दक्षिणी सीमान्त पर इसका एक भी स्मारक विद्यमान होने का पता नही चला था। पर १९०३ मे, श्री लुइस राइस के यत्न से, गौण शिला प्रज्ञापनो की (चौदह शिला प्रज्ञापनो की नही) तीन प्रतियाँ उत्तरी मैसूर के चित्तलदुर्ग जिले मे, एक-दूसरे के आस-पास, तीन स्थानो पर मिली। इन शिला प्रज्ञापनो से, जिनके प्राप्ति-स्थानो का उल्लेख हमने अभी किया है, हमे अशोक के राज्य-क्षेत्र के विपुल विस्तार की काफी यथार्थ धारणा हो जाती है। अब हम यह देखेंगे कि इन अभिलेखो मे जो कुछ लिखा हुआ है वह हमे इस विषय मे क्या बताता है। दूसरे शब्दो मे, अब हमे यह देखना है कि बहिरग साक्ष्य अतरग-

साक्ष्य से कहाँ तक मेल खाता है।

कम-से-कम दो प्रज्ञापनो (शि० प्र० २ और १३) मे अशोक अपने समकालीन राजाओ का उल्लेख करता है। इनमें से जो भारत के बाहर शासन कर रहे थे उनमे यवन राजा अतियोक और उससे परली ओर, चार राजा—तुरमाय, अतेकिन, मग और अलिक-सुन्दर—थे। अशोक के साम्राज्य के दक्षिण मे, हर भारत मे ही, चोड़, पाड्य, केरल पुत्र, सातियपुत्र और तवपनि थे। फिर यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि दो स्थानो पर (शि० प्र० ५ और १३), अशोक अपने वहिर्वर्ती प्रान्तो का उल्लेख करता है। वे हैं योन, कवोज, गधार, रास्तिक-पेतेनिक, भोज-पेतेनिक, नाभक, नाभपति, आध्र और पुलिद। शिला प्रज्ञापन १३ मे एक पदावलि के गलत पढ लिये जाने तथा गलत अर्थ कर लिये जाने के कारण वहुत दिनो तक वे सव के सव हिंद-राजा या अशोक के राज्य के सामतीय सरदार माने जाते रहे। पर इस प्रज्ञापन के गिरनार वाले लेख के एक नष्टाश की पुनः प्राप्ति से यह अर्थ गलत सिद्ध होता है। और हमें ये नाम उन पराधीन जातियो के मानने पडते हैं जो अशोक के साम्राज्य के सीमात प्रदेशो मे वसी हुई थी। यह परमावश्यक है कि पहले इन प्रदेशो की, और वाद मे उन राज्य-क्षेत्रो की जिन पर भारत मे उसके स्वाधीन पड़ौसियो का शासन था, सीमाएँ तय कर ली जाएँ।

योन कौन थे ? वे निश्चित रूप से ग्रीक थे। पर उनका स्थान कहाँ तय किया जाय ? यहाँ यह वात ध्यान देने योग्य है कि वे अशोक के साम्राज्य का हिस्सा थे और इसलिए उनका उसके ग्रीक

१ CL, १६२१, पृ० २५ और आगे।

पडौसियो के राज्यक्षेत्र से कोई वास्ता नही था। इस योन प्रान्त को, जो अशोक के शासन के अधीन था, अब तक सतोपजनक रूप से नही पहचाना जा सका। पर मैंने एक और स्थान पर सिद्ध किया है कि भारत उत्तर-पश्चिमी सीमा पर, पूर्व-सिकन्दर काल का एक ग्रीक उपनिवेश था और यह कोफेन और सिन्धु नदियो के बीच मे बसा हुआ था। मेरा अब भी यही विचार है। शिला प्रज्ञापन १३ मे अशोक कहता है कि मेरे साम्राज्य मे यवनो के प्रदेश के अलावा और कोई ऐसा स्थान नही जहाँ ब्राह्मण, सघ और श्रमण सघ न हो। इसका यह अर्थ हुआ कि यवन प्रान्त ही एक ऐसा स्थान था जहाँ हिन्दू आर्य सभ्यता का प्रसार नही हुआ था। भारत के एक पडौसी क्षेत्र मे यह बात तभी सभव हो सकती है जब यह माना जाय कि इसमे यवन लोग रहते थे और इसलिए वहाँ सिर्फ हैलैनिक सभ्यता फैली हुई थी। फिर, यदि ग्रीको से भारतीयो का पहला परिचय सिकन्दर महान् ही के समय हुआ होता तो उनकी किसी और नाम से प्रसिद्ध होती, यवन (आयोनियन) नाम से कभी न होती, क्योकि सिकन्दर के साथ जो ग्रीक आये थे वे आयोनियन नही थे। आयोनिया मे ही ग्रीको की व्यापारिक उन्नति सबसे पहले और अधिक हुई थी। बहुत दूर-दूर के प्रदेशो मे सबसे पहले आयोनियनों ने ही कदम रखा।[1] आयोनियो ने भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर कोई उपनिवेश, वस्तुत बसाया था, यह बात सदिग्ध है। पर इसमे कोई सन्देह नही कि आयोनियनो की साहसपूर्ण भावना के कारण ईरानियो ने सब ग्रीको के लिए एक प्रजातीय शब्द (generic word) यौन, बनाया। और भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर

१. EB, XII; XIV. ७३०।

बसाये गए उपनिवेश को, चाहे उसे बसाने आयोनियन थे या कोई और ग्रीक थे, ईरानियो के पडौसी भारतवासियोने इसी कारण यौन कहना शुरू कर दिया होगा। वही शब्द सस्कृत मे यवन है जो पालि मे योन है, और यौन का पर्यायवाचक है। पर यौन शब्द का उल्लेख भी सस्कृत साहित्य मे मिलता है, और विलक्षण बात यह है कि यह, कम से कम एक बार, महाभारत[1] मे कबोज और गधार के साथ उसी क्रम मे लिखा हुआ है जिस क्रम मे अशोक के शिला प्रज्ञापन ५ मे है। यदि मेरा यह विचार सही है कि योनो का स्थान कही सिन्धु और कोफेन के बीच मे था, तो वह प्राचीन स्थान जिसके खड हर शाहबाजगढी के पास मिले है (शाहबाजगढी मे अशोक के शिला प्रज्ञापन का एक पाठ मिला है), और जिसे ह्वेन्साग ने पो-लु-शा कहा है, अशोक के बहिर्वर्त्ती प्रान्त का मुख्यालय (हैडक्वार्टर) हो जाता है। और कबोज को इस योन प्रान्त के कही आस-पास रखना होगा। महाभारत मे उत्तर-पश्चिम के प्रसिद्ध योद्धाओ के रूप मे यवनो के साथ ही कबोजो का उल्लेख किया गया है और द्रोणपर्व[2] मे उनकी राजधानी राजपुर का भी उल्लेख है। यदि यह राजपुर वही है जिसे ह्वेन्त्सांग[3] ने हो-लो-शे-पु-लो कहा है और यदि हो-लो-शे-पु-लो को कनिगहम[4] ने कश्मीर के दक्षिण मे स्थित राजौरी के रूप

१. XII, २०७ ४३; इसकी ओर सबसे पहले डा० एच० सी० रायचौधुरी ने अपनी पुस्तक "अर्ली हिस्ट्री आफ दि वैष्णव सैक्ट" पृष्ठ १७, मे ध्यान खीचा।

२. ४.५; इस निर्देश के लिए मै डा० रायचौधुरी का ऋणी हूँ।

३. बील, १ १६३; मैटर्स, L २८४।

४. Ancient Geography of India; पृ. १२९।

मे ठीक पहचाना है तो हम कबोज का स्थान कुछ निश्चय के साथ निर्धारित कर सकते हैं। यह राजौरी के चारो ओर का प्रान्त रहा होगा, जिसमे उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त का हजारा जिला भी शामिल होगा और शायद मानसेरा (मनसहरा) के समीप ही, जहाँ अशोक के चौदह शिला प्रज्ञापनो की एक प्रति मिली है, एक सब-डिवीजन का मुख्यालय होगा। इस प्रकार कबोज प्रान्त योन को छूना होगा, और यह दोनो गधार को छूते होगे जिसकी राजधानी अशोक के समय मे तक्षशिला थी, जहाँ राजप्रतिनिधि के रूप मे एक राजकुमार रहता था, जैसा कि हम और आगे चलकर देखेगे।

श्री सेनार्ट की यह कल्पना सही मालूम होती है कि शिला प्रज्ञापन १३ मे बहिर्वर्त्ती प्रान्तो की गणना एक निश्चित क्रम मे की गयी है। इसलिए नाभक के नाभपंतियो की खोज योन-कबोजो और भोज-पेतनिको के बीच मे, अर्थात् उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त और भारत के पश्चिमी तट के बीच मे किसी जगह, करनी चाहिए। इससे बूलर[1] का यह सुझाव कमजोर पड जाता है कि अशोक के प्रज्ञापन का नाभक शब्द नाभिकपुर होगा जिसे ब्रह्मवैवर्त्त पुराण उत्तर कुरु या किसी हिमालय-पार प्रदेश मे बताता है। और किसी अन्य विद्वान् ने कोई नया सुझाव नही प्रस्तुत किया। दक्षिण की ओर चलने पर हम देखते हैं कि शिला प्रज्ञापन १३ मे भोज-पैतनिक का उल्लेख है जो शिला प्रज्ञापन ५ के रास्तिक-पेतनिक का सवादी (Corresponding) है। विद्वान् लोग अब तक पेतनिक को रास्तिक और भोज दोनो से अलग करते रहे हैं और इसे एक अलग जाति 'पैठ' का वाचक मानते रहे हैं। पर यह गलती है। नि सदेह पेठनिक

1 Beitrage Zur Erklasung der Asoka-Inschrifte, पृ० ११८।

जैसे शब्द को प्रतिष्ठान (पैठन) से व्युत्पादित करना सम्भव है। पर इस शब्द का अर्थ 'पैठ के निवासी' हो सकता है, यह शब्द कंबोज या गंधार जैसे किसी कबीले का वाचक नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त, पेठनिक मे मूर्धन्य 'ठ' है और पेतनिक मे दंत्य 'त'। इस तरह पेतनिक पेठनिक का सूचक नही हो सकता जैसा कि सबसे पहले बूलर ने सही तौर से बताया था। फिर, जैसा कि मैं अन्यत्र प्रदर्शित कर चुका हूँ[1], 'रट्ठिक पेत्तनिक' पदावलि अंगुत्तर निकाय में उस शासक को सूचित करने के लिए प्रयुक्त हुई हैं जिसका दर्जा निचला, राजा से ठीक पिछला है, और टिप्पणीकार ने व्याख्या करते हुए पेत्तनिक उसे बताया है "जिसके पास मौरूसी सम्पत्ति हो।" इसलिए अशोक के लेखो मे प्रयुक्त रास्टिक-पेतनिक को एक शब्द मानना चाहिए, जो "किसी राष्ट्र या प्रान्त के आनुवंशिक (यानी मौरूसी) शासक का वाचक है, चाहे शुरू में उस शासक का पूर्वज किसी राजा द्वारा नियुक्त राज्यपाल ही रहा हो। प्राचीन भारत मे ऐसे कितने ही शासक हुए होगे। परन्तु शिला प्रज्ञापन ५ मे उल्लिखित शासको को हमे कही पश्चिमी तट पर तलाश करना है क्योंकि वहाँ उन्हे अपरान्तों—पश्चिमी तट के लोगो—मे रखा गया है। स्वभावत ये वही माने जाएँगे जो पश्चिमी भारत के गुफा लेखो मे महारठी कहे गये हैं—ये छोटे शासक मालूम होते हैं, जिनका पूना और महाराष्ट्र के आस-पास वाले जिलो पर अधिकार था। इन लेखो मे महाभोजो का भी छोटे शासको के रूप मे, तथा बंबई प्रान्त के वर्त्तमान थाना और कोलाबा जिलो के अधिपति के रूप मे उल्लेख है। वे निश्चित रूप से वही होगे जो

१. I. A. १९१९, पृ० ८०।

शिला प्रज्ञापन १३ के भोज-पेतनिक हैं, और ये अपरान्त की कोई और जाति थे जिसका उल्लेख शिला प्रज्ञापन ५ मे ध्वनित होता है। प्राचीन काल मे अपरान्त की राजधानी शूरपारक (आजकल का सोपारा जो थाना जिले मे है) थी, जहाँ चौदह शिला प्रज्ञापनो की एक प्रति भी मिली है।

कृष्णा और गोदावरी जिलो के बीच के प्रदेश को आजकल आंध्र देश, अर्थात् आंध्रो का देश, कहते हैं। पर यह स्पष्ट नही है कि क्या आंध्रों का मूल स्थान यही था? एक बौद्ध जातक मे आंध्रपुर (आंध्रो की राजधानी) नामक एक स्थान का जिक्र है और यह तेलवाहा नदी पर बताया गया है। मैंने अन्यत्र यह सुझाव प्रस्तुत किया है कि तेलवाहा आजकल की तेल या तेलिंगिरि नदियों मे से है जो एक दूसरी के आस-पास मद्रास और मध्य प्रदेश की सांझी सीमा पर बहती हैं।[1] इससे कुछ हद तक यह सिद्ध होता है कि आरम्भिक काल मे आंध्र देश मे जयपुर और मद्रास प्रान्त के विशाखापटनम जिले का कुछ भाग तथा मद्रास की सीमा से लगे हुए मद्रास के कुछ जिले सम्मिलित होगे। और यह जरा भी असभव नही कि निजाम राज्य के दक्षिणी भाग, और वर्त्तमान तैलगाना के संवादी कृष्णा और गोदावरी जिले भी इसके अन्तर्गत रहे हो। मेगास्थनीज़ ने आंध्र देश की उस समय की आबादी और सैनिक शक्ति का वर्णन किया है जिस समय वह मौर्यवंश के अधीन नही हुआ था। इससे हम पर यह प्रभाव पड़ता है, जैसा कि वी० ए० स्मिथ[2] ने ठीक ही कहा है कि आंध्र राष्ट्र की सैनिक शक्ति "इस

१. वही, १६१८, पृ० ७१।
२ EHI, पृ० २०६।

कारण विख्यात थी कि वह प्रासी के राजा चन्द्रगुप्त मौर्य की ही सैनिक शक्ति से दूसरे नम्बर पर थी।" इससे स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाता है कि आंध्र देश बहुत विस्तृत क्षेत्र रहा होगा और दक्षिण मे कृष्णा के मुहाने तक गया हुआ होगा। हम आगे चलकर देखेंगे कि इसका, स्वतन्त्र चोल राज्य की अत्यन्त सभावित उत्तरी सीमाओं से भी, मेल बैठता है। अब हमे पुलिदो का स्थान तय करना है। यह सत्य है कि पुलिद किसी एक जिले तक सीमित नही थे बल्कि उनके अनेक अलग-अलग प्रान्तो मे होने का उल्लेख है। पर शिला प्रज्ञापन १३ मे उन्हें आंध्रो के साथ रखा गया है जिससे पता चलता है कि हमे उनका स्थान आंध्रों के कही उत्तर या उत्तर-पूर्व मे मानना होगा। वायु पुराण मे पुलिदो की दक्षिणी शाखा को विंध्य-मूलीय अर्थात् विंध्याचल की तलहटी के निवासियो[1] के साथ रखा गया है, और सभापर्व[2] मे उनकी राजधानी पुलिदनगर बतायी गयी है और उनका राज्य चेदि देश से लगा हुआ कहा गया है। इस प्रकार अशोक के पुलिदो का बहुत सभावित स्थान मध्य प्रदेश का जबलपुर जिला हुआ जिसके अन्तर्गत रूपनाथ भी है जहां उसके गौण शिला प्रज्ञापनो की एक प्रति प्राप्त हुई है।

अशोक के शिला प्रज्ञापनो की विलक्षणता यह है कि वे उसके राज्य के सीमान्तो पर या उनके आस-पास मिलते हैं। पर उसमे इतना अन्तर है कि चौदह शिला प्रज्ञापन तो बहिर्वर्त्ती प्रान्तो की राजधानियो मे उत्कीर्ण किये गये हैं, पर गौण शिला प्रज्ञापन अधिकतर

१. मार्कण्डेय पुराण, अनुवादक एफ. ई. पार्जीटर, पृ० ८३५ और टिप्पणियां।

२. २९. II.

उन स्थानो पर हैं, जो उसके राज्यक्षेत्र को उसके स्वतन्त्र या अर्द्ध-स्वतन्त्र पड़ौसियो के प्रदेशो से पृथक् करते है। यह तो हमे असदिग्ध रूप से पता है कि धौलि और जौगडा, जहाँ चौदह शिला प्रज्ञापनो की अधिकतम दक्षिण-पूर्व वाली प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं, एक वहिर्वर्त्ती प्रान्त की राजधानी, तोसाली, को और इसके सब-डिवीज़न के मुख्यालय, समापा, को निरूपित करते हैं। इन प्रज्ञापनो का एक तीसरा पाठ जूनागढ मे मिला है जिसे प्राचीन काल मे गिरिनगर करते थे, यह सौराष्ट्र की राजधानी था, और सत्रप राजा रुद्रदामन के शिलालेख से हम जानते हैं कि यह द्वितीय शताब्दी ई० पू० के मध्य तक राजधानी रहा। हम देख चुके हैं कि एक चौथी प्रति बवई के पास सोपारा मे मिली है, और कि यह सोपारा अपरात का मुख्य नगर था। जब कम से कम चार पाठ प्राचीन प्राती की तीन राजधानियो मे मिले हो, तब यह कल्पना करना असगत नही कि शेप प्रतियाँ भी सीमान्त जिलो के मुख्य नगरो मे उत्कीर्ण की गयी होगी। इनमे से शाहवाजगढी, उपर्युक्त कारणो से, योन प्रान्त का मुख्य नगर प्रतीत होता है। और यदि निकट भविष्य मे कालसी और मनसेरा के बारे मे यह ज्ञात हो कि वे अशोक के राज्य के बहिर्वर्त्ती प्रान्तो के मुख्य नगर थे तो हमे आश्चर्य न होना चाहिए। गौण शिला प्रज्ञापनो के प्राप्ति-स्थानो की स्थिति कुछ भिन्न है—इनमे से अधिकाश घने जगलो के बीच मे पाये गये हैं जहाँ आस-पास कोई प्राचीन अवशेप नही। इसके सिर्फ दो अपवाद हैं, अर्थात् बैराट और मस्की। बैराट विराटपुर या मत्स्य देश के राजा विराट की राजधानी था। मस्की को उसके चालुक्यकालीन अभिलेखो मे पिरियमासगी कहा गया है। अन्य सब स्थानो पर ऐसा प्रतीत होता है कि ये शिलालेख अशोक राज्य को स्वतन्त्र तथा अर्द्ध-स्वतन्त्र राज्यो

से पृथक् करने वाली सीमा रेखा के आस-पास थे। गौण शिला प्रज्ञापन १ मे अशोक विस्तार से प्रतिपादन करता है कि यदि जनता का आध्यात्मिक उत्कर्ष करना है तो प्रबल प्रयत्न करना परमावश्यक है, और हमे बताता है कि मैं थोडे समय के भीतर भी बहुत कुछ कर सका हूँ। और वह इस महत्त्वपूर्ण तथ्य का दो उद्देश्यो से उल्लेख करता है—पहला तो यह कि उसके, छोटे-बड़े सब अफसर, प्रजा के आध्यात्मिक लाभ के लिए प्रयत्न करें, और दूसरा यह कि अंतो, या सीमावर्ती राज्यो के शासको को भी इसका ज्ञान हो जाए, सभाव्यतः इसलिए ताकि वे भी इसी ध्येय से अपने अफसरो को प्रयत्न करने के लिए प्रेरित करे। अपने अफसरो को इस दिशा मे यत्नशील रखने के लिए, अशोक का इन प्रज्ञापनो को उत्कीर्ण कराना अनावश्यक था। अपने सब आदेशो के अनुसार यह आदेश भी उसने उचित मार्ग से उन तक पहुँचा दिया होगा। इस प्रकार गौण शिला प्रज्ञापन उसके स्वाधीन पडोसियों की जानकारी के लिए, उनकी राजधानियो मे अथवा उनके और अशोक के राज्य के सांझे सीमान्त पर उत्कीर्ण कराये गये थे। यह बात तब बिलकुल स्पष्ट हो जायगी जब हम यह विचार करेगे कि ये अंत, अर्थात् सीमावर्ती राज्यो के शासक कौन थे।

ऊपर यह बताया गया है कि शिला प्रज्ञापन २ और १३ मे उन अंतों की सख्या गिनायी गयी है जिसके साथ उसके स्वाधीनता और समता के संबध थे। उनको दो समूहो मे बाँटा जाता है—एक वे जिनके राज्य भारत मे थे और दूसरे वे जिनके राज्य भारत से बाहर थे। पहले समूह मे, जैसे कि हम ऊपर देख चुके है, चोड़, पाड्य, केरलपुत्र, सातियपुत्र, और तबपन्नि राजा थे। प्रथम तो यह ध्यान देने की बात है कि चोड और पाड्य बहुवचन मे प्रयुक्त हुए है

जवकि सातियपुत्र और केरलपुत्र एक वचन मे। इसी तथ्य से कि पिछले दोनो का उल्लेख एक वचन मे किया गया है, यह भी स्पष्ट है कि यहाँ अशोक जातियो की चर्चा नही कर रहा, उनके शासको की चुर्चा कर रहा है। इसलिए जव वह वैयक्तिक शासको की चर्चा कर रहा है और वहुवचन मे चोडो तथा पाड्यो का उल्लेख करता है तव एकमात्र तर्कसगत अनुमान यही हो सकता है कि अशोक के समय मे, एक से अधिक चोड और एक से अधिक पाड्य राजा थे। इन चार नामो मे से तीन के राज्य-क्षेत्र, टालेमी और पेरिप्लस के प्रणेता द्वारा प्रस्तुत सामग्री के आधार पर, पहचान लिये गये हैं। पर इस वात पर ध्यान नही दिया गया कि टालेमी एक के वजाय दो चोड राज्यो का उल्लेख करता है। पहले का मुख्य नगर "ओरथौर" था "जो सोरनागोस की राजधानी था" और सोरतई[1] के अन्तर्गत था। आसानी से पहचाना जा सकता है कि सोरनागोस और सोरतई मे जो सोर शव्द है वह तमिल भाषा का सोर या चोड़ है। और सोर-नागोस नाम से स्पष्ट प्रकट होता है कि जिस राजा की राजधानी ओरथौर थी वह नाग कवीले का था, पर वह सोर (चोड) कहलाता था क्योकि वह सोरतई (चोडत्रा) का शासक था। कनिंगहम ने वताया है कि त्रिचनापल्लि के निकट उरैयूर नामक स्थान ही ओर-थौर है। इसलिए यह दक्षिणी चोड राज्य था। उत्तरी चोड़ राज्य के स्थान का सकेत टालेमी के इस कथन से मिलता है कि वैट्टिगो पर्वत और एडीसैथ्रोस पर्वत के वीच मे सौरई यायावर (Nomads) हैं जो "एर्केटोस की राजधानी सोर"[2] मे रहते हैं। "एर्केटोस की राज-धानी सोर" शव्द "सोर की राजधानी एर्केटोस" के स्थान पर भूल से

१. IA, VIII, ३६८।
२. वही, पृष्ठ ३६२।

लिखे गये समझे जाते हैं। काल्डवेल के अनुसार एर्कटोस आरकाटस का आरकाड (अर्काट) है। वहाँ सम्भवतः कोई लोग भी यायावर नही थे—आर्यों ने आदिमजातियो के प्रति अपनी घृणा प्रकट करने के लिए उन्हे यायावर कहा, और इसी तरह उनका नाम भी चोड़ (सोड) या "चोर"[1] रखा। इस प्रकार चोड राज्य दो थे जिनकी राजधानियाँ ओरथुर (उरैयूर) और एर्कटोस (अर्काट) में थीं। पाड्यो को टालेमी ने "पाण्डिओइ" लिखा है और "मोदौरा" को "राजधानी" बताया है। यह मोदौरा निश्चित रूप से मद्रास प्रान्त का मदुरा नगर है। टालेमी के अनुसार, पाड्य देश दक्षिण में तिन्ने-वेली तक और उत्तर मे कोटब्द्र दर्रे की आस-पास की उच्चभूमियों तक फैला हुआ था। यह सत्य है कि टालेमी ने दो चोड राज्यो की तरह दो पाड्य राज्यो का उल्लेख नही किया। पर इसका यह अभि-प्राय होना आवश्यक नही कि अशोक के काल मे दो पाड्य राज्य न थे। छठी शताब्दी ई० पू० तक मे वराहमिहिर उत्तर पाड्यो[2] का उल्लेख करता है जिससे प्रकट होता है कि उसके समय मे दो, उत्तरी और दक्षिणी, पाड्य राज्य थे। सम्भवतः यही अवस्था तब रही होगी जब अशोक ने अपने प्रज्ञापन जारी किये। जो हो, यदि जरा देर के लिए यह मान भी लिया जाए कि उसके समय मे सिर्फ एक पाड्य राज्य था तो उस प्रदेश का कुछ पता नही लगता जो अब मैसूर राज्य कहलाता है। दूसरी ओर, यदि एक उत्तरी पाड्य राज्य अस्तित्व मान लिया जाय तो इस स्थान का बड़ा सुन्दर समाधान हो जाता है। शेष दो दक्षिणी राज्य केरलपुत्त हैं। पिछले पुत्त शब्द से हमे इसके प्राकृत रूप स्रोत (संस्कृत-पुत्र) का ध्यान आ जाता है

१ CL, १९०८, पृष्ठ ८-९।

२ बृहत्संहिता XVI, १०

जो भार्मलोत, भुचरोत, वालोत आदि शब्दो मे है और जो वैसा ही है जैसा इग्लिश मे रावर्टसन, स्टिवेनसन आदि कुछ नामो का पिछला अश 'सन' (पुत्र) है।[1] इसलिए यह प्रतीत होता है कि केरल (चेर) और सातिय नामक कबीले पहले उत्तर भारत मे रहते थे, जहाँ से प्रव्रजन करके वे दक्षिण चले गये और वहाँ उन्होने अपने उपनिवेश स्थापित कर लिये जो, कम से कम आरम्भिक काल मे, केरल और सातिय के बजाय केरलपुत्त और सातियपुत्त नाम से प्रसिद्ध थे। आजकल भी ऐसे उदाहरणो की कमी नही है जिनमे प्रान्तो के नाम किसी प्रव्रजित जाति के नाम पर पड गये है और उस जाति का नाम उसके मूल कबीले के नाम से निकला हुआ है।[2] केरल (चेर) और सातिय के मामले मे भी यही बात हुई होगी। ऐतरेय आरण्यक[3] से पता चलता है कि चेरो की बस्ती मगध से बहुत दूर नही थी। ये सभाव्यत जिला मिर्जापुर (उत्तर प्रदेश) के चेरो थे, और मलाबार मे बसने से पहले वे दक्षिण की ओर गये थे, इस बात का सकेत ढोयिक[4] के पवनदूत मे आये इस उल्लेख से मिलता है कि केरल ययातिनगर मे थे—यह ययातिनगर आजकल मध्य प्रदेश के पूर्वी भाग मे सोनपुर के पास एक छोटे कस्बे के रूप मे पहचाना गया है।[5]

---

१. JASB, १६०६, पृ० १६८ और टि० ४।

२. पश्चिमी राजस्थान मे सेखावाटी और वीडावाटी भूभागो का नाम शेखावट और वीडावट के नामो पर पडा है और ये दोनो शेखा और वीडा के वशज थे।

३ II. १. १।

४. JASR, १६०५, पृ० ४४।

५. EI. XI, १८६ डिस्क्रिप्टिव लिस्ट्स आफ इन्स्क्रिप्शन्स इन दि सी० पी० एड बरार, ले० रायबहादुर हीरालाल, पृ० ६५ और टिप्पणियाँ।

इसी प्रकार क्या मूल सातिय लोग वही नहीं हो सकते जिन्हें मेगास्थनीज ने सेटी कहा है तथा उत्तर में बताया है,[1] और जिनका विष्णु पुराण[2] और भीष्म पर्व[3] में उल्लेख है पर वह सर्तीय या सर्नीय शब्दों से है? दक्षिण भारत में उनका उपनिवेश कहां बसा, यह निश्चित नहीं। टालेमी और पेरिप्लस के प्रणेता ने दक्षिण भारत के बारे में जो सामग्री प्रस्तुत की है उसकी विवेचनात्मक समीक्षा से शायद कुछ पता चल सके। वे दक्षिण भारत में चार देश बताते हैं—लिमीराइक, एइग्रोइ, पाण्डिग्रोनि और सोरताई। पिछले दो के बारे में हम देख चुके हैं कि वे क्रमशः पाण्ड्य और चोड़ देश हैं। लमीराइक दमीर-ग्राइक का तुल्यवाचक समझा जाता है, पर उसका अधिकांश केरलपुत्त के अधीन था। पर एइग्रोइ क्या है? जैसे कभी-कभी सैंड्रोकोट्टोस के स्थान पर एण्ड्रोकोट्टोस और सबिरिया के स्थान पर अबिरिया लिखा जाता है, क्या वैसे एइग्रोइ सैइग्रोइ (=सातिय) हो सकता है? यदि यह अटकल नहीं है तो सातिय-पुत्त का राज्य आधुनिक तिरुवाकुर होगा। क्योंकि दमीर-ग्राइक केरलपुत्त के अधीन था, इसलिए दक्षिण कनारा, कोडगू (कुर्ग), मलाबार, तथा मैसूर का उत्तर-पश्चिमी भाग, और शायद तिरुवाकुर का सबसे अधिक उत्तर की ओर का भाग भी केरलपुत्त की ओर के राज्य में शामिल होंगे। पेरिप्लस के प्रणेता के समय मौजिरिस (=मुयुरि कोडु) या आधुनिक क्रांगानूर[4] केरलपुत्त की राजधानी था, जो टालेमी के लिखने के समय करौर, अर्थात् कोरुवूर

१. IA, VI, ३३६।

२. VP, (विलसन), II, १८०।

३ पर्व ६, श्लोक ६३।

४ IA, VIII, पृ० १४५।

जिले मे कावेरी नदी के किनारे कारूर स्थान पर था।[1] अशोक द्वारा निर्दिष्ट दक्षिणी राज्यो की ठीक-ठीक सीमाएँ निश्चित करना तो सचमुच बडा कठिन है पर प्रतीत होता है कि वे सीमाएँ आपस मे, तथा उसके साम्राज्य की सीमाओ से, मैसूर के चित्तलदुर्ग जिले के उत्तर मे मिलती थी। क्योकि इसी जगह, जैसे कि हम देख चुके हैं, उसके गौण प्रज्ञापनो की तीन प्रतियाँ मिली हैं। यदि इस जगह दक्षिणी राज्य अशोक के प्रदेश को नही छूते तो उसका एक-दूसरे के इतने निकट तीन प्रतियाँ उत्कीर्ण कराने का क्या मतलब हो सकता था? ये राज्य, प्राय निश्चित रूप से, चोडो (उत्तरी) पाड्यों और केरलपुत्र के राज्य थे।

इस सिलसिले मे एक और जाति या देश पर ध्यान देने की आवश्यकता है जिसकी चर्चा अशोक ने शिला प्रज्ञापन १३ मे की है। इस देश का नाम अटवो या आटव्य है। इसके विषय में वह कहता है: "यदि कोई व्यक्ति अपकार करे तो उसे भी देवताओ का प्रिय यथासभव क्षमा करना चाहता है।[2] और देवताओ का प्रिय अपने साम्राज्य मे रहने वाले वनवासियो के प्रति समझौते की भावना प्रदर्शित करता है और उन्हे बुरे कार्यो से रुकने के लिए कहता है। देवनाम्प्रिय के पास शक्ति है यद्यपि वह अनुताप कर रहा है। (इसलिए) उनसे कहा जाता है कि "वे अपने बुरे कार्यो पर लज्जित हो जिनसे उनके जीवन का नाश न हो'।" इनसे यह प्रतीत होता है कि आटव्य या वनवासी लोग पूरी तरह से अशोक के आधीन

१. वही, XIII, ३६७–८।

२ इसकी तुलना 'ख' मिसति ने देदानापिये अफाका तिए चकिये खामिएवे' से करो जो अशोक ने धौलि और जौगडा के पृथक् प्रज्ञापनो मे अतो, यानी सीमान्तो, के शासको की प्रजाओ के विषय मे कहे है। (लेख, A पृष्ठ ८९-९०)

नही थे, वल्कि कुछ अंश तक स्वाधीन थे। अन्यथा यह कहने का कोई मतलब नही कि यद्यपि उन्होने मेरा अपकार किया है और यद्यपि मेरे पास उन्हें दण्डित करने की शक्ति है पर तो भी मैं उन्हे अपने पक्ष मे करने के लिए साम, यानी मैत्री, का मार्ग अपना रहा हूँ—इसमे कोई सन्देह नही कि उसने यह मार्ग इसी कारण अपनाया कि वह धम्म का कट्टर अनुयायी हो गया था। ये आटव्य कौन थे पुराण मे इनका उल्लेख पुलिदो, विध्यमूलीयो और वैदर्भो के साथ है। और एक ताम्र-पत्र मे एक परिव्राजक राजा हस्तिन को डभाला राज्य और अट्ठारह वन राज्यो (अटवी राज्यों) का स्वामी बताया गया है। डभाला डहाला का पुराना रूप होगा जो आधुनिक बुन्देलखड है। अटवी देश, जिसमे गुप्तकाल मे छोटे-छोटे कम-से कम अट्ठारह राज्य थे, बघेलखंड से लगाकर उडीसा मे करीब-करीब समुद्र-तट तक रहा होगा। और इससे इस बात की व्याख्या भी हो जाती है कि उसके गौण शिला प्रज्ञापनो की दो प्रतियाँ रूप-नाथ और सहसराम मे, जो अटवी देश के पूर्वी और पश्चिमी सीमातो पर थे, क्यो मिलती हैं। धौलि और जौगड़ा के पृथक् प्रज्ञापनो मे अशोक अपने राज्य कर्मचारियो को उद्बोधित करता है कि वे उसकी दया और प्रेम की नीति सीमावर्त्ती क्षेत्र के लोगो को बताएँ। उडीसा मे, स्वाधीन या अर्द्ध स्वाधीन अटवी देश के अलावा और कोई राज्य अशोक के साम्राज्य के सन्निकट नही हो सकता था।

इस प्रकार हमे अशोक के साम्राज्य के विस्तार की काफी परिशुद्ध धारणा हो जाती है। भारत के धुर दक्षिण के भाग को छोडकर, जिस पर चोड, पाड्य, सातियपुत्र और केरलपुत्र राजाओ का अधिकार था। सारा भारत उसके राज्य-क्षेत्र के अन्तर्गत था। यदि पूर्व मे मद्रास के पास पुलिकाट से उत्तर मे चित्तलदुर्ग तक,

जहाँ अशोक के गौण शिला प्रज्ञापनो की तीन प्रतियाँ मिली हैं, और फिर पश्चिम मे दक्षिण कनाड़ा जिले की उत्तरी नोक तक एक रेखा खीची जाए तो वह मोटे तौर पर इसकी दक्षिणी सीमा बन जाएगी।

आइए, अब हम यह देखे कि अशोक ने किन ग्रीक राजाओ को अपने समकालीन बताया है, और वे कौन थे। उन सबके नाम शिला प्रज्ञापन १३ मे हैं। इनमे सबसे पहले अतियोक का नाम है जो अशोक का पडौसी था। आगे वह कहता है कि अतियोक से परे चार राजा तुरमाय, अतेकिन या अतिकिनि, मग और अलिकसु (न्) दर राज्य करते हैं। अतियोक निश्चित रूप से सीरीया का राजा एंटियाकस द्वितीय थियोस (ई० पू० २६१–२४६) और तुरमाय मिश्र का टालेमी द्वितीय फिलाडेल्फोस है (ई० पू० २८५-२४७)। अतेकिन या अतिकिनि, जैसा बूलर ने कहा है, ग्रीक के एंटिगोनस[1] शब्द की अपेक्षा एंटिजीनस का अधिक सवादी है। पर क्योकि एंटिजीनस नाम के किसी राजा का पता नही चलता इसलिए अतेकिनि को मेसोडोनिया का एंटिगोनस गोनाटास (ई० पू० २७६-२३९) माना गया है। मग तो स्पष्टत सिरीन का मगस (ई० पू० लगभग ३००–लगभग २५०) है पर अलिकसुन्दर के बारे मे कुछ सशय है—कुछ लोगो का विचार है कि यह एपिरस का अलैग्जेडर (ई० पू० २७२—ल० २५५) था और कुछ का यह विचार है कि यह कोरिथ का अलैग्जेडर (ई० पू० २५२–ल० २४४)[2] था। शिला प्रज्ञापन २ में सिर्फ एंटियोकस का उल्लेख है, और अन्य राजाओ को उसके सामन्त यानी सीमावर्त्ती राजा

१. ZDMG, XL, १३७।

२ JRAS, १९१४, ९४५।

कहा गया है। इसमे कोई सन्देह नही कि इन ग्रीक राजाओ मे से सिर्फ एटियोकस के राज्य की सीमा अशोक के राज्य की सीमा से मिलती थी और हम यह भी जानते है कि चन्द्रगुप्त के समय से सेल्युकस और मौर्यो के राजवंशो मे मैत्री के सम्बन्ध तथा दूतों का आदान-प्रदान था। पर क्या अशोक अन्य ग्रीक राजाओ का भी मित्र था ? क्या उसका उन राजाओं से कोई राजनयिक समागम हुआ था ? अशोक के और उनके राज्यो के बीच मे बहुत अधिक दूरी रही होगी, और, प्रथमदृष्ट्या, यह सभाव्य नही प्रतीत होना कि भारत मे तथा सीरिया से परे ग्रीक राज्यो मे कोई राजनैतिक समागम रहा होगा। पर जहाँ तक शिला प्रज्ञापन १३ का सम्बन्ध है, इससे यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि वह इन ग्रीक शासको के दरबारो मे दूत भेजा करता था और सच तो यह है कि हमे पता है कि टालेमी फिलाडेल्फस ने, जो अशोक का समकालीन था, डायोनीसियोस नामक दूत मौर्य के दरबार मे भेजा था।

अशोक ने अपने समकालीन ग्रीक शासको का जो निर्देश किया है उसे, उसका समय परिशुद्ध रूप से निकालने के लिए की गयी गणना का आधार बनाया गया है। पर पहले तो, हमारी गणना का आधार अभिषेकोत्तर वर्षो की सख्या ही हो सकती है, क्योकि ग्रीक राजाओ का निर्देश या उल्लेख करने वाले प्रज्ञापनो मे उसका ही जिक्र मानना होगा। हम देख चुके है कि ये शिला प्रज्ञापन २ और १३ है। पर इन्हे किन अभिषेकोत्तर वर्षों का मानना चाहिए ? श्री सेनार्ट की राय है कि सारे के सारे शिला प्रज्ञापन अशोक के राज्य-काल (अर्थात् अभिषेकोत्तर काल) के चौदहवे वर्ष मे उत्कीर्ण कराये गए थे, और यूरोपीय विद्वानो ने इस विचार का समर्थन किया है। पर एक तरुण बगाली विद्वान ने इसकी तर्क-

सगतता पर आक्षेप किया है, और कुछ तर्क प्रस्तुत करके, जो प्रबल मालूम होते हैं, यह प्रदर्शित किया है कि कम से कम शिला प्रज्ञापन २ और १३ तो राज्य-काल के सत्ताईसवे वर्ष से पूर्व प्रख्यापित किए हुए नही हो सकते।[1] यदि यह मानले कि ये दोनो शिला प्रज्ञापन अट्ठाईसवे वर्ष मे प्रख्यापित किए गए तो यह समय उस वर्ष का सवादी होना चाहिए जिसमे वे पाँचो ग्रीक शासक जीवित थे। यदि शिला प्रज्ञापन १३ का अलिकसुन्दर एपिरस अलैग्जैंडर है तो यह वर्ष २७२ और २५५ के बीच मे पडेगा और यदि कोरिथ का अलेग्जैंडर है तो २५२ और २५० के बीच मे पडेगा। पिछली कल्पना अधिक सभाव्य है।[2] इस तरह यह मान सकते हैं कि अशोक के राज्य-काल का अट्ठाईसवाँ वर्ष २५१ ई० पू० मे बैठता है। यदि यह गणना सही है तो अशोक सभाव्यतः २७९ ई० पू० के लगभग अभिषिक्त हुआ। इस तरह की गणना का परिणाम चाहे जो हो, पर यह दो बातो पर आधारित है—एक तो शिला प्रज्ञापन २

१. अशोकाज धम्मलिपीज—लेखक हरित कृष्णदेव, एम० ए०। आपका यह मुख्य सकथन निम्न प्रकार है। स्तभ प्रज्ञापन ७ सत्ताईसवे वर्ष मे उत्कीर्ण कराया गया और सब लोग स्वीकार करते है कि यह उन सब विविध कार्यों का साराश है जो अशोक ने अपने धम्म के प्रचार के लिए उस वर्ष तक किए थे। ग्रीक राजाओ के प्रदेशो मे लोकोपकारी कार्य और धम्म का प्रचार करना ऐसी महत्त्वपूर्ण बाते है कि यदि अशोक को यह पता चल चुका होता कि विदेशो मे किए गए उन कार्यों मे कुछ सफलता हुई है तो वह इनका स्तभ प्रज्ञापन ७ मे निश्चय ही उल्लेख करता। इनकी चर्चा का अभाव अर्थपूर्ण है और प्रकट करता है कि शिला प्रज्ञापन २ और १३, स्तभ प्रज्ञापन ७, अर्थात् २७वे अभिषेकोत्तर वर्ष, से पहले प्रख्यापित किये गए नही हो सकते।

२. JRAS, १९१४, पृष्ठ ९४५।

और १३ का समय और दूसरे, शिला प्रज्ञापन १३ मे निर्दिष्ट अलिक-सुन्दर की पहचान। और क्योकि यह दोनो बाते थोडे-बहुत अनिश्चित प्रकार की है, इसलिए अशोक के राज्यारोहण की परि-शुद्ध तिथि निकाल सकना हमारे लिए सभव नही।

इस प्रकार हमे अशोक के राज्य के विस्तार की काफी अच्छी धारणा हो गयी। अब हम यह देखने का यत्न करेगे कि उनमे प्रशासन कैसे चलता था। मौर्य प्रशासन पद्धति का साधारण स्वरूप हमे कौटिल्य के अर्थशास्त्र से और मेगास्थनीज के वर्णनो से मालूम हो जाता है। परन्तु यहाँ हमारा उद्देश्य यह देखना है कि अशोक के लेख स्वय हमे इस बारे मे क्या बताते है। यह जाँच अनावश्यक न होगी, और निश्चय ही, इससे कुछ नयी, अब तक अज्ञात, बातो पर प्रकाश पडेगा।

अशोक का साम्राज्य बडा विस्तृत था, इसमे कोई सदेह नही हो सकता। इतने विस्तृत साम्राज्य को कोई अकेला व्यक्ति ठीक तरह नही सँभाल सकता, यह भी माना जा सकता है। इसलिए उसका साम्राज्य कई भागो मे बँटा हुआ होगा जो मुगलो के सूबो के सवादी होगे। और अशोक के लेखो से स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है कि उसके साम्राज्य मे प्रान्तीय शासन-प्रणाली प्रचलित थी। पर उसके समय मे, और गुप्त साम्राज्य के परवर्ती काल मे भी, प्रान्तीय गवर्नर (राज्यपाल) दो प्रकार के रहे प्रतीत होते हैं। जो प्रान्त राजनैतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थे और इसलिए जिनमे राजनिष्ठ तथा चातुर्यपूर्ण प्रशासन की आवश्यकता थी, उनका प्रबध राजवश के व्यक्तियो को सौंपा जाता था और वे कुमार कहलाते थे। प्रज्ञा-पनो मे ऐसे चार कुमार उपराजो या प्रतिनिधि-शासनो (Viceroyal-ty) का निर्देश है। एक कुमार गधार की राजधानी तक्षशिला मे

रहता था, क्योकि सीमाप्रान्त होने के कारण वहाँ सावधान और विश्वसनीय प्रशासक की आवश्यकता थी। एक दूसरा कुमार सुवर्ण-गिरि मे नियुक्त था जिसका स्थान अभी सतोषजनक रूप से निश्चित नही हो सका।[1] पर इसमे कोई सदेह नही हो सकता कि यह अधिक-तम दक्षिणवर्ती, और अत उस सीमावर्ती प्रान्त की राजधानी था जो चोल, पाड्य और केरलपुत्र राजाओ के स्वतन्त्र राज्यो को छूता था। एक तीसरा कुमार कलिग का अधिपति था और इसका मुख्यालय तोसली था, जो असदिग्ध रूप से धौलि है जहाँ शिला प्रज्ञापनो की एक श्रेणी प्राप्त हुई है। क्योकि यह एक नया जीता हुआ प्रान्त था इसलिए इसके प्रबन्ध के लिए एक विश्वस्त और सजग शासक की आवश्यकता थी और इसलिए इसे अवश्य ही एक कुमार उपराज (Viceroyalty) बना दिया गया होगा। एक और चौथा प्रान्त था जिसका शासन एक कुमार के अधीन था। यह वह प्रान्त था जिसकी राजधानी उज्जैन थी। न तो यह सीमाप्रान्त था और न नया जीता हुआ ही था, पर तो भी इसका राजनैतिक महत्त्व इतना अधिक रहा होगा कि इसका शासन राजवश के किसी व्यक्ति को सौपना आवश्यक था। पर अशोक के समय सिर्फ इतने ही राज्यपाल न रहे होगे। जैसे कुछ प्रान्तो मे कुमारो का शासन था वैसे ही अन्य प्रान्तो मे कुमारेतर व्यक्तियो, अर्थात् राजवश से असम्बन्धित व्यक्तियो, का शासन रहा होगा। यह तो सच है कि अशोक के लेखो से किसी ऐसे प्रान्तीय राज्यपाल का उदाहरण नही मिलता, पर इस तरह का एक उदाहरण रुद्रदामन के प्रसिद्ध जूनागढ लेख मे मिलता है। यह प्राचीन अभिलेख हमे बताता है कि सुराष्ट्र

---

[1] क्या यह प्रो० कृष्णस्वामी अय्यगार की प्रस्थापना के अनुसार जिला रायचूर (निजाम राज्य) मे स्थित कनकगिरि हो सकता है?

या काठियावाड प्रान्त मे चन्द्रगुप्त के समय वैश्य पुष्यगुप्त का शासन था और अशोक के समय यवन राजा तुशास्प का प्रशासन था। कोई राजा और विशेषकर यवन राजा प्रान्तीय गवर्नर कैसे हो सकता है, यह आश्चर्य करने की बात नही। यह स्थिति आमेर के राजा मानसिह की स्थिति से भिन्न नही है जिसे अकबर ने बगाल का शासक नियुक्त किया था। गुप्तकाल के बारे मे भी हम जानते हैं कि कुछ प्रान्तीय गवर्नरो को महाराजा कहा गया है।

दामोदरपुर ताम्रपत्र लेखो से यह स्पष्ट हो जाता है कि गुप्त-काल मे प्रत्येक प्रान्त मे, जो भुक्ति कहलाता था, एक से अधिक विषय या जिले होते थे, और जैसे प्रान्त का गवर्नर सम्राट् द्वारा नियुक्त किया जाता था वैसे ही विषय का शासक गवर्नर द्वारा नियुक्त किया जाता था। प्रादेशिक विभागो और उपविभागो के लिए अशोक के समय किन शब्दो का प्रयोग होता था, यह हमे नही मालूम, पर यह प्रतीत होता है कि जिले का शासक राजा द्वारा नियुक्त न होकर प्रान्त के अधिपति द्वारा नियुक्त होता था। गौण शिला प्रज्ञापनो की सिद्धपुर वाली प्रतियो से यह बात स्पष्ट मालूम होती है। इसमे अशोक इसला के महामात्रो को सीधे संबोधित न करके आर्यपुत्र या कुमार तथा उसके महामात्रो के द्वारा, जो दक्षिणी प्रान्त के अध्यक्ष थे जिसकी राजधानी सुवर्णगिरि थी, सबोधित करता है। इसका अभिप्राय यह है कि सुवर्णगिरि प्रान्त मे एक से अधिक जिले थे और कि इसला इनमे से एक जिले का मुख्यालय था और सिद्धपुर प्रज्ञापन इसी जिले मे अवस्थित थे। और फिर, यहाँ इसला के महामात्री को अशोक के आदेश सपरिषद् कुमार (Prince Royal in Council) की मार्फत भेजे गये हैं, सीधे नही, जैसे उदाहरण के लिए, कौशाबी और सारनाथ के महामात्रो को (सीधे)

भेजे गये हैं। अत. स्वभावतः वह निष्कर्ष निकालना पडता है कि प्रान्तीय गवर्नरो को कम-से-कम कुमारो को तो अवश्य ही, अपने जिलाधीश स्वय नियुक्त करने का अधिकार मिला हुआ था, जैसा कि गुप्त काल मे निश्चित रूप से था। यही स्थिति नये विजित कलिग प्रान्त के जिला नगर समापा के बारे मे प्रतीत होती है, जौगडा के पृथक् प्रज्ञापन मे सम्राट् समापा के महामात्रो को सीधे आदेश नही दे रहा, बल्कि वह कहता है कि ये उन तक पहुँचा दिये जायँ—अर्थात् तोसली मे अवस्थित सपरिपद् कुमार द्वारा पहुँचा दिये जायँ।

कुमार को अपने शासनाधीन प्रान्त मे पूर्ण स्वायत्तता थी या नही, यह सदिग्ध बात है। प्रतीत होता है कि उसे पूर्ण और अनियत्रित अधिकार नही था। यह बात इस तथ्य से कुछ-कुछ निश्चित ही है कि जहाँ कही अशोक स्थानिक प्रान्तीय सरकारो को सबोधित करता है वहाँ वह सिर्फ कुमार को सबोधित नही करता, परन्तु कुमार और उसके महामात्रो को मिलाकर कहता है, जैसे धौलि और जौगडा पृथक् प्रज्ञापनो मे है। इसी तरह, जब स्थानीय सरकार अपने क्षेत्र के जिला अधिकारियो को कोई आदेश देती है तो कुमार या आर्यपुत्र स्वय ये आदेश नही देता बल्कि आर्यपुत्र और उसके महामात्र ये आदेश देते हैं, जैसा कि सिद्धपुर के प्रज्ञापनो मे स्पष्ट दिखायी देता है। यह बिलकुल स्वाभाविक है, क्योकि यदि प्रान्त मे राजपुत्र की शक्ति सर्वथा अनियत्रित छोड दी जाए तो सदा यह खतरा है कि वह अपने आपको स्वतन्त्र राजा बना ले। इस प्रकार अशोक के समय मे स्थानीय कुमार शासन वस्तुत. सपरिषद् कुमार का शासन था।

शिला प्रज्ञापन ३ मे अशोक अफसरो की तीन श्रेणियाँ—प्रादेशिक, राजुक और युक्त—बताता है। डा० एफ० डब्ल्यू० टॉमस

ने सबसे पहले इस बात की ओर ध्यान खीचा कि युक्त शब्द कौटिल्य अर्थशास्त्र मे इस अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।[1] परन्तु उन्होने इसका अर्थ 'कोई भी अधीन कर्मचारी' लगाया है यद्यपि अर्थशास्त्र मे यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि युक्त किस प्रकार के अधिकारी को कहते थे। कौटिल्य ने युक्तो और उनके सहायको, उपयुक्तो, की चर्चा की है। पर उनके कर्त्तव्य एक ही प्रकार के थे और उनका वर्णन दो निरन्तर अध्यायो मे किया गया है जिसे पढने से यह निश्चित पता चला जाता है कि वे मुख्यत जिला अधिकारी थे, जो राजा की सपत्ति का प्रबन्ध करते थे, राजस्व वसूलते और सँभालते थे और उन्हे उस कार्य मे व्यय करने का अधिकार था जिसमे व्यय करने से राजस्व मे वृद्धि की सभावना हो। युक्तो के बारे मे डा० टॉमस ने मानव-धर्मशास्त्र से जो श्लोक उद्धृत किया है, उससे इस विचार की पुष्टि होती है। क्योकि मनु कहता है कि यदि खोयी हुई संपत्ति मिल जाए तो वह युक्तो के अधिकार मे रहे। इसलिए ये अधिकारी सब राजस्व और राजा की सपत्ति प्राप्त करते थे। यह विचित्र बात है कि युक्त और उपयुक्त शब्द बहुत बाद के समय तक चलते रहे। इस प्रकार राष्ट्रकूट राजा गोविद चतुर्थ, शाक ८५३ (ई० पू० ६३०) की एक सनद (grant) मे, अन्य अधिकारियो—राष्ट्रपति, ग्रामकूट और महत्तर—के साथ युक्तक और उपयुक्तक का उल्लेख किया गया है।[2] युक्त और उपयुक्त के स्थान पर कभी-कभी आयुक्त और विनियुक्त मिलता है। इस प्रकार समुद्रगुप्त के प्रयाग स्तम्भ लेख मे कहा गया है कि आयुक्त "उसके बाहुबल से

---

१ JRAS १९०९, ४६६—७, १९१४, ३८७-९१.

१. EI, VII, ३९-४०

जीते हुए अनेक राजाओ का धन वापस कर रहे हैं।"[१] बुद्धगुप्त[२] की एक ताम्रपत्र सनद मे भी आयुक्त का विषयपति या जिलाधीश के रूप मे उल्लेख है।

जहाँ तक प्रादेशिक का सबध है, डा० टॉमस का यह कथन सही मालूम होता है कि प्रादेशिक वही अफसर है जिसे अर्थशास्त्र मे प्रदेष्ट्री कहा गया है। उन्होने अर्थशास्त्र के कई स्थल इकट्ठे किये हैं जिनसे यह स्पष्ट प्रकट होता है कि प्रदेष्ट्री वह "अफसर था जिस पर राजस्व व मालगुजारी सग्रह और पुलिस की जिम्मेवारी थी[3]।" पर उसका कार्य सिर्फ इतना नही था, क्योकि दो स्थानो पर उसे धर्मस्थ कहा गया है, जिससे ध्वनित होता है कि वह न्यायाधीश का कार्य भी करता था। और क्योकि उसका उल्लेख अमात्य या पारिषद् (Councillor) के साथ किया गया है, इसलिए प्रदेष्ट्री ऊँची श्रेणी का अफसर था। यह बात इस तथ्य से भी मेल खाती है, जिसका अर्थशास्त्र[४] मे राज्य-अधिकारियो के वेतनो वाले अध्याय मे उल्लेख है कि प्रदेष्ट्री को अध्यक्ष या सुपरिन्टेडेट की अपेक्षा बहुत अधिक वेतन देना पडता है।

राजूक कौन थे, इसकी बूलर ने आशिक व्याख्या की है।[५] कुरुधम्म जातक के उद्धरणो से उसने प्रदर्शित किया है कि राजूक, रज्जुक या रज्जुग्राहक का सवादी है और उसमे उसका इन पिछले

---

१ CII, III, १४

२ EI, XV, १३८

३ JRAS, १९१४, ३८३ से आगे; १९१५, ११२.

४ पृ० २४५

५ ZDMG, XLVII, ४६६ से आगे, फिक का 'सोशल आर्गनाइजेशन' आदि, (अनुवाद), १४८-९

नामो से उल्लेख है। जातक के वर्णन के अनुसार, उसका कार्य रस्सी (रज्जु) द्वारा जमीन नापना और इसकी सीमाएँ निश्चित करना था। क्योकि उसको अमच्च कहा गया है, अतः वह प्रदेष्ट्री की तरह एक बडा अफसर था जो शायद आजकल के बन्दोबस्त अधिकारी (Settlement Officer) का सवादी होगा, जैसा कि बूलर का विचार है। उसके बहुत ऊँची श्रेणी का अफसर होने की बात तो इस तथ्य से भी प्रकट होती है कि अशोक लाखो व्यक्तियो के ऊपर रज्जुकों की नियुक्ति की बात कहता है। अपने समय मे रज्जुक पर व्यवहार और दण्ड की जिम्मेवारी थी, अर्थात् वह न्यायाधीश होता था जो **पंचाट (award) और दंड दे सकता था।** अब, स्ट्रैबो मजिस्ट्रेटो की एक श्रेणी की चर्चा करता है जिन पर नदियो की देखभाल की जिम्मेवारी है, जो भूमि नापते हैं (जैसे मिस्र मे), और जिन्हे **पुरस्कार या दंड के पात्रों को पुरस्कृत या दडित करने की शक्ति होती है।**"[१] सर्वथा सभव है कि यहाँ स्ट्रैबो रज्जुको ही को लक्ष्य करके कह रहा है और कि इसलिए रज्जुक न्यायाधीश और बन्दोबस्त अधिकारी दोनो का कार्य करते थे।

एक और अफसर है जिस पर इस सिलसिले मे हमे गौर करना है। उसका नगल-वियोहालक (नगर-व्यावहारिक) के रूप मे पृथक् कलिग प्रज्ञापन मे उल्लेख है। वह निःसदेह वही है जिसका अर्थशास्त्र[२] मे पौर-व्यवहारक नाम से उल्लेख है, और प्रतीत होता है

१. इस बात की ओर सबसे पहले डा० हेमेन्द्रचन्द्र रायचौधुरी ने अपनी पुस्तक 'पोलिटिकल हिस्ट्री आफ एन्शेंट इडिया फ्राम दि एक्सैशन आफ परीक्षित टु दि एक्सटिंक्शन आफ द गुप्त डाएनेस्टी' मे ध्यान खीचा था।

२ पृष्ठ २० और २४५।

कि वह सिर्फ जिला नगरो का न्यायाधीश था। जहाँ तक उसके लिए निर्धारित वेतन का प्रश्न है, वह कुमार के समकक्ष था और निश्चित रूप से प्रदेष्ट्री या प्रादेशिक से ऊँचा पद था।

अशोक के लेखो मे अधिकारियो की दो या तीन और श्रेणियों का उल्लेख है। उन सबका निर्देश शिला प्रज्ञापन १२ के अन्त में है। वे हैं धम्ममहामात, इथिज्झक महामात और व्रचभूमिक। धम्ममहामात कौन थे, यह हम अभी देखेंगे। इथिज्झक-महामात वही थे जो स्त्र्यध्यक्ष महामात्र थे अर्थात् वे महामात्र जो स्त्रियो के अध्यक्ष (सुपरिटेंडेंट) थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे इस अधिकारी का जिक्र नही है, पर यह अनुमान करना कठिन नही कि उसका कार्य क्या था। अर्थशास्त्र का अध्ययन करने वाला हर व्यक्ति अच्छी तरह जानता है कि 'धर्मस्थीय' प्रकरण मे स्त्री के सम्बन्ध मे उसके भरण-पोषण, उत्क्रमण (transgressions), सहपलायन(elopement) इत्यादि अनेक जटिल प्रश्नो पर विचार किया गया है। राज्य गर्भावस्था मे असहाय स्त्रियो की, और उनसे उत्पन्न बच्चो की, सहायता करना भी अपना कर्त्तव्य समझता था। यह सर्वथा समझ मे आ सकता है कि इस कार्य के लिए एक विशेष अधिकारी नियुक्त किया जाता था और वह स्त्र्यध्यक्ष कहलाता था। परन्तु यह कुछ समझ मे नही आता कि व्रचभूमिक कौन थे। इस पदनाम (designation) का पहला भाग व्रज का समतुल्य माना गया है, जिसका अर्थशास्त्र मे "गौओ, भैंसो, बकरियो, भेड़ो, गधो, ऊँटों, घोडो और खच्चरो के समूहो" के अर्थ मे तीन बार उल्लेख है, जिससे राज्य को आय होती थी, और अर्थशास्त्र मे एक अध्याय मे गोध्यक्ष या गौओ के अध्यक्ष का भी उल्लेख है जो राजा के व्रजो का प्रबन्ध करता था, गोवंश की वृद्धि की व्यवस्था करता था और राजकीय दूध का

प्रबन्ध करना था।[१] सभाव्यतः व्रजभूमिक राजा के या नागरिको के मवेशियो से सवद्ध अधिकारी थे जो या तो उत्पन्न पदार्थ राजा की शाला मे लाते थे और या धन राजा के खजाने मे पहुँचाते थे।

अब सिर्फ एक अधिकारी पर विचार करना शेष रहा। उसको अत-महामात अर्थात् अन्त-महामात्र कहा गया है। इस पद का अर्थ "सीमाप्रान्तो के उच्च अधिकारी", "सीमाक्षेत्रो के रक्षक" किया गया है। उनका उल्लेख स्तम्भ लेख १ मे है। वहाँ अशोक का यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि जैसे उसके राज्य-क्षेत्र मे उसके सब श्रेणियो के अधिकारी चचल मन वाले लोगो को धम्म का अनुसरण करने के लिए प्रेरित कर रहे हैं, वैसे ही अतमहामात्र उसी ध्येय को वाहर पूरा कर रहे है। इससे ध्वनित होता है कि ये पिछले अधिकारी अशोक के साम्राज्य के सीमाप्रान्तो के अध्यक्ष न होकर, वे अधिकारी थे जो पडौसी राज्यो मे भेजे गये थे और जिनका कार्य अशोक के धम्म सम्बन्धी कार्यक्रम को क्रियान्वित करना था। यह कल्पना इस तथ्य से भी मेल खाती है कि उसी प्रज्ञापन मे उसने अत-महामात्रो और पुरुषो अर्थात् अपने राज्य के अफसरो का अलग-अलग जिक्र किया है। यह इस तथ्य से भी मेल खाती है कि अशोक के लेखो मे जहाँ कही अत शब्द आया है वहाँ इसका अर्थ "सीमा-वर्त्ती राजा" या "सीमावर्ती राज की प्रजा" है।

हम देखते हैं कि पिछली चार श्रेणियो के अधिकारी, यद्यपि उनके कार्य अलग-अलग हैं, सब के सब 'महामात्र' कहे गये हैं। इसलिए महामात्र शब्द का अर्थ एक 'उच्च अधिकारी' या 'उच्च पदाधिकारी' मात्र मानना चाहिए।[२] यह बात इस तथ्य से भी स्पष्ट

१. पृष्ठ ६० और पृष्ठ १२८ से आगे।

२ JRAS. १९१४, ३८६-७।

है कि धौलि और जौगडा पृथक् प्रज्ञापन १ मे नगर-व्यावहारिको को भी महामात्र कहा गया है। अशोक के लेखो मे एक और साधारण रूप से प्रयुक्त होने वाला शब्द है। यह शब्द है पुरुष, जो सब तरह के अधिकारियो का सामान्य निर्देश करता है। यह बात इस तथ्य से स्पष्ट है कि स्तभ लेख १ मे अशोक ने अपने पुरुषो को उनके उच्च, माध्यम और निम्न पदो के अनुसार तीन वर्गो मे बॉटा है।

अब यह प्रश्न पैदा होता है कि राजा इन महामात्रो से किस तरह संवद्ध था। अशोक का साम्राज्य बडा विस्तृत था और इसलिए उसके महामात्रो की सख्या बहुत अधिक रही होगी। एक अकेला राजा इतने सारे महामात्रो से कैसे संपर्क रख सकता था। क्या लेखो मे किसी ऐसे मध्यवर्ती निकाय का जिक्र है जो एक ओर तो राजा से और दूसरी ओर अधिकारियो से निकट सम्पर्क रखता था? यह निकाय परिषद् है, जिसका दो प्रज्ञापनो मे उल्लेख है। स्पष्ट है कि यह अर्थशास्त्र की मन्त्रि-परिषद् है। यह उन मन्त्रियो की परिषद् थी जिनका, कौटिल्य के अनुसार, कर्त्तव्य था 'अनारब्ध काम को आरम्भ कराना, आरब्ध को पूर्ण कराना, पूर्ण काम को सुधारना और आदेशो का सख्ती से पालन कराना।' उनका एक और महत्त्वपूर्ण कार्य था समीपवर्त्ती अफसरो से मिलकर काम निपटाना और दूरवर्ती अफसरो को राजकीय पत्र भेजकर मत्रणा देना। और जब कोई आकस्मिक कार्य आ पडता था, तब राजा सिर्फ अपने समुपदेष्टाओ (Counsellors) को ही न बुलाता था, बल्कि मंत्रियो की सभा भी बुलाता था, और सदस्यो के बहुमत के अनुसार कार्य करता था या सफलता के लिए जो मार्ग वे बताते थे उस पर चलता था। यह कौटिल्य ने लिखा है, और प्रज्ञापनो

में परिषद् के बारे में जो कुछ कहा गया है उससे मेल खाता है। इस प्रकार शिला प्रज्ञापन ३ मे अशोक धम्म के दो आचार 'अपव्ययता' (अर्थात् मितव्ययिता) और 'अपभाण्डता' (अर्थात् अल्प संचय) बताता है और युक्त अधिकारियो को प्रजा मे इन दो गुणो की वृद्धि करने का कार्य सौपता है। पर क्योकि जीवन की आवश्यकताओ के बारे मे कोई दो गृहस्थी एकमत नही हो सकते, इसलिए सब घरो के लिए कोई कड़ा नियम नही बनाया जा सकता कि वे कितना सचय और व्यय करे। और इसलिए अशोक परिषद् को आदेश देता है कि वह इस सम्बन्ध में दिये गये आदेश को क्रियान्वित करने मे युक्तो को मत्रणा और सहायता दे ताकि इसकी भावना का पालन किया जाए। इससे एक तो यह बात प्रकट होती है कि परिषद् का कार्य राजा के प्रत्येक आदेश का पालन कराना था और दूसरी यह कि यह एक ऐसा निकाय थी जो अफसरो के कार्यो का निरीक्षण और पथ-प्रदर्शन करती थी, जैसा कि अर्थशास्त्र हमे बताता है। परिषद् का जो एक और कार्य अर्थशास्त्र मे बताया गया है, अर्थात् आपाती कार्य के बारे मे इसका कर्त्तव्य, उस पर भी शिला प्रज्ञापन ६ मे, जो प्रशासकीय प्रज्ञापन है, बल दिया गया है। उसमे अशोक कहता है: "और जब किसी बात के बारे मे, जिसके लिए मैंने स्वय मौखिक आदेश दिया हो कि वह जारी या प्रख्यापित की जाए, या महामात्रो पर छोड़े हुए किसी आपाती कार्य के बारे में, परिषद् मे मतभेद या अस्वीकृति हो तब, मैंने समादेश दिया है कि उसकी मुझे सब स्थानो पर और सब समय अविलम्ब सूचना दी जाए।" उसका अभिप्राय यह है कि जब उसने कोई मौखिक आदेश दिया हो, या जब किसी महामात्र पर कोई तत्काल निर्णय करने योग्य कार्य आ पड़े, तब

परिषद् की बैठक हो और वह उस पर विचार करे। यदि उसमे सर्वसम्मत निश्चय हो तो उसका पालन न किया जाने का कोई प्रश्न नही पैदा होता। पर यदि उस पर सदस्यो के अनेक मत हो, या सबके सब उस आदेश के विरोध में हो तो उस मामले को उठा रखा जाए और फिर राजा यह देखे कि यह मतभेद या विरोध क्या है और यह निश्चय करे कि उनके विचारो मे से कौनसा सब से अधिक प्रभावकारी हो सकता है। पर उसके कोई कदम उठाने से पहले परिषद् के विचार उसके समक्ष होने चाहिएँ, और उसकी कार्यवाही करने मे किसी प्रकार के विलम्ब की सभावना न रहे, इसलिए वह प्रतिवेदको को आदेश देता है कि वे परिषद् के विचार निश्चित होते ही उसे उसकी सूचना दे, चाहे वह कोई भी समय हो और चाहे वह उस समय कही भी हो। इस प्रकार परिषद् आधुनिक सचिवालय जैसी चीज थी, जो राजा और महामात्रो के बीच मे मध्यवर्त्ती प्रशासक निकाय थी, और प्रतीत होता है कि एक ओर तो इसे राजा के आदेशो का पालन होने से पहले उनकी जाँच-पड़ताल करने का अधिकार था ताकि वह उन पर पुनर्विचार कर सके, और दूसरी ओर यह किसी महामात्र को किसी आपाती प्रश्न पर बिना राजा से पूछे मत्रणा दे सकती थी बशर्ते कि इसके सदस्य महामात्र से सहमत हो। पर यदि उनमे मतभेद हो, अथवा राजा या महामात्र के निश्चय के विरोध में मतैक्य हो, तो सारा मामला राजा के पास पेश होगा क्योकि वही अन्तिम निर्णायक था।

अशोक की प्रशासन-व्यवस्था के बारे मे एक मनोरजक और ध्यान देने योग्य बात यह है कि उसके कुछ अफसरों को अपने कार्य-सपादन के लिए यात्राएँ करनी पड़ती थी। उन्हें साधारणतया विवुथ या व्युठ कहते थे जिसका संस्कृत पर्याय व्युष्ट है। सारनाथ

प्रज्ञापन से यह बात स्पष्ट है, जिसमे स्थानीय महामात्रो को अपने-अपने क्षेत्राधिकार के अंत तक यात्रा करने का आदेश दिया गया है। यही आदेश रूपनाथ प्रज्ञापन मे दिया गया है पर इसमे व्युष्ट अफसरो को यह आदेश दिया गया है। स्तम्भ प्रज्ञापन ७ मे इन व्युष्टो को पुरुष या अफसर कहा गया है और क्योकि वहाँ यह भी कहा गया है कि वे बहुत सारी प्रजा के ऊपर नियुक्त हैं, इसलिए प्रतीत होता है कि वे ऊँचे पदो पर थे। और, सच तो यह है कि शिला प्रज्ञापन ३ मे, प्रादेशिको, रज्जुकों और युक्तो का, अपने नियमित कार्य के लिए दौरे पर जाने का, उल्लेख है, और हम जानते हैं कि वे उच्च पदाधिकारी थे। दौरे पर गये हुए महामात्रो या अफसरो से यह आशा की जाती थी कि वे उपोसथ, अर्थात् उपवास के दिन, बारी-बारी, जिला मुख्यालय पर लौट आएँ, जैसा कि सारनाथ प्रज्ञापन से ध्वनित होता है। परन्तु तिष्य नक्षत्र के दिन—अर्थात् राजा के जन्म-दिन[1]—इन सबका मुख्यालय पर लौट आना आवश्यक था, जैसा हम धौलि और जौगडा पृथक् प्रज्ञापन १ से जान सकते हैं।

अब हम यह देखेगे कि अशोक शासक के रूप मे क्या था। सब से पहले तो यह मनोरजक बात देखिये कि वह प्रजा को किस दृष्टि से देखता था। पृथक् कलिग प्रज्ञापन मे उसने जो कुछ कहा है उससे उसके अन्तर्मानस की झाँकी मिलती है। उसमे वह कहता है "सब लोग मेरे सतान है, और जैसे मैं अपने सतानो के लिए यह चाहता हूँ कि उन्हे इस लोक और परलोक में सब प्रकार से क्षेम और सुख मिले ठीक वैसे ही मै सारी प्रजा के लिए चाहता हूँ।" स्पष्ट है कि

---

१. ऊपर, पृ० १२।

अशोक राजा का वही कर्त्तव्य मानता है जो सतान के प्रति पिता का होता है—अर्थात् मौर्य काल के राजकीय निरकुशवाद (Absolutism) की ओर स्पष्ट सकेत कर रहा है।[1] जैसा बच्चे एकमात्र अपने माता-पिता के अधीन होते है और माता-पिता उनसे जो चाहे व्यवहार कर सकते हैं, ठीक वैसे ही प्रजा राजा की कृपा पर निर्भर थी, और राजा बिलकुल निरकुश शासक था। इस धारणा मे और उस विचार मे बडा वैषम्य दिखायी देता है जो मौर्य शक्ति के उत्थान से पहले प्रचलित था और जिसके अनुसार राजा राज्य का केवल सेवक माना जाता था और वह निर्दिष्ट कर ही लगा सकता था ताकि उसे अपनी सेवाओ का पारिश्रमिक मिल सके।

अशोक ने अपने शासन मे जो सुधार जारी किये उनमे जिस चीज की ओर उसने विशेष ध्यान दिया और जिसमे वह विशेष रूप से सजग था—वह था न्याय-प्रशासन। जब उसने कलिग को जीतकर अपने साम्राज्य का एक प्रान्त बनाया और उसका शासन एक सपरिषद् कुमार को सौंपा तब भी वह इस विषय मे बडा सचेत रहा। धौलि और जौगडा, दोनो, मे प्राप्त हुए पृथक् प्रज्ञापन १ मे उसने नगर-व्यावहारिको को बडी सख्ती से आडे हाथो लिया है क्योकि तोसली और समापा जिला नगरो के कुछ व्यक्तियो को मनमानी कैद दे दी गयी थी या अकारण परेशान किया गया था। वह इन्हें सीधे शब्दो मे समझाता है कि तुमने मेरे इन शब्दो का अर्थ पूरी तरह ग्रहण नही किया कि सारी प्रजा मेरी सतान है और मैं सारी

१. यह बात कौटिलीय अर्थशास्त्र से भी मेल खाती है, जिसमे कम से कम दो स्थानो पर (पृष्ठ ४७ और २०८) राजा-प्रजा का सम्बन्ध पिता-पुत्र का सम्बन्ध बताया गया है, जैसा कि कलकटा रिव्यू, १९२२, पृ० ३९३, मे दिखाया गया है।

प्रजा के लिए उसी प्रकार आधिभौतिक और आध्यात्मिक सुख की कामना करता हूँ जैसे अपनी संतान के लिए। भर्त्सना कर चुकने के बाद वह उन्हे एक सुन्दर सलाह देता है। वह उन्हे सच्चे दिल से निर्देश देता है कि वे "ईर्ष्या, अ-परिश्रम, निष्ठुरता, अधैर्य, बारम्बार यत्न के अभाव, अकर्मण्यता और आलस्य से सतर्क रहे और अपने अन्दर "परिश्रम और धीरता" का विकास करे।" वह उन्हे ध्यान दिलाता है कि यदि उन्होने अपने कर्त्तव्य का लगन से पालन नही किया तो उन्हे न तो स्वर्ग मिलेगा और न वे राजा का ऋण चुका सकेंगे। अब भी यह शका बनी रहने के कारण कि इन सब भर्त्सनाओ के बावजूद स्थिति मे शायद सुधार न हो और मनमानी कैद और अकारण तग करना शायद जारी रहे, वह उन्हे चेतावनी देता है कि मैं प्रति पॉचवे वर्ष एक महामात्र यह निश्चित करने के लिए भेजूँगा कि न्याय के उचित प्रशासन के बारे मे मेरे सब आदेशो का पालन किया जाए। यह सोचकर कि अन्य प्रान्तो मे भी ऐसा कुशासन उत्पन्न होने पर उसका उपचार करने की प्रतीक्षा मे बैठे रहना ठीक नही, वह तक्षशिला और उज्जैन मे नियुक्त राजकुमारो को आदेश देता है कि वे अपने-अपने अधीन प्रदेशो मे इसी लक्ष्य से इस प्रकार के महामात्रो को दौरे पर रवाना करे।

प्रश्न पैदा होता है कि ये महामात्र कौन थे जो जिलो में मनमानी कैद के या तग करने के मामलो का पता लगाने के लिए नियुक्त किए गए थे। उनके बारे मे एक ध्यान देने की बात यह है कि उन्हे अपने नियमित कार्य की उपेक्षा किये बिना यह कार्य करने के लिए कहा गया है। और यह लगभग निश्चित प्रतीत होता है कि वे धर्म महामात्र थे जिनका सबसे पहले शिला प्रज्ञापन ५ में उल्लेख है। इस प्रज्ञापन मे अशोक कहता है कि सबसे पहले मैंने

ही इस प्रकार के अफसर नियुक्त किये हैं, और उनके कर्त्तव्य निर्दिष्ट करता है। क्योकि अशोक के धम्म का उद्देश्य प्रजा के ऐहिक और आध्यात्मिक दोनो प्रकार के कल्याण की चिन्ता करना था, इसलिए धर्म महामात्रो के कार्य के भी दो भाग थे। अशोक ने उन्हे प्रजा का आध्यात्मिक सुख किस रीति से उत्पन्न और सवधित करने के लिए आदेश दिये थे, यह हम उस समय देखेगे जब धर्म-प्रचारक के रूप मे अशोक की सफलताओ पर विचार करेंगे। यहाँ तो हम उनके उन कर्त्तव्यो पर विचार करना चाहते हैं जो आधि-भौतिक सुख के विषय मे थे। और इस सिलसिले मे उनका एक कर्त्तव्य यह था कि जिन्हे कैद किया गया है उनका निरीक्षण करे, यदि किसी बडे परिवार का बोझ हो तो उसे आर्थिक सहायता दे, यदि उस पर अत्याचार होता हो तो उसे बेडी से मुक्त कर दे, और यदि वह बहुत वृद्ध हो तो उसे रिहा भी कर दे। इससे एक तो यह बात स्पष्ट प्रकट होती है कि अशोक ने पृथक् कलिंग प्रजापन मे प्रान्तीय नगरो के न्याय-प्रशासन का घूमते-फिरते महामात्र द्वारा जो अवीक्षण जारी करने की चर्चा की है, वह वस्तुत धर्म महामात्रो के सुपुर्द किया गया था। एक ध्यान देने योग्य बात यह है कि उन्हे न केवल यह अधिकार दिया गया है कि वे अत्याचार मे पीडित व्यक्ति को बेडी से मुक्त करके न्याय के अतिक्रमण का निवारण करे, बल्कि यह कार्य भी सौंपा गया है कि यदि अपराधी का परि-वार असहाय अवस्था मे हो तो उसके भरण-पोषण के लिए आर्थिक सहायता देकर, या यदि अपराधी बूढा हो गया है और कारागार मे बंद किए जाने योग्य नही रह गया है तो उसे रिहा करके भी, न्याय के साथ दया का सम्मिश्रण करते रहे। परन्तु उन्हे अशोक के साम्राज्य के उस भाग मे, जिसमे यवनों, कबोजो, गांधारों, राष्ट्रको

के देश और अन्य अपरात थे, एक भूत दया का कार्य भी करना होता था। उन्हे ब्राह्मण और गृहपति वर्ग के उन लोगो की सुख-सुविधा को देखना होता था जो दासो की सी अवस्था मे पहुँच गये थे, और साधारणतया सब असहाय वृद्धो की देखभाल करनी होती थी। असहाय और वृद्धो को राज्य से आर्थिक सहायता देने का विचार कोई नया नही है और अशोक के समय से पहले भी विदित था। कौटिलीय अर्थशास्त्र में कहा गया है[1] "राजा अनाथो, वृद्धो, अशक्तो, दुःखितो और असहायो का भरण-पोषण करे।" सभव है कि अशोक के समय तक राजा के इस कर्त्तव्य का पालन न करने का ही चलन हो, और इस चलन को हटाने तथा उस कर्त्तव्य का पालन करने के लिए अशोक ने यह कार्य धर्म महामात्रो को, जो उसने ही सबसे पहले नियुक्त किये थे, सौंपा हो। यदि क्षण भर के लिए हम यह मान लें कि यह मानवीय कार्य अशोक की अपनी ही सूझ न था। तो भी उसने, जहाँ न्याय नही हुआ वहाँ फिर से और सुनिश्चित रूप से न्याय कराने का, और जहाँ न्याय से निष्ठुरता होने की सभावना थी वहाँ दया से इसको हलका करने का, जो ध्येय बनाया वह कोई मामूली बात नही थी। शासक के रूप मे अशोक का यह एक चित्र है।

धर्म महामात्रों का पद अशोक ने स्वय बनाया था और उसने इन पदो पर पहली नियुक्तियाँ अपने राज्याभिषेक के तेरहवे वर्ष मे की, जैसा कि वह शिला प्रज्ञापन ५ मे हमे बताता है। इस समय के आस-पास उसने एक और प्रशासनीय सुधार किया प्रतीत होता है। इसका वर्णन अगले प्रज्ञापन मे किया गया है, और यह राज-कार्य

---

१. पृष्ठ ४७।

तत्परतापूर्वक करने के सम्बन्ध मे है। पूर्वी देशो मे और विशेषकर भारत मे प्रजा के लिए राजा की उपगम्यता राजा का सर्वश्रेष्ठ गुण माना जाता है। पर अशोक ने जिस मात्रा तक यह गुण प्रदर्शित किया उससे आगे बढना शायद अशक्य है। शिला प्रज्ञापन ६ मे वह कहता है कि राज-कार्य सम्बन्धी सूचनाएँ मुझे हर समय और हर स्थान पर पहुँचायी जा सकती हैं, चाहे मैं भोजन कर रहा होऊँ, चाहे अन्त पुर मे, चाहे शयनागार मे, चाहे पशुशाला मे, घोड़े पर या उद्यानो मे होऊँ। इसी सिलसिले मे उसने प्रतिवेदकों या सूचना देने वालो का तथा परिषद् के विचार का उल्लेख किया है जिसकी हमने ऊपर चर्चा की है। जिस सच्चाई या उत्साह से उसने अपने आपको उपगम्य बनाया है, वे उसके इन शब्दो मे साफ और अमिट रूप मे गूँज रहे हैं। वह कहता है .“राज-कार्य मे मैं कितना ही उद्योग करूँ, पर उससे (मुझे) सतोप नही होता। सब लोगो की भलाई करना ही मैंने अपना श्रेष्ठ कर्त्तव्य माना है। और इस सब का मूल भी उद्योग और राज-कार्य सचालन ही है। सर्व-लोक हित से बढाकर और कोई अच्छा काम नही है। जो कुछ पराक्रम मैं करता हूँ वह इसलिए है कि प्राणिमात्र का मेरे ऊपर जो ऋण है, उससे मैं मुक्त होऊँ और उनका इस लोक तथा परलोक मे हित बढे। यह धर्मलेख मैंने इसलिये लिखवाया है कि यह चिरस्थायी रहे और मेरे पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र इसी प्रकार सब लोगो की भलाई के लिए सदा उद्योग करे। पर अत्यधिक प्रश्न के बिना यह कठिन कार्य है।”

प्रतीत होता है कि लगभग तेरह वर्ष तक अशोक ने अपनी प्रशासन-व्यवस्था के सम्बन्ध मे कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नही किया। पर अपने अभिपेक के छब्बीसवे वर्ष मे उसने, विशेषकर प्रान्तो मे

न्याय-प्रशासन को और अधिक सुधारने के लिए एक महत्त्वपूर्ण कदम उठाया। स्तम्भ प्रज्ञापन ५ हमे बताता है कि उस वर्ष उसने 'रज्जुको' को न्यायिक अनुसधान और दड के विनिर्णय का एकमात्र अधिष्ठाता बना दिया ताकि वे विश्वास के साथ और निर्भय होकर अपने कर्त्तव्य पूरे कर सकें, प्रान्तो की प्रजा के हित और सुख की वृद्धि कर सके, और (उन्हे) उपहार दे सके।" इसी प्रज्ञापन मे आगे कहा गया हे कि "रज्जुक लोग यह मालूम करे कि किन बातो से प्रजा को सुख मिलता हे और किनसे दुःख, और प्रान्तो के लोगो और धार्मिक व्यक्तियो को धर्माचरण के लिये उद्बोधित करे, ताकि उन्हे इहलोक और परलोक मे सुख प्राप्त हो।" स्पष्ट है कि उनके राज्यकाल के छब्बीसवे वर्ष रज्जुको के दो कर्त्तव्य थे—प्रान्तो की प्रजाके लौकिक सुख की वृद्धि कराना और उसका पारलौकिक मगल करना। उसने अपना दूसरा कर्त्तव्य पालन करने की कितने यथार्थ रूप से आशा की जाती थी, यह हम तब देखेंगे जब अशोक के धर्म-प्रचारक रूप पर विचार करेंगे। यहाँ हम जानने का यत्न करेगे कि किन प्रशासनीय सुधारो द्वारा, रज्जुको से पहले उद्देश्य की पूर्त्ति की आशा की जाती थी। हमे पता चलता है कि उन्हे न्यायिक अनुसधान और दड के विनिर्णय का एकमात्र अधिष्ठाता बना दिया गया था। यहाँ दो प्रश्न पैदा हो सकते हैं। पहला यह है कि "उन्हे इसका एकमात्र अधिष्ठाता क्यो बनाया गया?" अशोक इसका उत्तर देता है, और वह यह है कि न्यायिक अनु-सधान मे एकरूपता लाने के लिये और दड के विनिर्णयन मे एक-रूपता लाने के लिए। अब जो दूसरा प्रश्न पैदा होता है वह यह है: "यहाँ एकरूपता से अशोक का क्या अभिप्राय है?" यह जरा टेढा प्रश्न है। परन्तु सभाव्यत उसका यह अभिप्राय था।

न्याय-प्रशासन से सम्बद्ध अफसर सिर्फ रज्जुक ही नही थे। हम ऊपर देख चुके हैं कि कम से कम दो और भी अफसर थे—एक नगर-व्यवाहारिक और दूसरा प्रादेशिक (प्रदेष्ट्री), जो न्यायाधीश का भी कार्य करते थे। क्योंकि इस तरह एक ही जिले मे न्यायिक तथा अन्य कार्य करने वाले अफसरो की तीन श्रेणियाँ थी। इस लिए प्रक्रिया और निर्णय के मामले मे एकरूपता सभव नही थी। कारण एक जिले के लोगो के लिये भी न्याय-प्रशासन एकरूप होने की आशा नही की जा सकती थी। यह सचमुच एक दोष था, और अशोक ने न्याय-विभाग का सारा काम रज्जुको को सौपकर तथा अन्य दो श्रेणियो के अफसरो को इस भार से मुक्त करके इस दोष को दूर करने का यत्न किया। इसलिये अशोक सचमुच सतोष-पूर्वक यह कहने का अधिकारी था · "जैसे कोई व्यक्ति अपना बच्चा कुशल धाय को सौंपकर निश्चिन्त होता है और अपने आप से कहता है : "कुशल धाय मेरे बच्चे का पालन करना चाहती है," वैसे ही मैंने प्रान्तीय लोगो के हित और सुख के लिए रज्जुको को नियुक्त किया है ताकि वे निर्भय, नि सकोच और निर्विघ्न अपना कर्त्तव्य निष्पन्न कर सके।[1]

जिस वर्ष अशोक ने न्याय-प्रशासन मे उपर्युक्त सुधार किया, उसी वर्ष उसने दड सहिता की कठोरता को हलका करने का यत्न

१. इस अश से प्रतीत होता है कि रज्जुको को न्याय-कार्य के सम्पादन की उच्चतम शक्तियाँ दे दी गई थीं और अशोक ने उच्चतर अधिकारियो के पास अपीलो की व्यवस्था खत्म कर दी थी। प्रतीत होता है कि छब्बीसवें वर्ष मे जब राजा ने न्याय-प्रशासन एकमात्र रज्जुको को सौप दिया तब उसने धम्म महामात्रो द्वारा न्याय के पुनरीक्षरण (या नजरसानी) को भी समाप्त कर दिया।

भी किया। उसी प्रज्ञापन, अर्थात् स्तम्भ प्रज्ञापन ४ में कहा गया है कि उसने प्राण-दंड पाये हुए लोगों को तीन-तीन दिन की मोहलत दी। इसका उद्देश्य यह था कि उन्हें प्राण-दंड पाने से पहले सोचने-विचारने का अवसर मिल सके और वे परलोक के लिए अपने को योग्य बना सकें।

अध्याय ३

अशोक बौद्ध के रूप में

अशोक ने अपना जो मुख्य ध्येय वनाया था और जिसकी सिद्धि के लिए उसने अपना सारा तन-मन लगा दिया था वह था धम्म का प्रचार। उसका शायद ही कोई लेख हो जिसमे इस धम्म की चर्चा न हो, या जो किसी-न-किसी तरह इससे सबद्ध न हो। उसके शिला और स्तभ प्रज्ञापनो को धम्मलिपि नाम से अभिहित किया गया है अर्थात् धम्म सम्बन्धी लेख। अशोक का धम्म से ठीक-ठीक क्या अभिप्राय था, यह हम अगले अध्याय मे देखेगे। यहाँ हम यह विचार करेगे कि वह किस धम्म को मानता था, और इसके साथ उसका क्या सवध था।

यह वताना तो अनावश्यक ही है कि अशोक बौद्ध मत का अनुयायी था। सब बौद्ध अभिलेखो से प्रकट होता है कि वह इस धम्म का पोषक था। दूसरी ओर, ऐसा कोई साहित्यिक या धार्मिक ग्रथ नही है जो यह कहता हो कि उसने कोई और धर्म ग्रहण किया था। उसके लेख हमे क्या वताते हैं? यही एक असली प्रश्न है जिसका हमे उत्तर देना है। जव अशोक के लेखो का अध्ययन आरम्भ हुआ और सिर्फ कुछ ही लेखो का पता चला था, तव एच० एच० विल्सन ने उसके बौद्ध मतावलम्बी होने पर विवाद उठाया, और एडवर्ड टॉमस ने यह स्थापना की कि अशोक पहले जैन था

पर बाद मे वह बौद्ध हो गया।[1] पर अब अशोक के बौद्ध मतावलम्बी होने पर विवाद की गुंजाइश नही है। भाब्रू प्रज्ञापन से, जिसे द्वितीय बैराट प्रज्ञापन भी कहते है, यह बात असंदिग्ध रूप से सिद्ध हो चुकी है। इसके शुरू मे अशोक बौद्धमत के प्रसिद्ध तीन सूत्रो के शब्दो ही मे बुद्ध, धम्म और संघ का अभिवादन करता है। और भी अभिलेख है जिनसे यही निष्कर्ष निकलता है। विल्सन और टॉमस के विचार अनिर्भरणीय पाठो और अयथार्थ निर्वचनों पर आधारित थे और अब विद्वान् लोग उन्हे नही मानते। अब जिस प्रश्न के बारे मे मतभेद हो सकता है वह यह है कि अशोक बौद्ध मत का अनुयायी कब हुआ? इस प्रश्न पर जिस विद्वान् ने सबसे पीछे विचार किया वह स्वर्गीय डा० जे० एफ० फ्लीट थे। आपकी मान्यता थी कि शिला और स्तम्भ प्रज्ञापनो मे उल्लिखित धम्म किसी भी तरह बौद्ध धम्म नही है क्योकि उसमे कही भी बुद्ध का उल्लेख नही है और संघ का सिर्फ एक बार जिक्र है और वह भी इस ढंग से कि उसे अन्य मतो के बराबर स्थान दिया गया है। डा० फ्लीट कहते है कि इस प्रकार इन प्रज्ञापनो का उद्देश्य "बौद्ध या किसी अन्य धर्म-विशेष का प्रचार करना नही है बल्कि अशोक के इस संकल्प की उद्घोषणा करना है कि वह अपने राज्य का, धर्मात्मा राजाओ के कर्त्तव्य के अनुसार, धर्म और दया से शासन करेगा।"[2] दूसरे शब्दो मे, फ्लीट शिला और स्तम्भ प्रज्ञापनो मे प्रयुक्त धम्म शब्द को 'राजाओं के साधारण धर्म' का सूचक मानता है जो धर्मशास्त्र १, ११४ मे राजधर्म सम्बन्धी प्रकरण मे विहित हैं। उसके अनुसार, अशोक अपने अभिषेक के ३०वे वर्ष बौद्ध हुआ,

१. JRAS., (NS), जिल्द IX, पृ० १५५ और १८७।
२. वही, १९०८, पृ० ४९—१२।

अर्थात् स्तम्भ प्रज्ञापनो के उत्कीर्ण कराये जाने के दो वर्ष बाद।
स्पष्टतः फ्लीट ने इस तथ्य पर ध्यान नही दिया कि अशोक ने जिस धम्म की चर्चा अपने शिला और स्तम्भ प्रज्ञापनो मे की है, वह उसके अपने या उसके अफसरो के आचरण के लिए अभिप्रेत नही है बल्कि उसकी प्रजा के आचरण के लिए अभिप्रेत है। इस प्रकार यह धम्म सभवत राजधर्म नही हो सकता—राजधर्म मे तो राजा और उसके अफसरो के कर्त्तव्य सग्रहीत हैं, प्रजा के नही। रुम्मिन्देई लेख से भी सूचित होता है कि अपने राज्य-काल के बीसवे वर्ष अशोक ने स्वय बुद्ध के जन्म-स्थल की यात्रा की और वहाँ पूजा की। इससे यह स्पष्ट है कि अपने राज्य-काल के बीसवे वर्ष वह बौद्ध था। लेख के शब्दो का स्पष्टतः यह अर्थ है कि अशोक स्वय बुद्ध के जन्म-स्थान पर गया और उसने वहाँ पूजा की—इसका यह अर्थ नही है, जो डा० फ्लीट ने लगाया है कि अशोक ने स्वय उस जगह जाकर उस जगह को सम्मानित किया। फिर शिला प्रज्ञापन ८वें अपने राज्य-काल के दसवे वर्ष वह सबोधि गया। यहाँ सबोधि का अर्थ चाहे 'परम ज्ञान' या ऐसा ही कुछ और हो, जैसे विद्वान् लोग मानते हैं, अथवा 'वह स्थान जहाँ बुद्ध को ज्ञान हुआ था' हो, जैसे मैं समझता हूँ, पर यह सब स्वीकार करते हैं कि यह शब्द बौद्ध धर्म ग्रथो का एक पारिभाषिक शब्द है और इसे डा० फ्लीट की धारणा के अनुसार सामान्य सस्कृत शब्द सबोध के सम-तुल्य सभवत नही माना जा सकता। इस प्रकार इस शिला प्रज्ञा-पन से सिद्ध होता है कि अपने राज्य-काल के दसवे वर्ष भी अशोक बौद्ध था।

परन्तु यह साक्ष्य मिलता है कि अशोक कम-से-कम दो वर्ष पूर्व बौद्ध हो गया था। यह साक्ष्य गौण शिला प्रज्ञापन १ मे है जिसकी

प्रतियाँ कम-से-कम छः अलग-अलग स्थानो पर मिली हैं। इस प्रज्ञापन को वह इस तरह शुरू करता है: "ढाई वर्ष पूर्व मैं एक साधारण उपासक था, पर मैंने उद्योग नही किया था। एक वर्ष, वल्कि एक वर्ष से कुछ अधिक, हो गया जव से म सघ मे रह रहा हूँ और मैंने उद्योग किया है।" इसलिए जव यह प्रज्ञापन उत्कीर्ण किया गया तव उसे वौद्ध हुए लगभग पौने चार वर्ष हो चुके थे। इसी प्रज्ञापन मे उसके धार्मिक उत्साह के कार्य का जिन शब्दो में वर्णन है उनसे उस शिला प्रज्ञापन ४ का स्मरण हो आता है और दोनो की थोडी-सी भी तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इन दोनो मे अशोक ने एक ही वस्तु, अर्थात् अपने धर्म-प्रचार सवधी कार्य, का वृत्तान्त दिया है। अव यह ध्यान देने की बात है कि शिला प्रज्ञापन ४ में यह उल्लेख है कि यह प्रज्ञापन अशोक के राज्य-काल के वारहवे वर्ष उत्कीर्ण हुआ। इसलिए अशोक ने इस समय से पौने चार वर्ष अर्थात् आठवे वर्ष पूर्व वौद्ध मत ग्रहण कर लिया होगा। इस प्रकार अशोक के जीवन के इस काल की मुख्य घटनाएँ सक्षेप मे इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती हैं। वह अपने राज्य-काल के आठवे वर्ष वौद्ध हो गया था, जैसे कि हम अभी देख चुके हैं। लगभग ढाई वर्ष तक वह साधारण वौद्ध रहा पर वह अधिक उत्साही न था और उसने वौद्ध मत के प्रचार के लिए कोई उद्योग नही किया। इसके वाद एक वर्ष तक वह सघ के साथ रहा और उसने ऐसा प्रचार-कार्य किया कि इस अवधि के वाद अर्थात् अपने राज्याभिषेक के वारहवे वर्ष, वह सच्चे दिल से कह सकता था कि मैंने प्रजा में धम्म की वैसी वृद्धि की है जैसी पहले कभी नही हुई। इस प्रकार हम देखते हैं कि अपने राज्याभिषेक के आठवे वर्ष उसने वौद्ध मत अगीकार कर लिया था। पर इसी वर्ष उसने कलिग को

अपने अधीन किया था। और विद्वानो की धारणा है कि कलिंग युद्ध से ही उसे धर्म-परिवर्तन की प्रेरणा मिली। उनके विचारो के अनुसार, इस युद्ध की भीषणता ने उसमे ऐसी ग्लानि पैदा कर दी कि उसका मन धर्म की ओर मुड गया और वह बौद्ध मत का अनुयायी हो गया। परन्तु यह निष्कर्ष उसके शिला प्रज्ञापन १३ से, जो कलिग के साथ हुए युद्ध का उल्लेख करने वाला एकमात्र प्रज्ञापन है, प्रमाणित नही होता। इस शिलालेख मे न केवल कलिग की जनता पर आयी मुसीबतो का सजीव चित्र है, वल्कि अशोक के पश्चात्तापपूर्ण मानस की मर्मस्पर्शी दशा का भी चित्रण है। यह सत्य है कि इस प्रज्ञापन मे यह कहा है: "अब कलिग के जीते जाने के बाद (ततो पच्छा अधुना) देवताओ के प्रिय धम्म की सोत्साह परिरक्षा, सोत्साह अभिलाषा और सोत्साह शिक्षा करता है।" परन्तु इसका यह अर्थ नही कि उसने धम्म की अभिलाषा, परिरक्षा या शिक्षा, कलिग युद्ध के द्वारा अपने जीवन-मार्ग मे आये किसी परिवर्तन के कारण आरम्भ की। युद्ध की मुसीबतो और भीषणताओ पर उसका पश्चात्ताप और धरम की सोत्साह शिक्षा और परिरक्षा उस समय का निर्देश नही करती जब कलिग उसके साम्राज्य का हिस्सा बना, बल्कि उस समय का निर्देश करती हैं जब शिला प्रज्ञापन १३ प्रख्यापित किया गया। अशोक इस प्रज्ञापन मे जो कुछ कहता है वह यह नही है कि युद्ध के अत्याचारो ने उसे गम्भीर और अनुशोक-मग्न कर दिया है और उसका मन बौद्धमत की ओर फेर दिया है, बल्कि वह स्पष्ट रूप से यह है कि वह पहले से बौद्ध था और इसलिए युद्ध पर लज्जित है और इस प्रज्ञापन को प्रख्यापित करने के समय वह धम्म के लिए गभीर लालसा अनुभव करता था। निःसंदेह, कलिग-विजय और उसका बौद्ध-धर्म-ग्रहण

दोनो घटनाएँ उसके अभिषेक के आठवे वर्ष मे हुई, पर पहली घटना दूसरी का कारण नही थी। क्योकि, यदि क्षण भर के लिए यह मान लिया जाए कि उसके बौद्ध होने का कारण कलिंग-युद्ध था तो तब हमे यह भी मानना पडेगा कि जब उसने यह प्रान्त जीता और वह बौद्ध हो गया उसके तुरन्त बाद वह उत्साहपूर्वक धम्म की परिरक्षा और शिक्षा कर रहा था, जैसा कि शिला प्रज्ञापन १३ हमे बताता है। पर यह बात उस बात से मेल नही खाती जो गौण शिला प्रज्ञापन १ उसके विषय मे कहता है और वह यह कि जब पहले ढाई वर्ष पूर्व वह साधारण बौद्ध था तब उत्साही प्रचारक नही था।

अशोक हमे बताता है, जैसे कि हम देख चुके है, कि ढाई वर्ष से अधिक समय तक वह साधारण उपासक था और इसके बाद वह सघ मे गया और उसके साथ एक वर्ष से अधिक रहा। परन्तु उसके इस कथन का आशय है कि मै सघ मे गया और उसके साथ रहा। यह वाक्य विद्वानो के लिए बडी पहेली रहा है। श्री सेनार्ट का विचार है कि यह सघ मे राजा के उस गमन को निर्दिष्ट करता है जो उसने राजकीय शोभा के साथ किया था, और जिसमे उसने सघ मे अपना आसन ग्रहण करके अपने बौद्ध हो जाने की सार्वजनिक घोषणा की थी, जैसा कि सिहल के इतिहास ग्रथ महावश[1] से हमे मालूम होता है। इसी अवसर पर अपने पुत्र और पुत्री को सघ मे प्रविष्ट करके उसने अपनी श्रद्धा की सत्यता प्रदर्शित की। पर यह निर्वचन स्वीकार नही किया जा सकता क्योकि, जैसा कर्न और बूलर ने बताया है, अशोक यहाँ अपने उपासक होने के समय की अपने सघ मे होने के समय से तुलना कर रहा है और महावश

१. IA, १८९१, पृ० २३३-४।

मे यह कही नही कहा गया कि जब उसने सघ की राजकीय यात्रा की तब वह साधारण उपासक नही रहा।[1] इसलिए इन दो विद्वानो की मान्यता के अनुसार, उसका आशय यह है कि वह सघ मे प्रविष्ट हो गया और इस प्रकार भिक्षु बन गया। यद्यपि इन विद्वानो ने श्री सेनार्ट के मन्तव्य पर जो आपत्ति उठायी है वह महत्त्वपूर्ण है, पर जो निर्वचन उन्होने स्वय प्रस्तुत किया है वह भी उतने ही भारी आक्षेप से बच नही सकता। अशोक द्वारा प्रयुक्त सबसे महत्त्वपूर्ण शब्द ये हैं: मया सघे उपयीते (उपेते, उपयाते, या उपगते)। उपयीते या इसके पर्यायो का अर्थ 'प्रवेश करना' न होकर (सघ के) 'पास जाना' या (उसके साथ) 'सबद्ध होना' है। दूसरे, यह बडी सदिग्ध बात है कि क्या उस आरम्भिक काल मे जब बौद्ध धर्माचार्यो को अपने सघ के नियमो की कठोरता कम करने की प्रेरक कोई लाभेच्छा या किसी तरह की लौकिक भावना नही हो सकती, वे एक व्यक्ति को एक ही समय मे भिक्षु और राजा दोनो का कार्य करने देते। वी० ए० स्मिथ ने अवश्य एक ऐसा उदाहरण प्रस्तुत किया है जिसमे एक चीनी सम्राट्, बौद्ध भिक्षु और सम्राट् दोनो के कर्त्तव्यो मे सामजस्य करता था।[2] पर यह उदाहरण एक अन्यदेशीय राजा का और बहुत परवर्ती काल का है। इस उलझन को यह कहकर सुलझाया जा सकता है कि अशोक भिक्षु नही बना था, भिक्षु-गतिक बना था। यह भिक्षु-गतिक शब्द विनयपिटक के महाबग्ग[3] मे आता है, और बुद्धघोष ने उस व्यक्ति के अर्थ मे इसका

१. कर्न, मैनुअल आफ इडियन बुद्धिज्म, पृ० ११४ और टि० ५, E. I, जिल्द ३, पृ० १४१ और टि० ५।

२. अशोक, पृ० ३७।

३. III ७. ८, SBE, जिल्द १३, पृ० ३१२, A. ९। इस निर्देश के लिए मैं अपने शिष्य श्री चरणदास चटर्जी का आभारी हूँ।

प्रयोग किया है जो "भिक्षुओ के साथ उसी विहार मे रहता है . यहाँ भिक्षु-गतिक और भिक्षु मे भेद किया गया है, और यदि यह मान लिया जाय कि अशोक भिक्षु न होकर भिक्षु-गतिक हुआ था तो राजा और भिक्षु दोनो के कर्त्तव्यो मे सामजस्य करने का प्रश्न पैदा ही नही होता। दूसरी ओर, क्योकि भिक्षु-गतिक भिक्षुओ के साथ उसी विहार मे रहता है, इसलिए उसे उपासक—जो गृहस्थ होता है—नही कहा जा सकता। अशोक का संघ के साथ संबंध और निवास जो संघे उयीपते पदो से सूचित होता है, भिक्षु-गतिक के भिक्षुओ के साथ एक ही विहार मे निवास के साथ बिलकुल ठीक बैठ जाती है। शुरू मे बौद्ध धर्म का किसी व्यक्ति को भिक्षुगतिक बनने देने मे वस्तुतः क्या उद्देश्य था, यह ज्ञात नही है, पर प्रतीत होता है कि इस तरह का जीवन उसी व्यक्ति के लिए ठीक ठीक उपयुक्त है जो धार्मिक प्रवृत्ति वाला और सासारिक सुखो से उदासीन होने पर भी, अपने व्यक्तिगत परन्तु प्रबल कारणो मे से, गृहस्थ-जीवन अभी नही छोड सकता। शायद इस तरह की अवस्था मे बौद्ध धर्म ने भिक्षु-गतिक का जीवन बिताने की स्वीकृति दे दी ताकि व्यक्ति अपनी धार्मिक प्रवृत्ति को भी तृप्त कर सके और उसे ससार-त्याग भी न करना पडे। भिक्षु-गतिक भिक्षुओ के साथ विहार मे रहता हुआ भिक्षुओ का वेष पहने, यह जरा भी अस्वाभाविक नही, और इसलिए यह कोई ताज्जुब की बात नही कि अशोक की जो प्रतिमा चीनी यात्री इ-त्सिग ने सातवी शताब्दी ई० पू० में देखी थी उसमे सम्राट् को भिक्षु-वेष पहने दिखाया गया है।

जिस समय अशोक ने भिक्षुगतिक का जीवन आरम्भ किया उसी समय उसने एक और भी कार्य का श्रीगणेश किया था। शिला प्रज्ञापन ८ मे कहा है

"दीर्घकाल से राजा लोग विहार यात्राओ पर जाया करते थे। इसमे मृगया और ऐसे ही अन्य विनोद हुआ करते थे। अब राजा प्रियदर्शी, देवानाप्रिय, जब दस वर्ष पूर्व दीक्षित हुआ तब वह सबोधि (बोधि वृक्ष) गया। इस तरह यह धर्म-यात्रा (आरम्भ हुई)।"

यहाँ अशोक बताता है कि अपने राज्याभिषेक के दस वर्ष बाद तक वह पूर्ववर्त्ती राजाओ की तरह विनोद के लिए विहार-यात्रा पर जाया करता था जिसमे वह शिकार खेलता था। पर उस वर्ष उसने इन विहार-यात्राओ का विचार सर्वथा छोड़ दिया और इनके स्थान पर धर्म-यात्राएँ शुरु कर दी। वह इन धर्म-यात्राओ मे वस्तुतः क्या करता था और इनके द्वारा वह अपने मे और अपनी प्रजा मे किस प्रकार धम्म का प्रतिपालन कर सका, यह हम एक अगले अध्याय मे देखेगे। यहाँ हमे जो बात देखनी है वह यह है कि अपने राज्याभिषेक से दसवे वर्ष उसने बोधि वृक्ष की यात्रा की और यह उसकी पहली धम्म-यात्रा थी। और क्योकि यह वही समय है, जब वह भिक्षु-गतिक हुआ था, अत इस अनुमान से बचना कठिन है कि उसने भिक्षुगतिक के रूप मे अपना जीवन भिक्षुओ के एक सघ के साथ बोधिवृक्ष की यात्रा से आरम्भ किया, और इससे उसे तथा उसकी प्रजा को जो आध्यात्मिक लाभ हुए, उनसे प्रेरित होकर उस ने पुनः यह धम्म-यात्रा की, यहाँ तक कि यह उसका एक नियमित कार्यक्रम हो गया। एक बाद की धम्म-यात्रा के सस्मरण, नैपाल के तराई प्रदेश मे प्राप्त हुए दो स्तम्भ-लेखो मे निश्चित रूप से सरक्षित प्रतीत होते हैं। इनमे से एक लेख सम्मिन्देइ मे मिले एक स्तूप पर उत्कीर्ण है और दूसरा पहले से तेरह मील उत्तर-पश्चिम मे निगलीवा स्थान पर है। इनमे से पहला अभिलेख हमे बताता है कि अपने राज्य-काल के बीसवे वर्ष अशोक स्वय उस स्थान पर आया

जिस पर उत्कीर्ण स्तम्भ खडा है, उसने अर्चना की, और क्योंकि यह वही स्थान था जहाँ शाक्यमुनि बुद्ध का जन्म हुआ था, इसलिए अशोक ने पत्थर की एक विशाल दीवार बनवायी और वहाँ स्तम्भ स्थापित किया। लेख मे आगे लिखा है कि क्योंकि वहाँ भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ था अत लुम्बिनी गाँव के सब धार्मिक कर (बलि) क्षमा कर दिये गये और उस गाँव को सस्य का सिर्फ आठवाँ हिस्सा भूराजस्व (भाग) के रूप मे देना होगा। लेख का अभिप्राय यह है कि अपने राज्य-काल के बीसवे वर्ष अशोक ने लुम्बिनी वन की यात्रा की, जहाँ बौद्ध किवदन्ती के अनुसार, बौद्ध धर्म के सस्थापक राजकुमार सिद्धार्थ का जन्म हुआ था, और उसे वहाँ सिर्फ अर्चना करने से सतोष नही हुआ बल्कि उसने बुद्ध के जन्म-स्थान के चारो ओर पत्थर का एक अहाता बनवाया और वहाँ एक स्तूप खडा किया। परन्तु इतना ही नही। हम जानते हैं कि कई तीर्थ-स्थानों पर आज भी यात्रियो को धार्मिक कर देना पडता है, जैसे उदाहरण के लिए, द्वारका (काठियावाड) मे। लुम्बिनी गाँव, बौद्ध धर्म के सस्थापक का जन्म-स्थान होने के कारण, अशोक के समय से पहले भी तीर्थ-स्थान बन गया होगा और वहाँ सब तरह के बौद्ध यात्री आते होगे, और यहाँ धार्मिक कर भी लगा दिया गया होगा। बौद्ध होने के कारण अशोक ने इस बात को पसन्द न किया होगा कि उसके सहधर्मियो से उनके धर्म के सस्थापक के जन्म-स्थान पर धार्मिक कर लिया जाए और इसलिए उसे उडा दिया। पर उसने लुम्बिनी को एक यही उपहार नही दिया। प्राचीन भारत मे प्रत्येक गाँव को, अपने प्रदेश के राजा को अपने सस्य का चतुर्थांश या षष्ठांश देना पडता था। लुम्बिनी गाँव, अशोक के शासन मे होने के कारण, अपने सस्य का कुछ भाग भूराजस्व के रूप मे उसे देता था।

को दिये गये उपदेश माने जाते हैं वे बहुत सारे हैं। पर इस कथा मे सिर्फ चार पर बल दिया गया है जिससे प्रतीत होता है कि बुद्धघोष के समय तक ये उपर्युक्त चार सुत्त किसी बौद्ध भिक्षु के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण माने जाते थे। अधिकतर विद्वानो ने यह स्वीकार कर लिया है कि अशोक के अलियवंसाणि, मोनेय-सूत, और उपतिस पसिनि बुद्धघोष की कथा के, क्रमशः महा-आर्यवंश, नालक सुत्त और रथविनीत के सवादी हैं।[१] यदि बुद्धघोष द्वारा निर्दिष्ट चार मे से तीन सुत्त वही हैं जो अशोक द्वारा उल्लिखित्त धम्मपर्यायो में से तीन हैं, तो यह विचित्र बात है कि चौथा, अर्थात् तुवट्टक, अशोक द्वारा वर्णित ग्रथो मे क्यो नही मिलता। पर इस सुत्त के सातवें श्लोक से यह प्रतीत होता है कि बुद्ध इसमें धार्मिक आचरणो (पटिपदा), उपदेशो (पातिमोक्ख), और समाधि का प्रतिपादन कर रहा है।[२] और यहाँ प्रयुक्त पटिपदा और पातिमोक्ख शब्दो से यह अनुमान होता है कि तुवट्टक सुत्त मे अशोक का विनय-समुकसे, सर्वश्रेष्ठ विनय है।

अशोक द्वारा निर्दिष्ट धम्म-पर्यायों की उपर्युक्त पहचान से यह पता चल जायगा कि कभी-कभी एक ग्रथ कई नामो से प्रसिद्ध हो जाता था। इस तरह मोनेय सुत्त उसी सुत्त का सिर्फ नामांतर है जो तालक सुत्त के नाम से भी प्रसिद्ध है। पर राजा द्वारा निर्दिष्ट सिद्धान्त-ग्रन्थो की यह कोई विशेषता नही थी। अन्य कई ग्रन्थ ज्ञात हैं और उनका पहले जिक्र किया जा चुका है।[३] दूसरे, अशोक

१. IA १९१२, पृ० ३७ और आगे, न्यूमैन, बुद्धिस्ट रेंडेव, जिल्द १, पृ० १५२।

२. सुत्तनिपात, पृ० १७१, SBE जिल्द १०, भाग १.१., पृष्ठ १६८।

3. IA, 1912, पृ० ४०।

द्वारा इन ग्रन्थो की चर्चा से उसके समय मे सारे त्रिपिटक या उसके किसी भाग के अस्तित्व के विरुद्ध कोई बात नही सिद्ध होती क्योकि अशोक यहाँ सिर्फ थोडे से धार्मिक ग्रन्थो की चर्चा कर रहा है, और जिनकी चर्चा वह नही कर रहा या जिनमे से वह नही छाँट रहा उनका उसके समय मे अभाव नही माना जा सकता।

अशोक ने जिन धार्मिक ग्रथो को छाँटा है, उनसे प्रकट होता है कि वह किस प्रकार का बौद्ध था। उसका हृदय बौद्धमत के कर्मकाडीय या दार्शनिक अश पर लट्टू नही था—वह तो उस धर्म के, या इस प्रसग मे यह भी कह सकते हैं कि किसी भी धर्म के, मूल सिद्धान्तो पर मुग्ध था। वह उन नियमो या आचारो से आकर्षित नही हुआ जो बाहर से या यत्रवत् पाले जाते है बल्कि उनसे प्रभावित हुआ जो वास्तविक, आन्तरिक उन्नति हैं और उस उन्नति को उत्पन्न करता है। उदाहरण के लिए अशोक द्वारा निर्दिष्ट एक ग्रथ आर्यवश को लीजिए। इसमे भिक्षु के लिए चार आचार-मार्गो का विधान है। सुत्त कहता है कि भिक्षु को (१) सादे वेष से, (२) सन्मार्ग से प्राप्त किये हुए सादे भोजन से, और (३) छोटे-से-छोटे मकान से सतुष्ट रहना चाहिए, (४) ध्यान मे आनन्द लेना चाहिए। इस प्रकार यह ग्रथ सक्षेप में हमे बता देता है कि भिक्षु को कैसा होना चाहिए या कैसे रहना चाहिए। दो-तीन और ग्रथ, जैसे मुनिगाथा और मोनेय-सुत्त, भी लगभग यही बात कहते हैं। और अशोक द्वारा निर्दिष्ट धर्मग्रथो मे से एक भी ऐसा नही जिसका सम्बन्ध धर्म की बाह्य बातो, किसी धार्मिक सघ के निरे अनुशासन सम्बन्धी नियमो, से हो जिनके पालन से कोई भिक्षु बाहर से तो पूर्ण भिक्षु बन जाता हो पर आवश्यक नही कि वह अन्दर से भी अच्छा आदमी बन जाए। राजा द्वारा निर्दिष्ट सब

सुत्त आत्मा को ऊँचा उठाने के सम्बन्ध मे है और वे सिर्फ भिक्षुओ पर ही नही, बल्कि साधारण उपासको पर भी लागू होते हैं। इसी कारण वह खोलकर कहता है कि इन सुत्तो को, न केवल भिक्षु और भिक्षुणी, वल्कि साधारण उपासक और उपासिकाएँ भी सुने और मनन करे। फिर, अशोक ने जो सुत्त चुने हैं उनमे वह सिर्फ उनको शामिल करके सतुष्ट नही हुआ जिनमे जीवन की उच्च अवस्था का वर्णन है या महान् और उदात्त चरित्र के उपादानो का विवरण है,— उसने उनका उल्लेख करने की भी सावधानी रखी है जो आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग मे सहायक और पथ-प्रदर्शक हैं। ऐसा एक सुत्त अनागत-भयानि है जिसमे "भविष्य के उन भयो और खतरो का" उल्लेख है जो मनुष्य की धार्मिक साधना के ध्येय की सिद्धि मे किसी भी क्षण पैदा हो सकते हैं और उसे हताश कर सकते है। इसमे कुछ विधि-निषेध हैं जिनका सार यह है कि आयु, रोग, दुर्भिक्ष, युद्ध और फूट आदि भविष्य की असभावित प्रतिकूल घटनाओ का ध्यान रखते हुए समस्त शक्तियो का उपयोग करना और सावधान तथा तपस्वी जीवन विताना चाहिए। इस तरह अशोक एक ऐसा ग्रथ प्रस्तुत करके ही सतुष्ट नही हुआ जिसमे जीवन की सर्वश्रेष्ठ रीति वर्णित है, बल्कि उसने एक ऐसे सुत्त पर भी वल दिया जिसमे उन खतरो का उल्लेख है जो सदा सतर्क और जागरूक न रहने वाले व्यक्ति की सिद्धि के मार्ग मे आते हैं और उसके प्रयत्नो को व्यर्थ कर देते है। पर अन्ततः ये खतरे बाहरी ढग के हैं। यह सही है कि हमे निरन्तर सचेत रहना चाहिए और अत्यधिक यत्न से उनसे बचना चाहिए। परन्तु फिर भी ये खतरे वाहरी परिस्थितियो पर निर्भर हैं जिन पर हमारा कोई नियत्रण नही। पर कुछ और भी खतरे हैं जो भीतरी ढग के हैं और जो

आध्यात्मिक सिद्धि मे उतने ही बाधक हैं जितने बाहरी खतरे। और इसलिए राजा ने राहुलोवाद सुत्त जैसे एक ग्रथ की ओर ध्यान खीचकर बडी बुद्धिमत्ता का काम किया है—इसमे बुद्ध ने अंबलट्ठिक राहुल को उपदेश दिया है और दीक्षा के समय तथा बाद, काय, वाणी और मन की प्रत्येक क्रिया की कड़ाई से जॉच करते रहने की परम आवश्यकता प्रतिपादित की है। अशोक ने जिन पुस्तको की सिफारिश की है उनसे, ऊँचे और उदात्त जीवन के लिए यत्न-वान् प्रत्येक व्यक्ति को, चाहे वह किसी भी धर्म या मत का मानने वाला हो, अवश्य शान्ति-लाभ करेगा।

साप्रदायिक ढग का एक और ध्यान देने योग्य लेखन अशोक का शासन या आदेश है, जो तीन विभिन्न स्थानो—सारनाथ, साची और इलाहाबाद—मे स्तम्भो पर उत्कीर्ण मिलता है। सारनाथ और साची वाले स्तभ शुरू से वही पर अवस्थित माने जाते हैं, पर इलाहाबाद वाले के विषय मे यह माना जाता है कि वह शुरू मे कौशाबी मे था, और यह ठीक ही माना जाता है। इस शासन द्वारा अशोक बौद्ध सघ की एकता कायम रखने के लिए सघ मे फूट डालने की सब कोशिशो को दबाने का यत्न करता है। वह कहता है, "जो भी कोई व्यक्ति, चाहे वह भिक्षु हो चाहे भिक्षुणी, सघ मे फूट डाले उसे श्वेत वस्त्र पहना दिये जाये और सघ से बाहर कर दिया जाए। यह आदेश भिक्षुओ के सघ और भिक्षुणियो के सघ को बता दिया जाए।" यह आदेश महामात्रो को सबोधित किया गया है, जैसा कि इनमे से दो लेखो से स्पष्ट है। इनमे से एक लेख से यह भी प्रकट होता है कि वह कौशाबी मे अवस्थित महामात्रो के लिए था। और यह जरा भी असभाव्य नही कि अन्य लेख भी मुफस्सिल जिलो के महामात्रो के लिए हो, जहाँ प्राचीन बौद्ध विहार शुरू मे अवस्थित

थे जिनके अवशेष अब सारनाथ और साची मे मिलते है। बौद्ध संघ मे फूट को रोकना अत्यधिक महत्वपूर्ण कार्य था। इसलिए इतना ही पर्याप्त न था कि उस संबंध मे जिलो के महामात्रों को सिर्फ आदेश जारी कर दिये जाए। इसलिए वह उसी प्रज्ञापन में यह भी कहता है,: "इस आदेश की एक प्रति संसरणा अर्थात् सभास्थान मे तुम्हारे देखने के लिए रख दी गयी है। और दूसरी प्रति ऐसे स्थान पर रख दो जहां उपासक लोग उसे देख सके। और उपासकों को प्रत्येक उपवास के दिन इसे पढना और इससे उत्साहित होना चाहिए। और प्रत्येक महामात्र को भी उपवासो के दिन अपनी बारी मे (मुख्यालय लौटने पर) इस आदेश को पढकर और समझकर उत्साहित होना चाहिए। और जहा तक तुम्हारा क्षेत्राधिकार है वहाँ तक तुम (मेरे इस आदेश के शब्द) अपने दौरे के समय पहुँचाओ। इसी प्रकार सब दुर्गयुक्त नगरो और (उनके) जिलों में तुम मेरे इस आदेश का प्रचार कराओ।"

इस प्रज्ञापन के शब्दो से स्पष्ट है कि अशोक बौद्ध संघ में से सब प्रकार की फूट और भेदभाव को समाप्त करने पर तुला हुआ था। इस कार्य की पूर्ति के लिए उसने तीन मार्ग पकडे। पहले तो उसने यह आदेश जारी किया कि जो संघ को तोड़ने की कोशिश करेगा उसे पीले भिक्षु वेष के स्थान पर श्वेत वस्त्र पहना दिए जाएँगे और ऐसे स्थान पर पहुँचा दिया जाएगा जहाँ भिक्षु नही रहते। दूसरे शब्दो मे, उसका अपने और साथियो से तत्काल सम्बन्ध-विच्छेद हो जाएगा। और क्योकि अशोक का आदेश प्रत्येक बौद्ध संघ को भेजा जाना है इसलिए यदि कोई झगडालू भिक्षु अपने संघ-विरोधी सिद्धान्त और भिक्षुओ के सामने रखना चाहेगा तो उसे इसमे स्वभावत. संकोच होगा। इस तरह फूट का तीन-चौथाई भय

दूर हो गया। पर सभव है कि इस तरह सघ से बाहर किया हुआ विरोधी भिक्षु उपासको को प्रभावित करने मे समर्थ हो जाए और उनकी सहायता समाज मे फूट पैदा करे। अशोक इस खतरे से सचेत है और इसलिए महामात्रो को इस आदेश की एक प्रति उपासको के देख सकने योग्य स्थान पर चिपकाने का आदेश देता है। प्रज्ञापन से यह पता नही चलता कि उनके देख सकने के लिए यह आदेश ठीक किस स्थान पर लगाया जाना था। पर असभव नही कि इसे निगम सभा (नगरपालिका भवन) मे लगाने का आशय हो जिसका लेखो और साहित्य, दोनो मे इतना अधिक वर्णन मिलता है।[1]

सारनाथ-कौशाबी-साची प्रज्ञापन से इस बात मे कोई सदेह नही रहता कि अशोक ने बौद्ध सघ मे फूट डालने के सब प्रयत्नो को दबाने का दृढ सकल्प कर लिया था। प्रज्ञापन के गभीर, बल्कि कठोर, लहजे से तथा इस तथ्य से कि इसकी प्रतियाँ महत्त्वपूर्ण बौद्ध विहारों वाले स्थानो पर मिली हैं, यह सहज ही अनुमान हो सकता है कि उसके समय मे बौद्ध सघ को फूट का कम से कम खतरा तो अवश्य पैदा हो गया था, और उसे रोकने के लिए अशोक ने पूरा यत्न किया। पर क्या, अशोक के समय मे बौद्ध सघ मे सचमुच कुछ विभाजन हो गये थे? प्रज्ञापन तो निःसन्देह फूट रोकने के आशय से जारी किया गया है, पर यह कहा जा सकता है कि बहुत सभाव्यतः सघ पहले ही कई भागो मे बँट गया होगा तथा अशोक ने और अधिक विभाजन को रोकने का यत्न किया होगा। सिहलीय-इतिवृत्त मे सुरक्षित बौद्ध किवदती मे बताया गया है कि अशोक के अभिषेक के अट्ठारह वर्ष के बाद पाटलीपुत्र मे एक बौद्ध परिषद् हुई थी, और उसी मे यह भी कहा गया है कि

१. वही, १९१९, पृ० ८२।

उस समय सघ दो मुख्य भागों—थेरवाद और महासघिक—में बँटा हुआ था, और पहले भाग की दो शाखाएँ हो गयी थी और पिछले की चार।[1] यदि हम इस किवदती को स्वीकार कर ले तो हमे यह मानना होगा कि अशोक के समय मे बौद्ध सघ न केवल विभागों में, बल्कि उपविभागो मे भी बँट चुका था। तो फिर उस प्रज्ञापन का क्या अर्थ हो सकता है जो फूट रोकने के उद्देश्य से जारी किया गया था? या हम यह मान ले कि अशोक सारे बौद्ध सघ की फूट को नही रोक रहा था बल्कि उस विभाग या उपविभाग की फूट रोक रहा था जिसमे वह स्वय था? निःसन्देह, यह कहा जा सकता है कि इस प्रज्ञापन मे अशोक का सघ से अभिप्राय बौद्ध धर्म के उस सम्प्रदाय से है जिसका वह स्वय सदस्य था। पर यदि हम एक बार इस विचार को मान ले तो हमे यह भी स्वीकार करना होगा कि अशोक ने जहाँ भी सघ शब्द का प्रयोग किया है वहाँ उसका अभिप्राय बौद्ध सघ के उसी विभाग से है। परन्तु यह निष्कर्ष मान्य नही प्रतीत होता। क्योकि स्तम्भ लेख ७ में, जिसमे उसने धर्म महामात्रो का उल्लेख किया है, उसने आजीवको और निर्ग्रन्थो के साथ सघ का उल्लेख किया है। तो क्या यहाँ हम यह मान ले कि इन धर्म महामात्रो को आजीविको और निर्ग्रन्थो की सुख-सुविधा का ध्यान रखने मे कोई मत या सम्प्रदाय का भेदभाव नही करना था, पर बौद्धो के बारे मे उन्हे सारे बौद्ध सघ के बजाय सिर्फ उस बौद्ध सम्प्रदाय के लोगो का ध्यान रखना था जिसे अशोक मानता था और संघ के अन्य विभागो और उपविभागो की ओर दृष्टिपात नही करना था? इसी प्रकार भाब्रू प्रज्ञापन में, जैसा कि हम देख चुके हैं, वह सघ के पढने के लिये कुछ धार्मिक

१. कर्न मैनुअल आॅफ इण्डियन बुद्धिज्म, पृ० ११०–१।

ग्रन्थ गिनाता है। ये ग्रन्थ साम्प्रदायिक तत्त्वो से इतने रहित हैं कि जो भिक्षु बौद्ध नही हैं वे भी इन्हे प्रसन्नता से पढ-सुन सकते हैं। और क्या हम यह मान ले कि बौद्धो मे से हर बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणी को वे ग्रन्थ न पढाए जाएँ बल्कि सिर्फ उनको पढाए जाएँ जो अशोक के सम्प्रदाय के थे । यदि हम इन बेहूदी बातो को नही मानना चाहते तो यही स्वीकार करना वाछनीय प्रतीत होता है कि अशोक के समय बौद्ध सघ मे विभाजन नही था, और कि जहाँ वह सघ शब्द का प्रयोग करता है वहाँ उसका अभिप्राय सारे अविभाजित बौद्ध सघ से है। तो फिर उस बौद्ध किवदती का क्या मतलब है ? जिन विद्वानो ने बौद्ध परिपदो सम्बन्धी इन किवदन्तियो की सचाई जाँचने की कोशिश की है उसके समक्ष ऐसी बेहूदगियाँ और असगतियाँ प्रस्तुत हो गयी और उन्हे इतनी अधिक मतवादी और साम्प्रदायिक प्रवृत्ति दिखाई पडी कि इन किवदन्तियो मे कही गयी अत्यल्प बात को ही ऐतिहासिक सत्य माना जा सकता है।[1] इस प्रकार पाटलीपुत्र मे हुई परिषद् कोई बडी, सब सम्प्रदायो की परिषद् नही मालूम होती—यह किसी सम्प्रदाय-विशेष की परिषद् मालूम होती है—और दूसरी बडी परिपद्, जो वैशाली मे हुई थी, बहुत सभाव्यतः बुद्ध के एक शताब्दि बाद नही हुई बल्कि अशोक के समय ही हुई और अशोक की ही किवदन्ती मे कालाशोक, अर्थात् काला अशोक, कहा गया है—बौद्ध होने से पहले उसका पापी का रूप ही चित्रित किया गया है।[2] यह अनुमान उसके प्रज्ञापनो के साथ अधिक सगत है। क्योकि, द्वितीय महापरिपद् के

१ वही, पृष्ठ ११०, जिसमे इस विपय पर स्व. प्रो कर्न की सम्मति दी हुई है ।

२ वही, पृ. १०६; JRAS, १६०१, पृ. ८५५-८ ।

समय, बौद्ध संघ में अभी फूट नहीं पड़ी थी, पर फूट पड़ने का खतरा पैदा हो गया था क्योंकि वज्जन भिक्षुओं ने अनुशासन के सम्बन्ध में दस प्रश्न उठाये थे।[1] वज्जन भिक्षु पराजित हो गये और उस समय संघ फूट से बच गया। अशोक के शासन-लेख भी, जैसा कि हम अभी देख चुके हैं, इसी अनुमान का समर्थन करते हैं कि संघ से सम्राट् का आशय सारे बौद्ध संघ से है, उसके किसी भाग विशेष से नहीं, अर्थात् सारे अविभक्त बौद्ध संघ से है और कि उसके समय में फूट डालने का कोई यत्न अवश्य किया गया होगा क्योंकि अन्यथा प्रवर्तित धर्म के विरोध को दबाने के लिये उसकी शासक कार्यवाही का कोई मतलब नहीं रहता।

कभी-कभी यह प्रश्न किया जाता है कि बौद्ध संघ की दृष्टि से अशोक की क्या स्थिति थी। अपने धर्म के संघ के साथ उसका व्यवहार अधिपति जैसा था या अनुगत जैसा? यदि इस प्रश्न का उत्तर हम किसी अभिलेख से पा सकते हैं तो वे उपर्युक्त दो ही प्रज्ञापन हैं अर्थात् सारनाथ और भाब्रू के प्रज्ञापन। इनमें से पहला, जैसे कि हम देख चुके हैं, आशंकित फूट को शुरू में ही दबाने का एक प्रयत्न है। दुर्भाग्य से, इस लेख का प्रारम्भिक अंश बहुत-कुछ मिट गया है, और इस कारण हम यह नहीं जान पाते कि महामात्रों को यह किस रीति से निश्चय करना था कि अमुक भिक्षु या भिक्षुणी धर्म-विरोधी है या नहीं। क्या इस बात का निर्णय संघ के बहुमत से करना था और महामात्रों को सिर्फ उसके निर्णय के अनुसार ही चलना था? यदि सारनाथ प्रज्ञापन का नष्ट अंश सुरक्षित होता तो संभाव्यत इस प्रश्न पर कुछ प्रकाश पड़ा होता। पर यह स्मरण रहना चाहिए कि अशोक ने इस अभिलेख को शासन का

१. कर्न, उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ १०३।

आदेश कहा है, और कि राजा ने महामात्रो को आज्ञा दी है कि वे उसका आदेश अपने प्रदेश के अन्दर विद्यमान प्रत्येक भिक्षु-सघ या भिक्षुणी-सघ को बता दे। यदि यहाँ वह सिर्फ उस निश्चय को लागू कर रहा है जो स्वय बौद्ध सघ की महासभा ने पूर्ण और परिपक्व विचार के बाद किया है, तो छोटे सघो मे इस प्रकार के आदेश की घोपणा करना सर्वथा अनावश्यक है। इस प्रकार प्रतीत होता है कि उसने वह आदेश अपने सघ से बिना पूछे, और बिना उसे जताये जारी किया था—सभाव्यत सघ मे प्रशासन की वह प्रणाली भी नही थी जो आज यूरोप मे ईसाई चर्च मे विद्यमान है। सभवतः उसकी राजधानी मे कुछ थेर अर्थात् वरिष्ठ भिक्षु रहते होगे जो उसे यह बताते होगे कि किसी विशेष मामले मे कोई धर्म-विरोधिता है या नही, परन्तु राजा अपनी लौकिक सत्ता के बल और अधिकार द्वारा इसे सर्वथा मिटाना चाहता था। भाब्रू प्रज्ञापन के विवेचनात्मक अध्ययन से भी यही अनुमान निकलता मालूम होता है। इसमे अशोक कुछ बौद्ध ग्रन्थो के नाम गिनाता है और वे न सिर्फ उपासको से बल्कि मुख्यतः भिक्षुओ से पढने का अनुरोध करता है। फिर, वह कहता है कि भिक्षु इन ग्रन्थो को न केवल सुने बल्कि इनका मनन भी करे, यद्यपि वह स्वय सिर्फ उपासक है। और यह सब अशोक क्यो कर रहा है? ताकि सद्धर्म चिरस्थायी रहे। नि सदेह, यह सच है कि उसने जिन धार्मिक ग्रन्थो का उल्लेख किया है वे कर्मकाड या दार्शनिक पहेलियो से शून्य हैं, और ठीक इस प्रकार के हे कि उनसे आध्यात्मिक उन्नति हो सके, पर यह बात निर्विवाद है कि वह अपने ही उद्देश्य की सिद्धि कर रहा है, और यह भी वह स्वय सोची हुई ऐसी विधि से कर रहा है जिसका न केवल उपासक, बल्कि भिक्षु भी बिना ननुनच के अनुसरण करते

हैं। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि वह न केवल अपने साम्राज्य का वल्कि अपने से सबधित सघ का भी अधिष्ठाता था। दूसरे शब्दों मे वह जितना सासारिक कार्यों मे शासक था, उतना ही सघ के कार्यों मे भी था। परन्तु यह आरोप लगाना उचित नही कि अशोक ने सघ की शासन-शक्ति को हथिया लिया। क्योकि बुद्ध ने स्वय यह आदेश दिया है कि राजा की प्रसन्नता के लिए मेरे उपदेशो को भी भूल जाओ और भिक्षुओ को राजाज्ञा पालन करने का आदेश दिया है।[1] और जब वह राजा अशोक जैसा हो, जो उनके धर्म मे सच्ची आस्था रखता हो और इसे विश्व धर्म की स्थिति मे पहुँचा रहा हो, तब तो सघ स्वभावत और प्रसन्नता से उनका नेतृत्व स्वीकार करेगा।

१. महावग्गा, III. ४।

अध्याय ४

अशोक का धम्म

दूसरे अध्याय मे हम देख चुके हैं कि अशोक ने अपनी प्रजा के ऐहिक लाभ के लिए क्या किया और अब हम राजा के रूप मे उसका एक खाका अपने-अपने मन मे बना सकते हैं। निःसंदेह उसने अपनी प्रजा के ऐहिक लाभ के लिए बड़ा कठोर यत्न किया। पर जिस बात ने अशोक को जगत्प्रसिद्ध किया है, और सच तो यह है कि जो मुख्य ध्येय सदा उसके मन मे रहता था और जिसकी सफलता पर वह अभिमान करता था, वह था मनुष्य का आध्यात्मिक लाभ, जिसे वह धम्म नाम से कहना पसन्द करता था, उसका न केवल अपने साम्राज्य मे, बल्कि अपने स्वाधीन पड़ौसियो के राज्यो मे भी प्रसार। इसलिए उचित यह है कि सबसे पहले हम यह निश्चय करे कि अशोक धम्म का ठीक-ठीक क्या अर्थ लगाता था। इस प्रश्न का वह स्पष्ट उत्तर देता है और वह धम्म के अन्तर्गत आने वाले गुण ही नही बताता, उसके विशेष आचार भी बताता है, जिनका पालन करने के लिए अपनी प्रजा से कहते-कहते वह कभी नही थकता। स्तम्भ लेख २ और ७ मे अशोक वे गुण बताता है जो उसकी सम्मति मे धम्म के उपादान हैं। उसकी सम्मति मे धम्म के उपादान हैं (१) **साधवे** या **बहु-कयाने** अर्थात् सत्कार्य प्रभूत, (२) **अप-आसिनवे**, अर्थात् दुष्कार्य अल्प, (३) **दया**, (४) **दान**, अर्थात् उदारता, (५) **सचे**, अर्थात् सत्यवादिता, (६) **सोचये**, अर्थात् पवित्रता,

और (७) मार्दव अर्थात् मृदुता। पर इन गुणो को व्यवहार मे कैसे लाया जाएगा ? अशोक इस सिलसिले मे कर्त्तव्यो की कई गणनाएं करता है जो विभिन्न लेखो मे थोडी-थोडी भिन्न हैं। इन्हे सक्षेप मे इस प्रकार रखा जा सकता है: अनारंभो प्राणानां 'प्राणवान्' जन्तुओ की अ-हत्या, अविहिसा भूतानां, 'अस्तित्ववान्' जतुओ की अ-क्षति, मातरि पितरि सुस्रूसा, माता-पिता की शुश्रूषा, थेर-सुस्रूसा, वृद्धो की शुश्रुषा, गुरूणा अपचिति, गुरुओं का समादर; मित सस्तुत-नातिकानां बम्हण-समणानां दानं संपटिपति, मित्रो, परिचितो और सबधियो के प्रति तथा ब्राह्मण और श्रमण साधुओं के प्रति उदारता और सम्यक् व्यवहार, दास-भतकम्हि सम्यप्रतिपति, दासो और नौकरो से सम्यक् व्यवहार, और सिर्फ एक लेख (शि० प्र० ३) मे अप-व्ययता और अपभाडता, अल्प व्यय और अल्प सचय। सब स्थानो और सब कालो के लिए अशोक ने संसार को जो सदेश दिया, यह उसका एक भाग है। यह सामान्य प्रचलित बातो जैसा लगता है पर फिर भी कितना स्पष्ट, सरल और सत्य है! वह हमें दया, दान, मार्दव आदि का व्यवहार करने के लिए कहकर ही सतुष्ट नही होता, बल्कि यह भी बताता है कि इन गुणों को व्यवहार मे कैसे लाना है। इस तरह दया का अर्थ है अनारंभो प्राणानां अविहिसा भूतानां, जतुओ की अहत्या और उन्हे चोट न पहुँचाना; दान का अर्थ है मित्रो, परिचितो और सम्बन्धियो से तथा साधुओं से, चाहे वे ब्राह्मण हो, चाहे श्रमण, उदार व्यवहार करना, और मार्दव माता-पिता तथा वृद्धो की शुश्रूषा से, तथा सम्बन्धियो और ब्राह्मण व श्रमण साधुओ के साथ-साथ दासो और नौकरो से भी सम्यक् व्यवहार से प्रकट होगा।

अशोक को अपने सदेश का यह भाग इतना प्रिय है कि वह

अपने प्रज्ञापनो मे इसे बार-बार दोहराकर प्रसन्न होता है। शिला प्रज्ञापन १४ मे वह स्पष्ट स्वीकार करता है कि कुछ शब्द अपने अर्थ की मधुरता के कारण बार-बार दोहराये गये हैं। धम्म शब्द और इसका अर्थ उसे इतने मधुर लगते हैं कि वह न केवल धम्म के उपादान-रूप कर्त्तव्यो को दोहराता है, बल्कि धम्म तथा जीवन के सामान्य आचरणो की तुलना करके, और दोनो मे से धम्म की श्रेष्ठता सिद्ध करके इसकी महिमा भी प्रतिपादित करता है। इस प्रकार शिला प्रज्ञापन ९ मे वह धम्म या जिसे वह धम्म मंगल कह कर पुकारता है उसका, सुख-प्राप्ति और दुखनिवृत्ति के लिए किये जाने वाले मगलो या मागलिक कृत्यो से, जो हिन्दू समाज मे अशोक के समय भी लाखो थे, मुकाबला करता है। वह उस प्रज्ञापन मे कहता है: "लोग रोगो, विवाहो, और पुत्रो के जन्म पर तथा यात्राओ के समय अनेक मागलिक कृत्य करते हैं ·· ··· ····। पर इस प्रसग मे स्त्रियाँ, अनेक प्रकार के (पर) क्षुद्र, बहुत निरर्थक कृत्य करती हैं। मंगल-कृत्य अवश्य किये जाने चाहिएँ, पर इस प्रकार के कर्मकाड का बहुत कम लाभ होता है। पर धम्म मगल (या धम्म की पूर्ति कराने वाले कृत्यो) से बहुत लाभ होता है।" और इसके बाद वह वे कर्त्तव्य समझाता है जो उसकी शिक्षाओ का व्यावहारिक रूप हैं और जो अभी गिनाये गये हैं। इसी प्रकार, शिला प्रज्ञापन ११ मे वह दान यानी सामान्य दान और धम्मदान का वैषम्य प्रस्तुत करता है। वह हमे बताता है कि धम्मदान दान का उच्चतम रूप है, और इसका अर्थ है किसी को धम्म बताना, धम्म मे भाग लेना, और इस प्रकार धम्म से सबद्ध हो जाना। और इस धम्म के स्पष्टीकरण के लिए वह फिर अपने नैतिक आचार गिनाता है, और अन्त मे कहता है कि यह धम्मदान कोई

भी किसी को कर सकता है—पिता पुत्र को, पुत्र पिता को, भाई एक-दूसरे को, और वास्तव में तो, प्रत्येक व्यक्ति अपने पड़ोसी को धम्मदान कर सकता है। इसी तरह शिला-प्रज्ञापन १३ में अशोक सामान्य विजय और धम्म-विजय, अर्थात् धम्म द्वारा और ऐसी रीति से विजय कि दूसरे की उन्नति हो, में तुलना करता है। इस प्रसग मे वह अपनी कलिग की सैनिक विजय की चर्चा करता है, और बडे भारी हृदय से तथा कुछ लज्जा के साथ उस युद्ध में हुए सैनिक हत्याकाण्ड का तथा उन सैनिकों के सम्बन्धियों को हुए घोर दुःख और शोक का उल्लेख करता है। प्रत्येक सैनिक विजय के साथ ये क्रूरतापूर्ण कार्य अनिवार्य हैं। पर धम्म के द्वारा जो विजय प्राप्त होती है वह प्रीतिरस अर्थात् प्रेम से सुरभित होती है और वह न केवल उसके साम्राज्य के वहिर्वर्ती प्रान्तों में बल्कि उसके पड़ोसियों के राज्यो मे भी की जा सकती है, चाहे वे भारत में हैं और चाहे वे भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमान्त से परे हैं, जहाँ यवन अर्थात् यूनानी राजा एंटियोकस थिओस, टॉलेमी फिलाडेल्फोस इत्यादि राज्य करते हैं।

इस प्रकार हम देख चुके हैं कि अशोक के धम्म में क्या-क्या आचरण शामिल हैं। पर उसके धम्म का इतना ही अर्थ समझने से काम न चलेगा। ये गुण और आचरण सिर्फ उसका विधायक रूप हैं। पर अशोक के धम्म का एक निषेधात्मक पहलू भी है और वह एक शब्द, अप-आसिनव, अर्थात् यथासभव न्यूनतम आसिनव, में प्रकट किया जा सकता है। पर आसिनव, किसे कहते हैं ? अशोक इस प्रश्न का उत्तर स्तभ प्रज्ञापन ३ मे देता है जिसमे उसे वह पाप के समकक्ष रखता है और उन हानिकर विकारो का उल्लेख करता है जिनके परिणामस्वरूप आसिनव होता है। वे है : चंडिये, प्रचडता,

निठुलिये, निर्दयता, कोधे, क्रोध, माने, घमड, और इस्या, ईर्ष्या। इस प्रकार धम्म की पूर्ण और पर्याप्त पूर्त्ति के लिए अशोक द्वारा गिनाये गये कर्त्तव्यो का पालन करना ही काफी नही है, इन विकारो से मुक्त होना भी आवश्यक है।

स्पष्ट है कि इस प्रकार अशोक के पास ससार के लिए एक सुनिश्चित सदेश था। और यह खेद की बात है कि इस बात को अभी स्पष्ट रूप से पहचाना नही गया। धम्म के विधायक पहलू के सम्बन्ध मे, वह न केवल धम्म के उपादानरूप गुणो का उल्लेख करता है बल्कि उन नैतिक आचरणो का निर्देश भी करता है जिनमे वे गुण प्रत्यक्ष होते है। अपने धम्म के निषेधात्मक पहलू के बारे मे, उसने वे हानिकारक विकार गिना दिये हैं जो मनुष्य को पाप और अध पतन (आसिनव) में प्रेरित करते हैं, और हमे इनसे यथासभव मुक्त रहने के लिए उद्बोधित करता है। पर वह इतने पर ही नही रुकता। एक सच्चे पैगबर की तरह उसने स्पष्ट रूप से समझ लिया है कि आत्मिक उन्नति मे कौन सी बाधाएँ हैं, और ऐसा उपाय सुझाया है जिससे हम अपनी धार्मिक उन्नति निर्विघ्न करते रह सके। यह उपाय है आत्म-निरीक्षण और वह हमारे मन मे यह बात बिठा देता है कि धम्म की वास्तविक वृद्धि के लिए आत्म-निरीक्षण परमावश्यक है। सामान्यतः लोग समझते हैं कि आत्म-निरीक्षण का विचार ईसाइयत मे पैदा हुआ और वही आचरण में आया, और इसलिए यह संदेह उठना स्वाभाविक है कि क्या सचमुच अशोक ने आत्म-निरीक्षण करने को कहा था। पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि बुद्धघोष ने अपने विसुद्धि मग्ग मे पच्छवेक्खन का उल्लेख किया है, और इस शब्द का अर्थ 'अन्त करण की परीक्षा' या 'आत्म-निरीक्षण' किया है। और पच्छवेक्खन का यह विचार

उसने स्वय बुद्ध से लिया है जिसने अपलट्ठि क-राहुल को इसका उपदेश किया था। राहुल को दिया हुआ बुद्ध का प्रवचन मज्झिम नेकाय मे है, और यह निःसदेह उन सदर्भो मे है जिनको अशोक ने भाब्रू प्रज्ञापन मे अत्युपयोगी बताया है, जैसा कि हम पिछले अध्याय मे देख चुके ह । उसमे बुद्ध राहुल को उपदेश देता है कि शरीर, वाणी और मन के प्रत्येक कार्य की, करने से पहले भी और पीछे भी परीक्षा करो । परन्तु अशोक अधिक मानवीय है और वह हमे अपने सारे चरित्र का निरीक्षण करने के लिए कहता है और इस प्रकार हमारे क्रिया-कलाप को अधिक व्यापक दृष्टिकोण से देखता है । अपने स्तम्भ प्रज्ञापन ३ मे वह कहता है . "मनुष्य सिर्फ अपने भले काम को देखता है और अपने आपसे कहता है कि 'मैने यह भला काम किया है ।' वह अपना पाप कभी नही देखता और न कभी यह कहता है कि 'मैंने यह पाप किया है', या 'यह सचमुच आसिनव है ।' पर यह ऐसा मामला है जिसमे आत्म-निरीक्षण करना कठिन है । पर फिर भी मनुष्य को इसका ध्यान रखना चाहिए और सोचना चाहिए कि इस-इस तरह के विकारो से आसिनव (अध.पतन) होता है, और उनके कारण मेरा पतन हो जाएगा । इस स्थान पर अशोक वे हानिकारक विकार गिनाता है जिनसे आसिनव होता है, और वे विकार कौनसे हैं, यह हम पहले ही देख चुके हैं । स्पष्ट है कि यहाँ अशोक मानव की इस स्वाभाविक प्रवृत्ति का उल्लेख कर रहा है कि वह अपने किये हुए अच्छे काम को तो याद रखता है और उसकी चर्चा करता है, पर अपने किए हुए अशुभ कार्य या पाप को वह न देखता है और न उस पर दु खी होता है। इसलिए अशोक ठीक ही कहता है कि मनुष्य के लिए आत्म-निरीक्षण करना और अपने किए हुए पाप को देखना बडा कठिन है।

पर वह इस भय से आत्म-निरीक्षण करने पर बल देता है कि कही मनुष्य स्वय अपना पतन न कर ले। यदि ईसाइयो का आत्म-निरीक्षण यही चीज नही है तो यह समझना जरा मुश्किल है कि आत्म-निरीक्षण वास्तव मे क्या है। वह शब्द भी ध्यान देने योग्य है जो अशोक ने यहाँ 'आत्म-निरीक्षण' के लिए प्रयुक्त किया है। यह शब्द पटिवेखा है, और यदि रूप की थोडी अनियमितता का खयाल न करे तो यह बिलकुल वही है जो पच्छवेक्खन है, जिसका प्रयोग स्वय बुद्ध ने 'अन्तःकरण का निरीक्षण' के अर्थ मे किया है, जैसा कि हम ऊपर देख चुके है। इसलिए इसमे सदेह का अवकाश नही है कि अशोक ने अपनी प्रजा को 'आत्म-निरीक्षण' की शिक्षा दी थी और इसे वह आत्मिक उन्नति के लिए परमावश्यक मानता था।

अशोक के धम्म के नियमो को पढने वाला उसकी शिक्षाओ के रूप की अत्यधिक सरलता से प्रभावित हुए बिना नही रह सकता। उसके धम्म को सब धर्मो की साझी सम्पत्ति कहा जा सकता है। वह हमे जो गुण और आचरण धारण करने के लिए कहता है वे ठीक वही है जिन्हे सब धर्म अनुकरणीय बताते है। इसलिए स्वभावत यह बात मुख पर आना चाहती है कि उसकी शिक्षाओ मे कोई नवीनता या मौलिकता नही है। शिला प्रज्ञापन १३ मे वह स्वय इतनी बात स्वीकार करता है—उसमे वह कहता है कि "यवनो को छोडकर और कोई ऐसा देश नही जहाँ ब्राह्मण और श्रमण सघ न हो," और किसी भी देश मे ऐसा कोई स्थान नही जहाँ लोग एक न एक मत मे आस्था न रखते हो" और कि, वास्तव मे सर्वत्र ब्राह्मणो के, श्रमणो के, तथा अन्य, मत है और गृहस्थी लोग है, जिनमे वृद्ध-शुश्रूषा, पितृ-शुश्रूषा, गुरु-शुश्रूषा, शिष्ट व्यवहार और मित्रो,

परिचितो, साथियो और सम्बन्धियो से, तथा दासो और भृत्यो से अटल प्रेम आदि आचरण प्रचलित हैं।" क्या इससे यह ध्वनित नही होता कि अशोक यह स्वीकार करता है कि उसका धम्म, जिनमे इन कर्त्तव्यो का पालन करना होता है, सब सप्रदायो मे सामान्य रूप से विद्यमान चीज है। ठीक इसी कारण एक अन्य स्थान पर (शिला प्रज्ञापन ७) वह अपनी यह उत्कट अभिलाषा व्यक्त करता है कि "(उसके राज्य मे) सब मतो के व्यक्ति सब स्थानों पर रह सके क्योकि वे सब मत आत्म-सयम और हृदय की पवित्रता चाहते हैं।" "परन्तु लोगो की," वह आगे कहता है, "रुचियाँ और अनुराग भिन्न-भिन्न हैं, इसलिए वे इन बातो का पूरा या थोडा पालन करते हैं। मनुष्य कितना भी दान करे, पर यदि उसमे सयम और भावशुद्धि नही तो निश्चय ही वह नीच है। अशोक का आशय यह है कि सयम और भावशुद्धि ऐसे श्रेष्ठ गुण हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने मे इनका विकास करना चाहिए। इन गुणो की शिक्षा प्रत्येक सम्प्रदाय देता है, और ये गुण ही किसी सम्प्रदाय के उपदेशो का मुख्य अश हैं। किसी सप्रदाय का कोई सदस्य सारे उपदेश पर आचरण करेगा, यह सदिग्ध है। पर उसके लिए इन दो गुणो को अपने अन्दर पैदा करना परम आवश्यक है—इन दो गुणों के अभाव को दान, कृतज्ञता या भक्ति द्वारा पूरा नही किया जा सकता। यही उद्बोधन अशोक ने अधिक स्पष्ट भाषा मे और अधिक विस्तार से शिला प्रज्ञापन १२ मे प्रस्तुत किया है। इस प्रज्ञापन मे विभिन्न धर्मो के प्रति उसकी सच्ची भावना का चित्रण है और इसलिए यह इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसका पूरा साराश यहाँ देने के लिए क्षमायाचना की कोई आवश्यकता नही। अशोक कहता है कि मैं दान और अपने धर्म के प्रति बाहरी आदर को उतना महत्त्व नही देता जितना इसके सार

की वृद्धि (सारवढि) को। यह सारवृद्धि अनेक प्रकार की है पर इसका मूल, वाणी का सयम है। दूसरे शब्दो मे, मनुष्य को अपने धर्म के प्रति आदर-प्रदर्शन, और दूसरे के धर्म की अकारण निन्दा नही करनी चाहिए। इसके विपरीत एक न एक कारण से अन्य धर्मों के प्रति आदर प्रदर्शित करना चाहिए। इस तरह करके मनुष्य अपने सप्रदाय को ऊँचा उठाता है और दूसरे के सप्रदाय की सेवा करता है। ऐसा न करके वह दोनो को हानि पहुँचाता है। जो मनुष्य अपने सप्रदाय का आदर करता है और इससे अनुराग के कारण तथा उसकी उन्नति की इच्छा से दूसरे के धर्म की निदा करता है वह वास्तव मे इसे बड़ी क्षति पहुँचाता है। तो इन परिस्थितियो मे कौनसा मार्ग ग्रहण करना चाहिए? अशोक का उत्तर यह है कि "लोग एक-दूसरे के धम्म को सुने और भविष्य मे सुनने की इच्छा रखे।" इसका क्या परिणाम होगा? अशोक इसका इस तरह वर्णन करता है। पहले वह कहता है कि इससे सब सप्रदायो की जानकारी और ज्ञान मे वृद्धि होगी (बहु-श्रुत) और ससार का कल्याण (कल्याण-आगम) होगा। वह यह भी कहता है कि इस प्रकार अपने सप्रदाय की उन्नति (आत्म-पासंडावढि) और धम्म का प्रकाश (धम्मस दीपना) होगा। अशोक शिला प्रज्ञापन १२ मे वास्तव में यही कहता है और आज के युग के लिए भी मनन की सामग्री प्रदान करता है। उसका अभिप्राय यह है कि अधिक विस्तृत अर्थो मे प्रत्येक धर्म के दो पहलू होते हैं: (१) सैद्धान्तिक, और (२) आचार-सम्बन्धी। सैद्धान्तिक पहलू मे कर्म-काड, और धार्मिक ग्रथो आदि का बौद्धिक विवेचन आता है। धर्म का आचार-सम्बन्धी रूप वह है जो एक समझदार, सच्ची भावना वाला आदमी स्वभावतः करेगा, और यही धर्म का सच्चा रूप है, दूसरे शब्दो मे, आजकल

की शब्दावलि मे कहे तो यह अन्तःकरण को छूता है। जहाँ तक धर्म के सैद्धान्तिक अंग का प्रश्न है, उसके न केवल विश्वासों के बारे मे, बल्कि किए जाने वाले कर्म-काड के बारे मे भी विभिन्न और परस्पर-विरोधी विचार होने स्वाभाविक है। ऐसा होना अवश्यंभावी है क्योकि मानवीय बुद्धि बहुत भिन्न-भिन्न होती है। पर जहाँ तक धर्म के आचार-सम्बन्धी पहलू का सम्बन्ध है, उन नैतिक गुणो और नैतिक आचारो के बारे मे, जो हमे अपने व्यवहार मे प्रदर्शित करने चाहिएं, किसी का कोई मतभेद या विरोध नहीं है, बल्कि पूर्ण मतैक्य है। ऐसा होना भी चाहिए, क्योकि अन्तःकरण, सत्य और असत्य की भावना, भिन्न-भिन्न नहीं हो सकती। इसलिए किसी धर्म का आचारीय पहलू कोई ऐसी चीज नहीं हो सकती जो उसी धर्म की विशेष चीज हो—यह तो सब धर्मों की सामान्य सम्पत्ति होगी। यह वास्तव मे सब धर्मों का सार है और अशोक जिस धर्म की शिक्षा देता है तथा जिस पर हमने अब तक विचार किया है, वह वास्तव मे यह सार ही है। दूसरी ओर, ज्योंही हम अपनी बुद्धि की लगाम ढीली करते है त्योंही कर्म-काड और धार्मिक सिद्धान्तो से सम्बन्धित प्रश्नों पर अनन्त विवाद करने की गुंजाइश हो जाती है, और अधिकतर यह विवाद निरा शुष्क कलह होता है। इसके ही कारण लोग, उपयुक्त अवसर न होने पर भी अपने सम्प्रदाय की प्रशसा करते हैं या दूसरो के सम्प्रदायो की अकारण निंदा करते हैं—वास्तव मे इस मतांधता के विरुद्ध ही, जैसा कि हम देख चुके हैं, अशोक ने अपनी शक्तिशाली आवाज उठायी है। अशोक ने जिस कठोर भाषा मे अपना विरोध प्रकट किया है उससे स्पष्ट है कि उसके समय मे अपने धर्म को बड़ा बताने, और दूसरे के धर्म की बुराई करने की बड़ी प्रवृत्ति थी और सैद्धान्तिक प्रश्नों

पर विभिन्न सप्रदायो मे प्राय गरमागरम और कटु विवाद हुआ करते थे जिनमे धर्म के सार की उपेक्षा होती थी। इस बारे मे और सुनिश्चित जानकारी मिल सकती है कि वास्तव मे किस-किस जगह यह शत्रुता की भावना फैली हुई थी। क्योकि अशोक हमे स्पष्ट रूप से बताता है कि सप्रदायो मे पारस्परिक सहानुभूति और सौहार्द पैदा करने का कार्य धर्म-महामात्रो स्त्र्यध्यक्ष-महामात्रो और वच भूमिको को सौपा गया था। हम जानते है कि धर्म-महामात्र सब सप्रदायो के लिए थे, जिनमे सबसे मुख्य सप्रदाय ब्राह्मण आजीविक, निर्ग्रन्थ और बौद्ध थे। और क्योकि इन अफसरो को इस उद्देश्य-पूर्ति का आदेश दिया गया है, इसलिए यह स्पष्ट है कि इन सप्रदायो मे विरोध और कटुता की भावना थी। स्त्र्यध्यक्ष-महामात्र तो निश्चित रूप से स्त्रियों के कल्याण और सुख का प्रयत्न करने के लिये थे। और क्योकि उन्हे इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कहा गया है, इस-लिए यह स्पष्ट है कि साप्रदायिक जोश और असहिष्णुता स्त्रियो मे भी दिखाई दे रही होगी। खेद है कि अभी हम यह नही जानते कि वचभूमिक कौन थे और वे क्या करते थे। पर इतनी बात काफी स्पष्ट है कि धार्मिक जोश मे अपने सप्रदाय की प्रशसा और दूसरे के सप्रदाय की निन्दा की प्रवृत्ति उस समय के सभी सप्रदायो मे दृष्टिगोचर हो रही थी, और कि स्त्रियाँ भी, जो स्वभावत अधिक धार्मिक भावना वाली होती है, इससे मुक्त नही थी। इसलिए जिस समय अशोक हुआ और उसने प्रचार किया उस समय धार्मिक मताधता और साप्रदायिक भावना सब जगह व्याप्त थी। और ऐसे समय जबकि लोगो का ध्यान धर्म के सारभूत अग के बजाय निःसार अग पर गडा हो, सारभूत और निःसार मे कोई भेद करने के लिए और ससार के समक्ष उसे उद्घोपित

करने के लिए एक पैगम्बर की वेधक अन्तर्दृष्टि और धार्मिक शक्ति की आवश्यकता हुआ करती है। असल मे अशोक ने यही काम किया है। सव सतो की तरह उसके मन की भी मौलिकता यही है कि उसने सव सप्रदायो मे समान रूप से विद्यमान धर्म के सार पर अपना ध्यान केन्द्रित किया, और वह भी ऐसे समय जवकि वे सप्रदाय इस वात को भूल चुके थे। उसने जिन उपायो से जनता का ध्यान धर्म के नि.सार भाग से हटाकर सारवान् भाग की ओर लगाने की कोशिश की, वे वड़े मनोरजक है। वह लोगो से कहता है कि एक-दूसरे के धम्म को सुनो और अधिकाधिक सुनने की कामना करो—यहा धम्म शव्द से उसका अभिप्राय सिर्फ आचार से नही है, वल्कि किसी सप्रदाय के कर्म-काड और धार्मिक सिद्धान्तो से भी है। इस कार्य का यह परिणाम होगा कि उन्हे फौरन यह पता चल जाएगा कि यद्यपि एक सप्रदाय दूसरे से भिन्न है, पर उनमे वहुत सी वाते एक-सी हें। इस प्रकार लोगों का ध्यान एक-सी वातो की ओर जाएगा और स्वभावतः वे इस निष्कर्प पर पहुँचेगे कि यही वाते धर्म का सार हैं। जव इस तरह धर्म के सार का पता चल जाएगा और उस पर वल दिया जाएगा तव लोग इस पर आचरण करना अपना प्रथम कर्त्तव्य समझेंगे और इसके परिणामस्वरूप धर्म का प्रकाश (धम्म दीपना) होगा, और इस प्रकार वे सप्रदाय ससार के कल्याण (कल्याण-आगम) मे योग दे रहे होगे। पर एक सच्चे विचारक की तरह अशोक ने धर्म के निःसार अर्थात् कृत्यात्मक पहलू की भी उपेक्षा नही की जिसमे कर्म-काड और धार्मिक सिद्धान्त होते हें और जो नैतिक या धार्मिक भावना की अपेक्षा वुद्धि को अधिक अपील करते हैं। एक दूसरे के धम्म को सुनते हुए, जैसा कि अशोक ने चाहा था, लोगो के विभिन्न सप्रदायो के सैद्धान्तिक दृष्टिकोण भी सुनने और विचारने

का अवसर मिलता है। इस प्रकार वे अनेक सप्रदायो द्वारा परिवर्धित किए गए दर्शन, प्रकृति ज्ञान और कर्म-काड के विभिन्न रूपो पर विचार करके ठीक-ठीक चुनाव कर सकेगे। परिणामत वे बहुश्रुत अर्थात् बहुत सी बातो के जानकार हो जायेगे, और कर्म-काड तथा धार्मिक सिद्धान्तो की कोई सतोपजनक रीति स्वय निकाल सकेगे। जब लोग इस तरह एक-दूसरे के धम्म को सुनते है, और धर्म के सार को समझते है, और इसके आचरण पर बल देते हैं, और विभिन्न सप्रदायो के कर्म-काडो और धार्मिक सिद्धान्तो की विवेचना करके अपना एक अलग मत स्थिर कर लेते है, तब वे आत्म-पासंडा-वढि या अपने सप्रदाय की उन्नति कर सकते है, जिसका विचार अशोक के मन मे सर्वोपरि था। इस प्रकार अशोक का धम्म है धर्म का सार और तीसरी सदी ई० पू० का यह राजर्पि हमे जो बात सिखाना चाहता है, वह यह है कि हमे सब धर्मो मे सार देखना और इस पर आचरण करना चाहिए, तथा इन धर्मो के कर्म-काडो और सिद्धान्तो की निष्पक्ष होकर तुलना करनी चाहिए, जिससे हम मनुष्य और प्रकृति के सम्बन्ध के बारे मे अपना एक निजी सिद्धान्त बना सके। उसका यह सन्देश कितना उदात्त और विश्वासोत्पादक है और आज की दुनिया के लिए भी यह कितना अपरिहार्य है! जरा सोचिए कि अगर हम इस परम प्रज्ञापन के शब्दो का श्रद्धा के साथ अनुसरण करे और न केवल हिन्दू धर्म और इस्लाम का, बल्कि ईसाई धर्म, जरथुष्ट्री (पारसी) धर्म और यहाँ तक कि मन्त्र-तन्त्र का भी अध्ययन करे तो ससार आत्मिक और बौद्धिक दृष्टि से कितना समृद्ध और उन्नत हो जाएगा!

अशोक के धम्म का कोई भी विवरण तब तक पूरा नहीं हो सकता जब तक हम यह न जान ले कि धम्म के आचरण का अन्तिम

लक्ष्य क्या है ? दूसरे शब्दो मे, धम्म का आचरण करने वालो को अन्त मे क्या प्राप्त होगा ? क्या अशोक परलोक मे विश्वास करता था ? इस प्रश्न का उत्तर निश्चित रूप से 'हा' मे है। वह प्रायः इस लोक का परलोक से वैषम्य प्रस्तुत करता है। इस प्रकार स्तम्भ प्रज्ञापन ४ मे रज्जुको की चर्चा करते हुए वह कहता है कि मै अपने अफसरो से यह आशा करता हूँ कि वे प्रान्तो की प्रजा का हित और पालन अर्थात् इस लोक और परलोक का सुख बढाएं। इसी प्रकार धौलि और जौगडा पृथक् प्रज्ञापन १ मे वह हमे बताता है कि मेरे मन मे सबसे प्रबल अभिलाषा यह है कि मेरी प्रजा को हित-लौकिक और पाल-लौकिक, अर्थात् इस लोक मे और परलोक मे श्रेय और सुख मिले। पर धम्म पालने से मनुष्य को परलोक मे क्या मिलता है ? अशोक का उत्तर है: स्वर्ग। उसके प्रज्ञापन मे कम-से-कम तीन बार स्वर्ग का उल्लेख है। शिला प्रज्ञापन ६ मे अशोक कहता है कि मैं जो भी यत्न कर रहा हूं, वह अपनी प्रजा को सुखी करने के लिए और इसलिए कर रहा हूँ कि उन्हे परलोक मे स्वर्ग मिले। गौण शिला प्रज्ञापन १ मे वह अपने अफसरो से आग्रह करता है कि वे कठोर यत्न करके प्रजा को स्वर्ग प्राप्त कराएं। पर शिला प्रज्ञापन ६ मे वह हमे कुछ और बताता है। इसी प्रज्ञापन मे उसके धम्म-मगल, अर्थात् धम्म की पूर्ति रूप मगल कार्य, का जिक्र है। इस प्रज्ञापन के दो सशोधित पाठो मे वह कहता है कि धम्म पर चलने से स्वर्ग मिलता है। और यही चीज उसी प्रज्ञापन की तीन प्रतियो मे वह दूसरे शब्दो मे स्पष्ट करता है। "प्रत्येक सासारिक कार्य", वह कहता है, "सदिग्ध प्रकार का है। इससे इसका उद्देश्य पूरा हो भी सकता है, और नही भी। पर धम्म मगल में समय की कोई शर्त नही है, और चाहे इसका यहाँ कोई फल न हो पर इससे अनन्त पुण्य

होता है।" दूसरे शब्दो मे, अशोक यह कहना चाहता है कि धम्म के पालन से परलोक मे पुण्य होता है और इस प्रकार मनुष्य को स्वर्ग मिलता है।

अशोक ने अपने प्रज्ञापनो मे जिस धम्म की शिक्षा दी है उसका सरल स्वरूप ऊपर से इस तथ्य का विरोधी प्रतीत होता है कि उस धम्म के प्रचार के समय वह बौद्ध था, और इसने विद्वानो को परेशान किया है। इस प्रकार डा० फ्लीट का यह विचार था कि शिला और स्तम्भ प्रज्ञापनो का धम्म किसी भी तरह बौद्ध धर्म नही था—वह तो सिर्फ राज-धर्म अर्थात् राजाओ के लिए बताये गये कर्त्तव्यो का सग्रह था।[1] पर हम पहले ही दिखा चुके हैं कि इन प्रज्ञापनो मे भी निर्दिष्ट धम्म, सुशासन के लिए राजाओ तथा प्रान्तपतियो द्वारा पालनीय नियम किसी भी तरह नही हो सकते थे—वे तो धार्मिक जीवन बिताने के लिए सामान्य प्रजा द्वारा आचरणीय नियम थे। इसी प्रकार एक और अन्य लेखक का कथन है कि इन प्रज्ञापनों मे धम्म शब्द "बौद्ध धर्म के लिए नही आया—वह तो उस सरल पवित्रता के लिए है जो अशोक चाहता था कि सब धर्मो के लोग आचरण मे लाएँ।"[2] स्वर्गीय डा० वी० ए० स्मिथ अपनी पुस्तक 'अशोक'[3] मे एक स्थान पर कहते है "उसने उपदेश की शक्ति मे आश्चर्यकारक श्रद्धा रखते हुए जिस धर्म का अनवरत प्रचार और प्रसार किया, अगर उसमे कोई विभेदसूचक विशेषताएँ थी तो वे बहुत कम थी। यह सिद्धान्त सारत सब भारतीय धर्मों मे विद्यमान था, चाहे एक सम्प्रदाय या पथ इसके किसी एक

१ JRAS, १९०८, पृ० ४९१—७।
२ जे. एम मैकफेल, अशोक, पृ० ४८।
३ पृ० ५९— ६०।

अंश-विशेष पर बल देता हो।" एक और स्थान पर डाक्टर साहब कहते हैं[1] : "प्रज्ञापनों का धर्म हिन्दू धर्म ही है—अन्तर सिर्फ इस कारण है कि उस पर बौद्ध धर्म की छाया है, या यह कहना अधिक ठीक होगा कि इसमें वे नैतिक विचार भरे पड़े हैं जिनके आधार पर बौद्ध धर्म खड़ा हुआ, पर जिसका हिन्दू धर्म में गौण स्थान है। यह एक आत्म-विरोध-सा है, क्योंकि एक जगह वह स्वीकार करते हैं कि अशोक के धम्म में कोई अलग बौद्ध अंश नहीं था, और दूसरे स्थान पर वह प्रतिपादन करते हैं कि इसमें बौद्ध नैतिक विचार भरे पड़े हैं। इसी प्रकार एक जगह तो स्मिथ कहता है कि अशोक ने स्वर्ग का जो प्रलोभन प्रस्तुत किया है वह "अधिकतर पुस्तकों में उल्लिखित बौद्ध दर्शन के साथ सुसंगत नहीं।" और दूसरी जगह वह कहता है कि बहुत संभाव्यतः अशोक निर्वाण की कामना करता था, यद्यपि उसने कहीं ऐसी इच्छा प्रकट नहीं की।[2] इस प्रकार फ्लीट और स्मिथ जैसे कुछ ऐसे विद्वान् हैं जो यह पूछते हैं कि जब एक ओर अशोक का धम्म ऊपर से भेदभावहीन और असांप्रदायिक दिखायी पड़ता है और दूसरी ओर, इसका प्रचार करने के समय वह बौद्ध था, तब इन दोनों बातों में सामंजस्य कैसे हो सकता है। उधर, एक और विद्वान् सेनार्ट हैं जिन्हें अशोक की शिक्षा और बौद्ध धम्मपद में समानता दिखायी देती है और जो यह मानते हैं कि अशोक के लेखों में उस समय के बौद्ध धर्म का पूर्ण और सर्वांगीण चित्र है जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उसके समय तक बौद्ध धर्म "एक शुद्ध नैतिक सिद्धान्त था और उसमें किन्हीं विशेष धार्मिक सिद्धान्तों या अमूर्त्त वादों की ओर विशेष ध्यान नहीं

१ वही, पृष्ठ २९—३०।

२ अशोक, पृ० ९४—५।

दिया जाता था, न उसमे पडितो या भिक्षुओ का प्रावल्य था, और न अभी तक उसके सिद्धान्तो की नियमित परिभाषा ही हुई थी।"[1] परन्तु इस फ्रेंच विद्वान् को जो समानताएँ दिखायी पडी हैं उनमे से सिर्फ दो ही कुछ महत्त्वपूर्ण हैं। इसके अतिरिक्त, बौद्ध धम्मपद मे बहुत से पाठ वही हैं जो महाभारत आदि ब्राह्मण धर्म-ग्रथों मे हैं और धम्मपद को पूर्णतः बौद्ध ग्रथ माना जा सकता है या नही, यह सदिग्ध है। और श्री सेनार्ट के इस विचार को भी, जो सिर्फ अशोक के लेखों पर आश्रित है, किसी विद्वान् ने अभी तक स्वीकार नही किया प्रतीत होता कि तीसरी सदी ई० पू० के मध्य भाग तक बौद्ध धर्म का मुख्य आधार यह था कि वह कर्म-कांड की अपेक्षा नैतिक कर्त्तव्यो की पूर्ति को अधिक महत्त्व देता था। यह मानना भूल है कि अशोक के लेख उसके समय के बौद्ध धर्म का सर्वांगीण चित्र हैं। इस जमाने के धम्म के भी दो भाग थे (१) भिक्षुओ और भिक्षुणियो के लिए निश्चित धम्म, और (२) गृहस्थियो के लिए निश्चित धम्म। अशोक गृहस्थी था—कम से कम उस समय तो था ही जिस समय उसने अपने धम्म का प्रचार किया, और जिन लोगो को उसने सिखाया वे भी गृहस्थी थे, भिक्षु नही। इसलिए अगर हम यह जानना चाहते है कि क्या उसका धम्म बौद्ध धर्म से अनुप्राणित था, तो आवश्यक है कि हम यह निश्चय करें कि उस धर्म ने उपासको के पठन, मनन और आचरण के लिए कौनसे धार्मिक ग्रथ निर्दिष्ट किये हैं। बौद्ध उपासको के लिए निर्दिष्ट सब से महत्त्वपूर्ण सदर्भ सिगालोवाद-सुत्त है जो बौद्ध धर्मग्रथो के दीघ-निकाय के अन्तर्गत है। यह इतना महत्त्वपूर्ण माना गया है कि इस का नाम ही गिहि-विनय या गृहस्थियो के लिए उपदेश, रखा गया

१. IA, १८९१, पृ० २६४—५।

है।[1] बुद्धघोष ने लिखा है कि "इस सुत्त मे गृहस्थी के सम्पूर्ण कर्त्तव्यों मे से कोई बात अवर्णित नही रह गयी है। इसलिए सुत्तांत का नाम गिहि-विनय या गृहस्थियो के लिए उपदेश, रखा गया है। अतएव, यदि कोई व्यक्ति इनको श्रवण करे, और जो कुछ कर्तव्य उसमे बताए गये है उनका पालन करे तो उसकी उन्नति की ही आशा है, अवनति की नही।' इस सुत्त को नि.सदेह उपासको की दृष्टि से ही इतना अधिक महत्त्व दिया गया है। इसका साराश यह है एक बार बुद्ध राजगृह के पास बॉसो के वन मे ठहरे थे। उन्होने अपनी दैनिक भिक्षा के लिए जाते हुए एक गृहस्थी के पुत्र सिगाल को देखा जिसके बाल और कपडे भीगे हुए थे और जो अजलिबद्ध हाथ ऊपर उठाकर, भूमि और आकाश के कई दिक्पालो की पूजा कर रहा था। बुद्ध के कारण पूछने पर सिगाल ने कहा कि मै अपने पिता के आदेश का पालन कर रहा हूँ। इस पर बुद्ध उत्तर देता है कि आर्य के धर्म मे छ दिक्पालो की पूजा इस तरह नही करनी चाहिए। और यह पूछे जाने पर कि उनकी कैसे पूजा की जानी चाहिए, बुद्ध बडे विस्तार से बताता है कि दिक्पालो की पूजा की सबसे उत्तम रीति मनुष्य को लाभ पहुँचाना है, और सारी बात को सक्षेप मे कुछ गाथाओ मे रख देता है, जिनमे से पहली गाथा यहाँ उद्धृत की जाती है[2]

माता और पिता पूर्वी दिक्पाल हैं।
और गुरु दक्षिण के दिक्पाल है।
और पत्नी तथा सतान पश्चिमी दिक्पाल हैं।

---

१. JRAS, १९१५, पृ० ८०९।

२. टी० डब्लू० राइस डेविड्स, बुद्धिज्म, पृ० १४३—४; SBB जिल्द ४, पृ० १७३ तथा आगे।

और मित्र तथा सबधी उत्तरी दिक्पाल है।
भृत्य और मजदूर लोग अधोदिक्पाल हैं।
और ब्राह्मण तथा सत ऊर्ध्वदिक्पाल है।

मनुष्य को—जो पचास वर्ष तक अपने कुटुम्ब मे गृहस्थी रहता है—इन दिक्पालो की पूजा करनी चाहिए।

इस गाथा को सरसरी तौर से देखने वाले को भी फौरन पता चल जाएगा कि इसमे वही आचरण गिनाये गये हैं जिन्हे अशोक अपनी प्रजा को सिखाना चाहता था। माता-पिता की सेवा, गुरुओ का आदर, मित्रो, सबधियो और परिचितो से तथा ब्राह्मण और श्रमण साधुओ से उदारता तथा सभ्य व्यवहार और दासो तथा भृत्यो से उचित व्यवहार—धम्म के इन्ही आचरणो पर अशोक बल देता है, और ये बिल्कुल वही हैं जिन पर, सिगाल को अच्छा धार्मिक गृहस्थी बनाने के लिए बुद्ध ने जोर दिया है। अशोक जिन कर्त्तव्यो पर बल देता है उनमे जैन, आजीविक आदि अन्य धार्मिक सप्रदायो द्वारा अनुमोदित चाहे एक भी न हो, परन्तु सिगालोवाद-सुत्त[1] मे, जो बौद्ध धर्म का उपासको के पढने के लिए बनाया गया ग्रथ है, इनमे से अधिकतर कर्त्तव्य एकत्र सगृहीत हैं। और इस निष्कर्ष से बचना असभव है कि यह धर्म ही अशोक के धम्म का आधार और प्रेरणा-स्रोत है। यदि अब भी और किसी प्रमाण की आवश्यकता है तो यह एक और सुत्त मे मिलता है जो इस सिलसिले मे अवश्य ध्यान देने योग्य है। उपासको के आचरण के बारे मे, सिगालोवाद-सुत्त के बाद महत्त्वपूर्ण बौद्ध सुत्त महामगल-सुत्त है जो सुत्त निपात के अन्तर्गत है। इसमे कुछ कर्त्तव्य बताये गये हैं जिनका आचरण

---

१. कुछ और भी बौद्ध सुत्त है जिनमे ऐसे ही नैतिक, आचरण गिनाये गये है, उदाहरणार्थ, अंगुत्तर-निकाय, III, ७६—८।

उपासक का महानतम मगल है। धर्म-युक्त आचरण के लिए मगल शब्द के इस प्रयोग को देखकर धम्ममगल शब्द का ध्यान आ जाता है जो अशोक ने शिला प्रज्ञापन ११ मे "धम्म का पालन अधिकतम फलोत्पादक मगल के समान है" इस अर्थ मे किया है। और अब इस बात मे कोई सदेह नही रहता कि यह विचार और पदावलि उसने उपर्युक्त बौद्ध धर्मग्रन्थ मे ली है। आचारो की गिनती मे भी, महामगल-सुत्त और अशोक के शिला प्रज्ञापनो मे, कई समानताएँ हैं। सुत्त ने "माता-पिता की सेवा, पत्नी और बच्चो की रक्षा, दान, रिश्तेदारो की सहायता, पाप-त्याग, श्रमणो के साथ सलाप और उचित ऋतुओ मे धार्मिक वार्त्तालाप"[1] को सबसे बडा मगल बताया है। यहाँ भी अशोक द्वारा धम्म के अन्दर निर्दिष्ट गुणो और आचरणो मे से अधिकतर गिनाये गये हैं। यह भी देखने योग्य बात है कि जैसे अशोक ने सामान्य मगल और धम्ममगल की तुलना की है, वैसे ही उसने दान और धम्मदान की तुलना की है, और धम्मदान की साधारण दान से निश्चित श्रेष्टता प्रतिपादित की है। धम्मदान शब्द का प्रयोग अशोक को, जैसा कि श्री सेनार्ट ने बताया है,[2] धम्मपद के इस श्लोकाश से सूझा होगा "सब्बदान धम्मदान जिनाति" धम्म का दान सब दानो से बढकर है। पर इसमे महामगल-सुत्त मे उल्लिखित गुणो और आचरणो का जिक्र नही है।

यदि एक बार यह समझ लिया जाए कि अशोक स्वय बौद्ध धर्म का उपासक था और गृहस्थियो को उपदेश देता था, और कि उसकी शिक्षा उन कर्त्तव्यो पर आधारित थी जो धर्म ने उपासको के लिए बताये थे तो इसमे कोई आश्चर्य की बात नही कि वह अपने

१. SBE., जिल्द १० (भाग २), पृ० ४३।
२. IA, १८९१, पृ० २६२।

प्रज्ञापनो मे निर्वाण या अष्टाग-मार्गिक का कोई उल्लेख नही करता बल्कि इसके विपरीत, स्वर्ग की चर्चा करता है, और इसे ही धम्म का पारलौकिक फल बताता है। बौद्ध धर्म के अनुसार स्वर्ग और नरक का सिद्धान्त विशेषकर उपासक का धर्म है और ऊँची सिद्धियाँ और निर्वाण का ध्येय सिर्फ भिक्षुओ के लिए है। यही बुद्ध का विचार था और उसने एकाधिक बार ध्वनित किया है कि धार्मिक गृहस्थी परलोक मे देवता बनकर जन्म लेता है।[1] इसलिए यदि अशोक ससार मे धर्मयुक्त जीवन बिताने के लिए स्वर्ग को अन्तिम साध्य मानता है तो कोई आश्चर्य की बात नही। स्वर्ग सम्बन्धी विचार अकेले बौद्ध धर्म का विचार नही है बल्कि अनेक धार्मिक सप्रदायो मे पाया जाता है। और जो प्रश्न वास्तव मे पैदा होता है वह यह है कि क्या अशोक बौद्ध ग्रथो मे वर्णित स्वर्ग को मानता था या नही। शिला प्रज्ञापन ४ मे अशोक कहता है "पर अब देवताओ के प्रिय राजा प्रियदर्शी के धम्म पर चलने के परिणामस्वरूप, तब से ढोल का शब्द धम्म का शब्द बन गया है जबसे उसने प्रजा को विमान, हस्तिन्, अग्निस्कध और अन्य दिव्य स्वरूप दिखाये हैं।" उसका आशय यह है कि उसके लिए ढोल धम्म का उद्घोषक बन गया है। युद्ध, सार्वजनिक घोषणा, या सार्वजनिक प्रदर्शन से पहले सदा ढोल बजता है। पर जबसे उसने धम्म का जीवन ग्रहण किया है तब से यह युद्ध का सूचक नही रहा है, पर लोगों को कुछ दृश्य देखने आने को निमन्त्रित करता है, और क्योकि ये दृश्य ऐसे हैं जो धम्म को उत्पन्न और परिवर्द्धित करते हैं इसलिए ढोल धम्म का उद्घोषक बन गया है। पर अशोक अपनी प्रजा को क्या दृश्य दिखाता था ? स्पष्ट है कि वे विमान, हस्तिन्, अग्निस्कंध आदि थे।

१ मज्झिम—निकाय, १. २८९ और ३८८।

इन शब्दो का वास्तविक अर्थ पालि साहित्य के विमानवत्थु नामक ग्रथ मे स्पष्ट किया गया है। इसमे उन अनेक पुरस्कारो का वर्णन है जो धर्मयुक्त व्यक्ति को अगले जन्म मे मिलेगे जब वह अपने गुण की श्रेष्ठता के अनुसार एक न एक प्रकार का देव बन जाएगा। इनमे से एक पुरस्कार विमान या स्तम्भो पर टिका हुआ प्रासाद है जो परम आध्यात्मिक सुख का केन्द्र है और जो अपने दिव्य स्वामी की इच्छा के अनुसार चल सकता है। एक और प्रकार का पुरस्कार हस्तिन् या सुसज्जित श्वेत दिव्य हाथी है। विमानवत्थु मे बताया गया है कि अधिकतर देवताओ का स्वरूप विद्युत्, नक्षत्र या अग्नि के समान उज्ज्वल है, और इसलिए जब अशोक कहता है कि मैंने प्रजा को अग्निस्कध और ज्योतिःस्कध दिखाये, तब वह यह दिखाता होगा कि अगले जन्म मे देवता बन जाने पर धार्मिक व्यक्तियो के शरीरो से किस तरह की चमक निकलती है। अब की तरह तब भी हिन्दू लोग यह मानते होगे कि स्वर्ग मे देवो के जीवन सीमित होते हैं और वे उनके शुभ कर्मो से उत्पन्न पुण्य पर निर्भर है। पर विमानवत्थु बौद्ध विचार के अनुसार सिर्फ यह वर्णन कर देता है कि धार्मिक व्यक्तियो को कौन-कौनसे दिव्य निवास और यान मिलते हैं, और उन पर विशेष बल देता है ताकि पाठको और श्रोताओ को भूलोक मे अच्छा निष्कलक जीवन बिताने की तथा धार्मिक कर्त्तव्यों के पालन मे उत्साही बने रहने की प्रेरणा मिले। स्पष्ट है कि अशोक ने न केवल विमानो, बल्कि हस्तियो और अग्नि या ज्योति स्कधो को प्रजा मे धर्म की वृद्धि का जो कारण बताया है वह इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण है कि स्वर्ग की जिस पद्धति को वह मानता था और जिसका उसने अपने बारहवे वर्ष मे उल्लेख किया है, वह बौद्ध धर्म मे उद्भूत पद्धति है।

उपर्युक्त वर्णन से किसी को भी यह निश्चय हो जाएगा कि जव अशोक ने अपने शिला और स्तम्भ लेखो मे प्रस्तुत धम्म का विचार किया तव वह बौद्ध था और इस बात के स्पष्ट चिन्ह हैं कि इस धम्म का मूल प्रेरक और स्रोत बौद्ध धर्म था। पर अब यह पूछा जा सकता है कि क्या यह सारे का सारा धम्म सिर्फ बौद्ध धर्म से लिया गया था। क्या उसने किसी अन्य धर्म से भी कुछ ग्रहण किया ? अशोक ने स्वय अपनी प्रजा को परामर्श दिया है कि वह एक-दूसरे के धम्म को सुने, जिससे उनके अपने धर्म की उन्नति हो और वे बहुश्रुत हो जाएँ। जो कुछ उसने दूसरो से करने के लिए कहा है, वह स्वय भी अवश्य किया होगा। क्या उसके धम्म में या अपने आचरण मे कोई ऐसे तत्त्व है जो अन्य धर्मो मे से ग्रहण किए गये थे ? उसके धम्म के निपेधात्मक पहलू पर ध्यान से विचार करने वाले का ध्यान एक विचित्र शब्द आसिनव पर, और उन दुर्विकारो पर, जिन्हे वह उसकी उत्पत्ति मे सहायक बताता है, जाना अनिवार्य है। यह आसिनव शब्द क्या है ? उसकी व्युत्पत्ति कैसे की जा सकती है ? स्तम्भ प्रज्ञापन तीन मे आसिनव का उल्लेख पाप के साथ किया गया है, और शिला प्रज्ञापन १० में, अपुण्य के अर्थ मे पलिसवे शब्द मिलता है। इसलिए पहले-पहल यह प्रतीत होता है कि अशोक का आसिनव वही है जो बौद्ध धर्म मे आसव (आस्रव) कहलाता है और जिसका ठीक वही अर्थ है। पर बौद्ध तीन प्रकार के आसव मानते हैं (१) कामासव, या काम-सुख, (२) भावासव, जीवन का मोह, और (३) अविज्ज-आसव, अविद्या दोष। कभी-कभी वे इनमे एक चौथा दिट्ठ-आसव अर्थात् नास्तिकता, भी जोड़ देते हैं। पर अशोक पाँच आसिनवो का उल्लेख करता है, जो सर्वथा भिन्न प्रकार के है। वे, जैसा कि हम

देख चुके है, चडिये, 'प्रचडता' निठुलिए, 'निष्ठुरता', कोधे, 'क्रोध', माने, 'अभिमान' और इस्या, 'ईर्ष्या' हैं। यह निष्कर्ष स्पष्ट हे कि अशोक ने बौद्ध होते हुए भी बौद्ध धर्म के आसव स्वीकार नही किये, यद्यपि आसव वही प्रतीत होता है जो आसिनव हैं। तो उसने अपने ये आसिनव कहाँ से ग्रहण किए। बूलर बताता है कि "जैनो मे एक शब्द अहया है जो आसिनव का बिलकुल संवादी है, और आसिनव की ही तरह 'आस्नु'[1] से बना है।" वह आगे कहता है कि "पियदसी का आसिनव का विचार बौद्धो के तीन या चार आसवो से तो मेल नही खाता, पर जेन अहया के अधिक निकट है जिसमे प्राणि-हानि, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह या सासारिक वस्तुओ से अनुराग हैं।' बूलर का यह कथन तो सही प्रतीत होता है कि भाषा-विज्ञान की दृष्टि से अशोक का आसिनव शब्द बौद्ध आसव की अपेक्षा जैन अहया के अधिक निकट है, पर यह जरा स्पष्ट नही होता कि राजा द्वारा वर्णित आसिनव बूलर द्वारा निर्दिष्ट जैनी अहया के किस तरह निकट हे, पर यह न समझना चाहिए कि बूलर का निष्कर्ष गलत है, यद्यपि जो साक्ष्य उसने प्रस्तुत किया हे उससे इसकी पुष्टि नही होती। यहाँ हमे जिस बात पर ध्यान देना है, वह यह है कि स्तम्भ प्रज्ञापन ३ मे अशोक आसिनव के साथ-साथ पाप का भी उल्लेख करता है और हमें दोनों से बचने के लिए कहता है। जहाँ तक मुझे ज्ञान है, बौद्ध मनोदर्शन पाप और आसिनव (=आसव) को न तो साथ-साथ रखता है और न उनमे विभेद करता है। पर जैन धर्म का प्रत्येक विद्यार्थी जानता है कि जैन दर्शन मे यह विभेद किया जाता हे। इस प्रकार जैन धर्म अट्ठारह प्रकार के पाप और बयालिस प्रकार के आस्रव गिनाता

१ EI, जिल्द २, पृ० २५०।

है।[1] इन दोनों सूचियो मे चार दुर्विकार एक से हैं, जो कषाय कहलाये ह। इनमे से दो हैं क्रोध और मान।[2]—ठीक वही दो विकार जिनका अशोक ने उल्लेख किया है। अशोक की इस्या जैनो की पाप की सूचि मे ईर्ष्या या द्वेष के नाम से मौजूद है। सिर्फ चडिये और निठुलिए का पता नही चलता, यद्यपि यह दोनो आस्रवो मे परिगणित हिसा दुर्विकार मे आ जाते हैं। इस प्रकार पाप और आसिनव (आस्रव) मे विभेद को, और जैन सूची मे कम से कम तीन विकारो के समावेश को देखकर किसी को भी यह निश्चय हो जाएगा कि बहुत सभाव्यत अशोक ने यहाँ जैन दर्शन की कुछ धारणाओ को अपना लिया है। फिर, यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि पुराने जैन-ग्रथो मे अकेला अहया शब्द नही आता बल्कि आसव और परिस्सव[3] शब्द भी आते हं, और सबके सब एक ही अर्थ मे आते हं। यह बात इस तथ्य से भी मेल खाती है कि अशोक न केवल आसिनव का, जो अहया का सवादी और प्राचीन रूप है, वल्कि परिसव का भी प्रयोग करता है जो परिस्सव ही है। इस प्रकार हम देखते ह कि यद्यपि अशोक बौद्ध धर्म का उत्साही अनुयायी है, पर उसमे अभी इतनी उदारता थी कि जैन आदि अन्य

---

१ श्रीमती स्टिवेन्सन, हार्ट ऑफ जैनिज्म, पृ० ३०२ और आगे तथा पृष्ठ ३०५ और आगे। पाप और आसव की इस तरह की तुलनात्मक गणना बौद्ध धर्म-ग्रथो में नही पाई जाती।

२. इनमे से कुछ दुर्विकारो का बौद्धो ने उल्लेख अवश्य किया है, पर उन्हे 'किलेस' मे नही गिनाया है, आसव या पाप मे नही।

३. ये दो शब्द बौद्ध ग्रथो मे मिलते है। पर इनमे, जैन अहया की तरह कोई ऐसा शब्द नही है, जो अशोक के आसिनव का सवादी हो। क्या बौद्ध शब्द 'आदीनव' आसिनव का गलत रूप है।

धर्मों का भी अध्ययन करे, और उनकी ऐसी विशेषताएँ अपना ले उसे पसन्द आ जाएँ। यही निष्कर्ष उस शब्दावलि से भी निकलता है जो वह विभिन्न प्रकार के जीवनो का वर्णन करते हुए प्रयुक्त करता है। वह जीव पाण, भूत और जात जैसे शब्दो का प्रयोग करता है। क्या इससे हमे 'पाणा भूया जीवा सत्ता' शब्दावलि का स्मरण नही हो आता जो, उदाहरण के लिए, जैनो के आचारग सुत्त मे प्रयुक्त की गयी है।[1] यह निःसदेह कहा जा सकता है कि उसने इन सब शब्दो का कही इकट्ठा प्रयोग नहीं किया और इसलिए उसका आशय इनमे विभेद करने का न होगा पर इस बात से इनकार नही किया जा सकता कि जहाँ अशोक ने अपने नैतिक आचरण गिनाये है वहाँ भूत और प्राण मे वैपम्य किया है जैसे देखिए—अनारभो प्राणाना, अविहिसा भूतानाम्। बौद्ध साहित्य कही भी प्राण और भूत मे भेद नही करता, पर जैन ग्रन्थ न केवल इन दोनो मे विभेद करते हैं, वल्कि इन दोनो का, जीव और सत्ता से भी विभेद करते हैं।

इससे यह प्रश्न पैदा होता है : अन्य धार्मिक सप्रदायो के प्रति अशोक का क्या रुख था? हम देख चुके हैं कि शिला प्रज्ञापन ७ में वह स्वीकार करता है कि सब सम्प्रदायो का लक्ष्य आत्म-संयम और हृदय की पवित्रता है, और यह अभिलाषा रखता है कि उसके साम्राज्य के सब भागो मे सब सप्रदाय रह सके। शिला प्रज्ञापन १३ में उसने इस बात को और अधिक स्पष्ट कर दिया है और कहा है कि धम्म के जिन आचरणो का उपदेश मैं कर रहा हूँ वे प्रायः वही हैं जिनकी शिक्षा ये सप्रदाय देते हैं। और शिला प्रज्ञापन १२ मे वह हमे एक कदम और आगे ले जाता है जहाँ वह कहता है कि सब लोगो को

१ SBE. जिल्द, २२, पृष्ठ ३६ और टि० १।

एक-दूसरे के धम्म के श्रवण मे प्रीति रखनी चाहिए और इस प्रकार धम्म के सार की वृद्धि करनी चाहिए। अशोक ने जो कुछ कहा है, वह हृदय से भी वही मानता था, यह बात इस तथ्य से बिलकुल स्पष्ट है कि उसके धम्म मे, जो मुख्यत बौद्ध धर्म है, जैन आदि अन्य धर्मों के तत्त्वो का भी समावेश है, जैसा कि हम अभी देख चुके हैं। जब विभिन्न सम्प्रदायो के प्रति उसका मानसिक झुकाव ऐसा था, तब हम उसकी इस बात पर आसानी से विश्वास कर सकते है कि वह सब सम्प्रदायो के व्यक्तियो को, बिना भेदभाव के, चाहे वे सन्यासी हो चाहे गृहस्थी, मूल्यवान् उपहार और सम्मान प्रदान किया करता था। हमारा यह विश्वास तब और भी दृढ हो जाता है जब हम देखते हैं कि वह ब्राह्मणो और श्रमणो के प्रति आदर और उदारता को, अर्थात् न केवल बौद्धेतर अ-ब्राह्मण सप्रदायो के प्रति बल्कि ब्राह्मण सप्रदाय के प्रति भी आदर और उदारता को, धम्म का एक उपादान मानता है। धर्म-महामात्रो को भी सब सप्रदायो के—केवल बौद्ध सघ के ही नही, बल्कि निर्ग्रन्थो, ब्राह्मण आजीविको आदि के भी—सासारिक और आध्यात्मिक कल्याण की वृद्धि करने का आदेश दिया गया है।

उसका एक मात्र कार्य, जो उसकी सब धर्मों के प्रति सहिष्णुता की वृत्ति से असगत प्रतीत होता है, वह है जीव बलि का निषेध, जिसका निर्देश उसने शिला प्रज्ञापन १ मे किया है। कहा जाता है कि यह ब्राह्मणो के विरुद्ध था और गौण शिला प्रज्ञापन १ मे आए एक अश से इस आरोप की पुष्टि होती है। पर अब कोई भी उच्चकोटि का विद्वान् इस अश का ऐसा अर्थ नहीं करता जिससे ब्राह्मणवाद के प्रति अशोक की शत्रुता प्रकट होती हो। और शिला प्रज्ञापन १ के बारे मे, यह तो स्वीकार किया जाता है कि इसमे अशोक बलि-निषेध का उल्लेख करता है, पर यह स्पष्ट नही है कि

यह निपेध सार्वत्रिक था, और सिर्फ उसके राजमहल तक सीमित नही था। और यदि थोडी देर के लिए यह भी मान लिया जाए कि उसने अपने सारे राज्य मे वलि-निपेध कर दिया था, तो भी इसका यह अभिप्राय होना आवश्यक नही कि वह ब्राह्मणवाद का विरोधी था क्योकि कुछ उपनिपदो मे[1] भी, जो ब्राह्मण के लिए श्रुति हैं, असदिग्ध शब्दो मे जीव वलि का विरोध और अहिसा का प्रतिपादन है।

१. JASB, १९२०, पृ० ३०७।

अध्याय ५

अशोक धर्म-प्रचारक के रूप में

हम देख चुके हैं कि अशोक एक बौद्ध के रूप मे क्या था, और यह भी जान चुके हैं कि वह जिस धम्म का प्रचार करता था, वह सब धर्मों मे सामान्य रूप से विद्यमान साधारण कर्त्तव्यो का संग्रह न था, बल्कि बौद्ध धर्म द्वारा उपासक के लिए निर्धारित धार्मिक कर्त्तव्यो का सग्रह था। अब हमे यह देखना है कि उसने धम्म की वृद्धि और प्रचार के लिए कौनसे साधन अपनाये। हम यह विचार भी करेगे कि धार्मिक प्रचारक के रूप मे उसने क्या और कितना काम किया।

हम पहले देख चुके है कि अशोक ने अपने अभिषेक के आठवे वर्ष मे बौद्ध धर्म ग्रहण किया। तब वह उपासक था। ढाई वर्ष तक वह उपासक रहा और इस अवधि मे, जैसा कि वह स्वय बताता है, उसने विशेष उत्साह नही प्रदर्शित किया। पर उसके बाद उसमे परिवर्त्तन आया और वह अपने अभिषेक के दसवे वर्ष भिक्षु-गतिक बन गया। इस तरह उसके जीवन का एक बिलकुल नया अध्याय शुरू हुआ। उसने फौरन अपना धार्मिक प्रचार का कार्य बढा लिया और इतना अधिक उद्योग किया कि भिक्षु-गतिक बनने के एक वर्ष के भीतर ही उसे इस प्रचार का प्रशसापूर्ण वर्णन करना उचित जंचने लगा। यह वर्णन उसने दो स्थानो पर, एक बार गौण शिला प्रज्ञापन-१ मे और दूसरी बार शिला प्रज्ञापन ४ मे किया है। इनमे

से पहले अभिलेख मे, जो उसके अफसरो के नाम है, अशोक कहता है . "इस अवधि (अर्थात् उसके भिक्षु-गतिक होने की अवधि) मे, सारे जबुद्वीप मे, मनुष्यो को, जो विना मिले थे, देवो के साथ मिलाया। यह उद्योग का ही फल है। यह कार्य सिर्फ बडे अफसर के करने का नही है। आधीनस्थ अफसर भी अगर उद्योग करे तो प्रजा को अत्यन्त स्वर्गीय सुख प्राप्त करा सकता है।" इस प्रज्ञापन मे अशोक ने अपने प्रचार-कार्य का दो तरह से वर्णन किया है—एक तो यह कहकर कि मैंने मनुष्यो और देवो को एक-दूसरे का सहयोगी बना दिया है, और दूसरे यह कहकर कि इससे प्रजा को अत्यधिक स्वर्गीय सुख प्राप्त होगा। बौद्ध सम्राट् का आशय सभाव्यत यह है कि उसके धर्म-प्रचार के परिणामस्वरूप बहुत से लोग इतने पवित्र और धार्मिक हो गये हैं कि उनमे से कुछ दवों के रूप में पैदा हुए हैं और अपनी मृत्यु के बाद उनके साथ मिल गये हैं, और अन्य लोग, जो जीवित हैं, अपने अगले जीवन मे देवो के साथ मिल जाएँगे। अव यह पूछा जा सकता है कि किन कार्यो द्वारा अशोक एक साल की छोटी-सी अवधि मे इतना वड़ा कार्य कर सका। इसका उत्तर शिला प्रज्ञापन ४ मे मिलता है जिसमे फिर राजा अपने प्रयत्न की सफलता का उज्ज्वल विवरण देता है। जैसा कि हम पिछले अध्याय मे देख चुके हैं, इस अभिलेख मे अशोक हमे बताता है कि उसने विमानो, हस्तियो और अग्नि या ज्योति-स्कधो के दृश्य दिखाकर प्रजा मे धम्म का प्रचार किया है। ये वे स्वर्गीय सुख थे जो धार्मिक व्यक्तियो को अगले जन्म मे देवता बनने पर मिलते थे। इस प्रकार हमे इस महत्त्वपूर्ण उपाय को लक्ष्य करना है जो अशोक ने अपने धम्म की वृद्धि के लिए अपनाया। वह प्रजा को विभिन्न प्रकार के देवो के और उन्हे मिलने वाले सुखों के दृश्य

दिखाता था। पिछले अध्याय मे यह सुझाया गया है कि वह ये दृश्य समाजो मे—उन समाजो या दावतो मे नहीं जिनमे लोगो को मास और शराब दिये जाते थे और जिनकी अशोक निन्दा करता था, बल्कि उन समाजो या नाटकघरो मे जहाँ जनता को नाटक, सगीत और नृत्य का रसास्वादन कराया जाता था और जिन्हे वह अच्छा समझता था—दिखाता था। तो अशोक ने धर्म-प्रचार के लिए जो सबसे पहला कार्य किया वह शायद यह था कि वह देवो के विभिन्न सघो के, उनके देदीप्यमान स्वरूपो के, उनके स्वर्गीय प्रासादो के, दिव्य हाथियो आदि के दृश्य, जो उनकी समृद्धि और ऐश्वर्य के सूचक थे, दिखाता था। हम नही जानते कि वह कितने समय ऐसे दृश्य दिखाता रहा। सभाव्यत वह अपने सारे राज्य-काल मे ये दृश्य दिखाता रहा क्योकि इससे दो प्रयोजनो की पूर्त्ति बडी अच्छी तरह होती थी, अर्थात् एक तो प्रजा का मनोरजन होता था और दूसरे उन्हे पवित्रता का जीवन बिताने की प्रेरणा मिलती थी। पर इतना तो निश्चित है कि अपने भिक्षुगतिक रहने के एक वर्ष से अधिक समय मे वह यह करता रहा, और यद्यपि यह अवधि कुछ बडी नही थी, पर अशोक का विचार था कि इस उपाय से धम्म की बहुत अधिक वृद्धि हुई—यह उतनी अधिक हुई जितनी पहले कभी नही हुई थी।

हम पहले देख चुके हैं कि अशोक ने जिन स्वर्गीय सुखो का निर्देश किया है उनका विमानवत्थु नामक पालि-ग्रंथ मे बडा सजीव वर्णन है। इस ग्रथ मे, बडे विचारपूर्वक उनके वर्णन पर बल दिया गया है, जिसका स्पष्टत यह उद्देश्य है कि प्रजा को पवित्र और धार्मिक जीवन बिताने की प्रेरणा मिले। इस प्रसग मे उस कथा पर विचार करना उचित होगा जो बौद्ध ग्रथो मे बुद्ध के प्रमुख शिष्य

और अनुपम प्रचारक मोग्गलान के बारे में दी गयी है।[1] उसे बौद्ध धर्म की ओर इतने अधिक लोगो को खीचने मे सफलता हुई कि अन्य धर्मो के प्रचारक उससे ईर्ष्या करने लगे, और उन्होने उसे मारने के लिए हत्यारो से रुपये ठहराये। पर उसके प्रचार-कार्य का रहस्य क्या था ? उसमे बताया गया है कि अपनी अतिमानवीय (Supper-natural) शक्तियो द्वारा वह स्वर्ग जाया करता था, देवो से मिला करता था और उनमे से प्रत्येक से पूछा करता था कि आपने देवत्व कैसे प्राप्त किया। और वे उसे बताया करते थे कि उन्हे किन कार्यो से किस तरह का देवत्व मिला। इसी प्रकार वह नरक-लोक जाया करता था और वहाँ के अभागे निवासियो से उनकी कष्ट-कथा पूछा करता था। इसके बाद मोग्गलान पृथ्वी पर लौट आता था और लोगो को बताता था। इसका लोगो के मन पर इतना गहरा प्रभाव हुआ कि वे बडी सख्या मे उसके पास आने लगे और बौद्ध बनने लगे। बहुत सभाव्यतः मोग्गलान की यह कथा अशोक को ज्ञात थी। पर यदि जरा देर के लिए यह भी मान ले कि यह उसे ज्ञात नही थी तो भी अशोक जैसे विचारवान् और उत्साही प्रचारक के लिए, विमानवत्थु जैसे ग्रथो मे किये अनेक प्रकार के स्वर्गीय सुख के सजीव वर्णनो को क्रियात्मक रूप दे देना और विमानो, हस्तियों आदि को वास्तविक रूप मे पेश करके उन्हे समाजो आदि के अवसरो पर, जब प्रजा स्वभावतः बडी सख्या मे एकत्र होती होगी, दिखाना कोई बडी बात नही थी। और यदि मोग्गलान के जबानी यह बताने से कि किस पुण्य से कौनसा स्वर्ग मिलता है, और किस पाप से कौनसा नरक मिलता है, बहुत अधिक लोग उसके अनुयायी हो गये थे। तो जब प्रजा

१. कमेटरीज आन दि धम्मपद, III. ६५ (P. T. S.), जात० की भूमिका, पृ० ५२२।

के सामने स्वर्गो और स्वर्गीय सुखो के न केवल मौखिक वल्कि वास्तविक निरूपण प्रस्तुत किये गये होगे तव अशोक के अनुयायी वनने के लिए लोगो की कितनी भीड जमा रहती होगी। यदि एक वर्ष जैसी छोटी अवधि मे, एक ऐसे सम्यग्विचारित, सम्यगायोजित और सम्यक्-पूरित प्रचार-कार्य से, जैसे कि अशोक से आशा की जाती है, ऐसा आश्चर्यजनक—आशातीत तथा आश्चर्यजनक परिणाम हुआ तो इसमे जरा भी ताज्जुब की बात नही।

अशोक ने अपने ध्येय की पूर्ति के लिए और भी कार्य किये। हम देख चुके हैं कि जिस समय उसने भिक्षु-गतिक जीवन का आरम्भ किया उसी समय उसने एक और योजना वनायी और उस पर चलना आरम्भ किया। शिला प्रज्ञापन ८ मे कहा है :

"दीर्घकाल से राजा लोग विहार-यात्राओ पर जाते रहे हैं। इसमे शिकार और ऐसे ही अन्य विनोद होते थे। अव अपने अभिषेक होने के दस वर्ष वाद देवताओ का प्रिय राजा प्रियदर्शी सवोधि (वोधि वृक्ष) गया। इस प्रकार इस धम्मयात्रा का आरम्भ हुआ। इसमे ब्राह्मण और श्रमण साधुओ का दर्शन और उन्हे उपहार-दान, वृद्धो का दर्शन और उन्हे स्वर्ण-वितरण तथा जनपद के लोगो से मिलना, उन्हे धर्म सम्वन्धी उपदेश देना और उनसे धर्म सम्वन्धी प्रश्न करना होता है।"

इसमे अशोक हमे वताता है कि अपने अभिषेक के दसवे वर्ष तक, वह पुराने राजाओ की तरह, विहार-यात्राओ का आनन्द लिया करता था जिनमे वह शिकार तथा अन्य मनोविनोद करता था। उस वर्ष उसने विहार-यात्रा का विचार सदा के लिए छोड दिया, और उसके स्थान पर धर्मयात्रा आरम्भ कर दी और अव उसे इसी मे आनन्द मिलता है। धर्मयात्रा से उसका वह ध्येय भी पूरा होता था

जो उसके मन मे सर्वोपरि था, अर्थात् धम्म की वृद्धि । वह ब्राह्मण और श्रमण दोनो सप्रदायो के साधुओ से मिलकर और उन्हें दान देकर अपने अन्दर धर्म की वृद्धि करता था। इन यात्राओ मे उसने प्रत्येक सप्रदाय के धम्म को सुना होगा और उसका अध्ययन किया होगा और इसकी सारभूत विशेषताओ को अपने अन्दर ग्रहण किया होगा और इस तरह अपने-आपको बहुश्रुत बनाया होगा । जहाँ तक प्रजा का सम्बन्ध था, वह उनके वैयक्तिक सम्पर्क मे आकर, उन्हे धार्मिकता का उपदेश करके और उनकी आध्यात्मिक उन्नति के बारे मे प्रश्न पूछकर, उनमे धर्म का प्रचार करता था । दूसरे शब्दो मे, अशोक सच्चे अर्थों मे धर्म-प्रचारक बन गया। पर यह घटना कब और कैसे हुई ? यह उसके अभिषेक के दसवे वर्ष उसकी बोधिवृक्ष की यात्रा के समय हुई । वस्तुतः जैसा कि हम देख चुके हैं, उसकी बोधिवृक्ष की यात्रा पहली धर्म-यात्रा थी । और क्योकि वह उसी समय भिक्षु-गतिक हुआ था, इसलिए बलात् यह अनुमान निकलता है कि उसने अपने भिक्षु-गतिक जीवन के आरम्भ मे भिक्षुओ के एक सघ के साथ महाबोधि की यात्रा की और कि इससे उसे तथा उसकी प्रजा को जो अनेक प्रकार के आध्यात्मिक लाभ हुए, उनके कारण उसने इसे अपने प्रचार-कार्यक्रम का एक स्थायी अग बना लिया। इसलिए हम नि शक कह सकते हैं कि स्वर्गो और स्वर्गीय सुखो के प्रदर्शनो के साथ-साथ अशोक ने अपनी प्रजा को स्वय उपदेश देना शुरू किया—इसमे भी उसका असली उद्देश्य धम्म का प्रचार ही था ।

राजा के स्वय उपदेश करने से प्रजा के मन पर निश्चित ही बड़ा गहरा प्रभाव पडा होगा और इससे चारो ओर धम्म के प्रचार मे बडी तीव्रता आयी होगी । पर आखिर सम्राट् एक ही व्यक्ति तो था और उसका सब प्रजा के पास पहुँचना शक्य नही था। इस

लिए अशोक ने अपने प्रतिनिधियो, अपने अफसरो, को यह आदेश देना आवश्यक समझा कि सब लोग उसका अनुकरण करे और जो कार्य उसने व्यक्तिगत रूप से शुरू किया है, उसे पूरा करने मे मदद करे। यह उस बात से भी स्पष्ट है जो उसने स्तम्भ प्रज्ञापन ७ मे कही है—यह प्रज्ञापन उस सब कार्य का सक्षेप है जो उसने अपने अभिषेक के सत्ताईसवे वर्ष तक किया था, और इसमे स्वभावत उन विविध उपायो का उल्लेख है जो उसने अपने उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए सोचे और अपनाये। प्रज्ञापन के प्रारम्भ ही मे उसने, अपनी प्रजा मे धम्म के प्रचार के लिए, अपनी अत्यधिक और हार्दिक चिन्ता प्रकट की है। जिन शब्दो का उसने प्रयोग किया है वे इतने मार्मिक हैं कि उनको उद्धृत किये विना नही रहा जाता :

"मेरे मन मे यह विचार आया :—पहले भी राजाओ ने यह चाहा था कि लोगो मे धर्म बढे जिससे उनकी उन्नति हो। पर लोगो की इस प्रकार उन्नति नही हुई। तो किस प्रकार मनुष्यो मे धर्माचरण बढ सकता है ? किस प्रकार धर्म द्वारा उनकी उन्नति हो सकती है ? किस प्रकार उनमे धार्मिक भावनाओ की अभिवृद्धि कर उनका उत्थान कर सकता हूँ ? इस विषय मे मेरा विचार है कि मैं धम्म की प्रज्ञप्ति (धम्म-सावन) कराऊँ और लोगो मे धर्म सम्बन्धी शिक्षा (धम्म-आनुसथि) देने की आज्ञा कराऊँ। उसको सुनकर मनुष्य उसका पालन करेगे और इस धार्मिक उन्नति से उनका उत्थान और अभिवृद्धि होगी।"

उपर्युक्त वाक्यावलि से स्पष्ट है कि धम्म के प्रचार का प्रश्न वहुत समय से गम्भीरतापूर्वक और वडे विचारपूर्वक अशोक के मन मे घूम रहा था। पर उसने यह भी साफ तौर से स्वीकार कर लिया है कि धम्म के प्रचार की वात पहले राजाओ ने भी सोची थी।

किन्तु उन राजाओं को अपने प्रयत्नो मे कोई उल्लेखनीय सफलता नही हुई थी ? पर प्रतीत होता है कि उसने इस समस्या पर बड़ा विचार किया और अन्त मे उसे एक कार्य-प्रणाली सूझी, तथा उसने अपने उद्देश्य की पूर्ति करने के लिए उस पर चलने का सकल्प किया। और उसने इस तरह जो उपाय अपनाये, उनमे से अधिकाश का उसने अपने प्रज्ञापन मे उल्लेख किया है। इनमे से पहला है धम्म आनुसथि, 'धम्म की शिक्षा' और वह हमे यह भी बताता है कि उसके व्युष्ट और रज्जुक नामक अफसरो को, जो लाखो आदमियो पर शासन करते हैं, प्रजा को उपदेश देने का आदेश दिया गया है। पर शिला प्रज्ञापन ३ मे वह कुछ अधिक विस्तृत सूचना देता है। उसमे वह बताता है कि अपने अभिषेक के बारहवें वर्ष उसने न केवल रज्जुको को, बल्कि प्रादेशिको और युक्तो को भी आदेश दिया कि वे, प्रजा को धम्म की शिक्षा देने के लिए तथा अपने राजकीय कार्यों की पूर्ति के लिए, प्रति पाँचवे वर्ष दौरे पर जाएँ। और, धम्म की जो शिक्षाएँ इन्होने प्रजा को देनी है, वे क्या हैं ? वे ही नैतिक आचरण हैं जो उसके धम्म के अग हैं, और इनके ही बारे मे उन्होंने प्रजा को उपदेश देना है। हम ऊपर देख चुके हैं कि रज्जुक, प्रादेशिक और युक्त, ये सब ऊँचे दरजे के जिला अधिकारी थे और उन पर ऐसे कार्य-भार थे जिनकी पूर्ति के लिए उन्हे दौरों पर जाना पडता था। अपने समय-समय पर किये गये दौरो मे किये जाने वाले इस राजकार्य के अतिरिक्त, अशोक ने उन्हे धर्म-प्रचारक के रूप मे कार्य करने और जनपदों मे धर्म का प्रचार करने का भार भी सौंपा। इस प्रकार उसके उच्च जिला अधिकारी न केवल अधिकारी थे, बल्कि शिक्षक भी थे। नि.सदेह अशोक ने धम्म प्रचार की एक नयी और सूझभरी रीति निकाली। निश्चित रूप से यह उसका मौलिक

विचार था। जहाँ तक ज्ञात है, उससे पहले किसी राजा ने यह रीति नही अपनायी, और बाद मे भी यह सिद्धान्त भारत मे पुर्तगीज शासन की समृद्धि के दिनो मे ही अमल मे आया जबकि कम-से-कम सबसे ऊँचे अफसर अपने सामान्य कर्त्तव्यो के साथ-साथ धर्म-प्रचारक का काम भी करते थे।[1]

पर अशोक ने अपने धम्म के विस्तार के लिए सिर्फ धम्म-आनुसथि को ही नही अपनाया। जिन व्युष्ट नामक अधिकारियो से, स्तम्भ प्रज्ञापन ७ मे, रज्जुको के साथ-साथ धम्म-आनुसथि का पालन करने के लिए कहा गया है, उनसे धम्म-सावन अर्थात् धम्म-विषयक उद्‌घोषणाएँ भी करने के लिए कहा गया है। प्रतीत होता है कि ये सावन या उद्‌घोषणाएँ दो प्रकार की थी—एक तो जिलो के अधिकारियो के लिए होती थी और दूसरी प्रजा के लिए। सावन नि सदेह राजा की इच्छा और सकल्प को प्रकट करती थी। पहले प्रकार का उदाहरण गौण शिला प्रज्ञापन १ मे है। इसमे, जैसा कि हम देख चुके हैं, राजा हमे बताता है कि अपने भिक्षु-गतिक रहने के दिनो मे उसने देवो और मनुष्यो को मिलाने की भरसक कोशिश की ताकि मनुष्यो को स्वर्ग मिल सके। इस दिशा मे अपने प्रयत्नो की अत्यधिक सफलता देखकर उसे यह इच्छा हुई कि न केवल मेरे अधिकारी बल्कि मेरे स्वतन्त्र पड़ोसी भी मेरा अनुसरण करे। इस-लिए उसने अपने व्युष्ट अधिकारियो द्वारा उस आशय के सावन उद्‌घोपित किये। इसी प्रकार, शिला प्रज्ञापन १२ मे, जो विभिन्न सप्रदायो को सहिष्णुता की भावना की शिक्षा देता है, अशोक कहता है . "और जो लोग एक या दूसरे सप्रदाय से अनुराग करते हैं, उन्हे सूचित किया जाए : 'देवताओ का प्रिय धन या पूजा को उतना

१. जे एम मैक्फेल, अशोक पृ० ४८।

अच्छा नही समझता जितना इस बात को कि सब धार्मिक सप्रदायो में सारतत्व की वृद्धि हो और (पारस्परिक) समादर हो !' राजा की इस इच्छा की सूचना प्रजा को कैसे दी गयी ? यह सावनो द्वारा ही दी गयी ? सावन के जो उदाहरण अभी दिये गये हैं उनका उद्देश्य धम्म की वृद्धि है। इसलिए उन्हे धम्म-सावन कहना उचित है। परिणामत अशोक ने धम्म-प्रचार का एक और साधन धम्म-सावनो को वनाया, जैसा कि वह स्तम्भ प्रज्ञापन ७ मे कहता है।

धम्म की वृद्धि के लिए अशोक ने जो तीसरा कार्य किया वह था धर्म-महामात्रो की नियुक्ति। हम देख चुके हैं कि ये अवसर जनता की आत्मिक और सासारिक भलाई की देखभाल करते थे। वे प्रजा की सासारिक भलाई की देखभाल कैसे करते थे, यह हम अध्याय २ मे दिखा चुके हैं। यहाँ हमे यह देखना है कि अशोक ने उनसे धर्म की वृद्धि का कार्य कैसे कराया। पिछले अध्याय मे वताया जा चुका है कि उसके समय मे विभिन्न सप्रदायो मे परस्पर सद्-भावना और सौहार्द नही था। सव सप्रदायो की सारभूत शिक्षा तो एक ही थी, पर सिद्धान्तो-सवधी प्रश्न पर वडा भेद था। वे समानता-सूचक वातो की परवाह न करते थे, यद्यपि वे धर्म का सार थी, और मतभेद-सूचक बातो पर एक-दूसरे के साथ झगड़ते थे, यद्यपि वे वाते धर्म का गौण अश थी। इसलिए विलकुल आवश्यक था कि उनका ध्यान धर्म के सारतत्व की ओर खीचा जाए और सब तरह की कटुता और विद्वेष को समाप्त कर दिया जाय। यह कार्य उसने धर्म-महामात्रों को सौंपा, जो उसके विस्तृत साम्राज्य के सब सप्रदायो की, विशेप रूप से बौद्धों, आजीविको और निर्ग्रन्थों की, देखभाल करते थे। अशोक आशा करता था कि इसके द्वारा प्रत्येक सप्रदाय अपनी उन्नति करेगा और धम्म और अधिक चमकेगा।

धर्म-महामात्रो को धम्म के सिलसिले मे सौपे गये कार्यों मे यह एक वहुत महत्त्वपूर्ण कार्य था। उनको एक और भी कार्य सौंपा गया था। यह दान के सगठन के सवध मे था। पर इस कर्त्तव्य के स्वरूप को हम तव तक अच्छी तरह नही पहचान सकते जव तक हम अशोक द्वारा धम्म की उन्नति के लिए अपनाये गये चौथे उपाय पर विचार न कर ले।

जिन लोगो ने अशोक के लेखो का अध्ययन किया है वे इस तथ्य से अपरिचित नही हो सकते कि उसे अपने शुरू किये गये उदारता के कार्यों को गिनाने का वड़ा शौक है। पर उसका आशय आत्म-प्रशसा या आत्म-विज्ञापन नही है। यह बात स्तम्भ-प्रज्ञापन ७ के निम्न अश से स्पष्ट है

"मार्गो पर मैंने वरगद के पेड लगवा दिये हैं। उनसे मनुष्यो और पशुओ को छाया मिलेगी। मैंने आमो के वाग लगवाये हैं। प्रत्येक आठ कोस पर मैंने कुएँ खुदवाए हैं और विश्रामघर वनवाये हैं। मनुष्यो और पशुओ के मुख के लिए मैंने विभिन्न स्थानो पर प्याऊ लगवाये हैं। पर सुख की यह व्यवस्था विलकुल नगण्य है, क्योकि मेरी ही तरह पूर्ववर्त्ती राजाओ ने भी मनुष्यो के लिए अनेक सुखकारक कार्य किये थे। **पर मैंने यह इस अभिप्राय से किया है कि लोग धर्म के आचरण करें।**" इस प्रकार अशोक सरल भाव से स्वीकार करता है कि उसने मनुष्यो और पशुओ के लिए जिन विभिन्न प्रकार के सुखो की व्यवस्था की है, वह कोई ऐसी व्यवस्था नही जो अकेले उसने ही की हो, वलिक वह कार्य पूर्ववर्त्ती राजाओ ने भी किया था। तो फिर पूछा जा सकता है कि वह अपने इन धर्म-कार्यों का वखान क्यो करता है? वह स्वय इसका उत्तर देता है। वह कहता है कि मैंने इसलिए ऐसा किया है कि अन्य लोग मेरा अनुसरण

करे। इसमे कोई सदेह नही कि अशोक का वास्तविक आशय यही था। क्योकि इसी प्रज्ञापन मे और जरा आगे वह ठीक यही बात कहता है। "मैंने जितने भी अच्छे काम किये हैं, उनका मनुष्यो ने अनुसरण किया है, और वे (भविष्य में भी) इन कार्यो को करेंगे।" पर अशोक यही आकर नही रुक गया। वह चाहता था कि धार्मिक दान के कार्यों मे राज-परिवार के सदस्य भी उसके साथ हिस्सा बटाएँ और हृदय से सहयोग करे। इसलिए उसने धर्म-महामात्रो तथा अन्य उच्च अधिकारियो को आदेश दिया कि वे राज-परिवार के सदस्यो से मिलकर उनसे धार्मिक कार्यो के लिए दान माँगे। "ये (अर्थात् धर्म-महामात्र) और अन्य अनेक मुख्य कर्मचारी मेरे तथा रानियो द्वारा किये गये दान का ठीक-ठीक प्रबन्ध करते हैं, और यहाँ (अर्थात् पाटलिपुत्र मे) और जनपदो मे, मेरे अन्तःपुरो मे वे विविध सतोषजनक कार्य कर रहे हैं। और मैंने व्यवस्था की है कि वे मेरे पुत्रो तथा रानियो के दानो का प्रबन्ध भी करे।" इस प्रकार हम देखते हैं कि अशोक सिर्फ अपने दान-कार्य से सतुष्ट न हुआ और उसने अपने धर्म-महामात्रो तथा अन्य उच्च अधिकारियो के द्वारा अपने सम्बन्धियो को अपना अनुकरण करने के लिए प्रेरित करने का यत्न किया। ये 'अन्य उच्च अधिकारी' कौन थे, यह हम नही जानते। पर यह निश्चित है कि धर्म-महामात्रो को अशोक के सम्बन्धियो तथा अन्य लोगो को दान करने के लिए प्रेरित करने का काम सौपा गया था। राज-परिवार के लोगो के विषय मे धर्म-महामात्रो का जो कर्त्तव्य स्तम्भ प्रज्ञापन ७ मे बताया गया है, उसे शिला-प्रज्ञापन ५ मे न केवल दोहराया गया है, बल्कि यह और जोड़ दिया गया है कि वे "धम्म की ओर प्रवृत्ति वाले, धम्म का आश्रय पाने के इच्छुक और दान आदि देने की कामना वाले" लोगो को सहायता

देने के लिए नियुक्त हैं। यह जरा विचित्र मालूम होता है कि अशोक सब लोगो के—चाहे वे धनी हो या निर्धन, बडे हो या छोटे—दान करने पर इतना बल दे। निसदेह राजा के रूप मे उसका कर्त्तव्य था कि वह सार्वजनिक सुख और लाभ के कार्य कराये। पर वह सर्वत्र हमे यह स्मरण कराता है कि मैंने ये काम इसलिए किए जिससे लोग मेरे उदाहरण पर चले। उसे यह चिन्ता भी है कि उसके सबधी इसी तरह दान-धर्म के कार्य करे—इसमे उसका उद्देश्य सिर्फ यह नही है कि उन्हे आध्यात्मिक पुण्य प्राप्त हो बल्कि यह भी है कि वे जनसाधारण के सामने आदर्श प्रस्तुत करे। इसलिए यह विचित्र-सा लगता है कि अशोक दान-कार्यो को इतना अधिक महत्त्व दे। और स्वभावत. यह पूछा जा सकता है कि क्या बौद्ध धर्म उस प्रकार के सार्वजनिक लाभ के कार्यो को, जिनका अशोक ने निर्देश किया है, कोई महत्त्व देता है ? सयुक्त-निकाय[1] का निम्न पद्य इस बात को स्पष्ट कर देगा :

बाग लगाने वाले

भला बताओ कैसे नर का
पुण्य निरतर बढता जाता ?
धर्म-सुकृत के बल से, बोलो,
कौन स्वर्ग इस भू से जाता ?

फल वाले तरु, बाग लगाता,
पुल बनवाता बाँध बँधाता,
कुएँ खुदाता, प्याउ लगाता,
बेघर का जो आश्रयदाता—

१. १, ५, ७, श्रीमती राइस डेविड्स कृत अग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ ४५-४६ का हिन्दी रूपान्तर।

ऐसे ही नर-वर का निशि-दिन
पुण्य निरन्तर बढता जाता।
धर्म-सुकृत के बल से वह ही
स्वर्गलोक इस भू से जाता।

धर्म की उन्नति और प्रचार के लिए अशोक ने एक और उपाय भी अपनाया। स्तम्भ प्रज्ञापन ७ मे वह धम्म-सावनो और धर्म-महामात्रो के साथ-साथ धम्म-थभो या धर्मस्तभो का उल्लेख करता है। स्पष्ट है कि धम्म-थभों या धर्म-स्तम्भो का मतलब उन पर उत्कीर्ण धम्मलिपियो से है। और इनके साथ वे लेख भी है जो शिलाओ पर उत्कीर्ण थे——ये स्तभ-प्रज्ञापनो से बाद मे उत्कीर्ण कराये गये थे, इसलिए स्तम्भ प्रज्ञापनो पर इनका उल्लेख नही हो सकता था। वास्तव मे इसका मतलब अशोक द्वारा उत्कीर्ण करायी गयी सब धम्मलिपियो से है। पर यह पूछा जा सकता है कि धम्मलिपियो के उत्कीर्ण कराने से धम्म की वास्तव मे कितनी उन्नति हुई। कुछ विद्वानो की सम्मति है कि अशोक ने ये लिपियाँ अपना नाम अमर करने के लिए खुदवायी। दूसरे शब्दो मे, उनके विचार के अनुसार अशोक के मन मे यह भ्रम था कि मैं बहुत बड़ा राजा हूँ। पर इससे अधिक गलत विचार हो नही सकता। अपने शिला और स्तम्भ प्रज्ञापनो मे अनेक बार वह स्पष्ट रूप से कहता है कि पत्थरो पर धम्मलिपियाँ खुदवाने में उसका एक उद्देश्य यह है कि वे चिरस्थायी रहे और उसका दूसरा तथा मुख्य उद्देश्य यह है कि उसके वशज प्रजा के सासारिक और आध्यात्मिक लाभ के लिए उसका अनुसरण करे। शिला प्रज्ञापन ४, ५ और ६ तथा स्तम्भ प्रज्ञापन ७ के अन्तिम अशो को ध्यान से पढने वाले व्यक्ति को अवश्य निश्चय हो जायगा कि अशोक का पत्थर पर धम्मलिपियाँ खुदवाने का वास्त-

विक उद्देश्य क्या था। सुनिश्चित रूप से, अशोक का उद्देश्य यह था, जैसा कि उसने बताया है, कि यदि वे चिरस्थायी रही तो उसके उत्तराधिकारी, राजकीय अभिलेखो के बिना ही, इन प्रस्तरीय अभिलेखो से यह देख सकेंगे कि उसने धम्म की उन्नति के लिए क्या किया और धम्म की उन्नति के महान् कार्य मे उसे मात भी नही देंगे तो कम से कम उससे स्पर्द्धा तो करेंगे। दूसरे शब्दो मे, वह धम्म पर इतने आसाधारण रूप से अनुरक्त था कि उसने अपने वशजो को अपना कार्य जतलाने के लिए, और उन्हे भी यह कार्य करने को प्रेरित करने के लिए जो सर्वोत्तम उपाय समझा, वह किया।

धर्म-प्रचारक के रूप मे अशोक के कार्य की ठीक-ठीक धारणा हम तब तक नही बना सकते जब तक हम यह न देखे कि उसने प्राणिजगत के सुख और कल्याण के लिए क्या किया। यह ध्यान देने योग्य बात है कि राजा के रूप मे वह यह समझता था कि मेरा कर्त्तव्य सिर्फ मनुष्यो के प्रति ही नही है, बल्कि प्राणिमात्र के प्रति है और इसलिए यह देखना आवश्यक है कि उसने प्राणियो के जीवन की रक्षा और सुख की वृद्धि के लिए क्या उपाय किये। उसके इस सबध मे किये गये कार्य को दो भागो मे बाँटा जा सकता है (१) वे उपाय जो उसने प्राणियो को होने वाली हानि तथा उनके वध को रोकने के लिए किये, और (२) वे कार्य जो उसने उनके शारीरिक सुख की वृद्धि के लिये किये। पहली बात के विषय मे स्तम्भ प्रज्ञापन ५ से हमें बहुत जानकारी मिलती है। उसमे अशोक हमें बताता है कि मैंने प्राणियो को क्षति पहुँचाने और मारने पर क्या-क्या रोक लगा दी है। पहले तो वह ऐसे सब प्राणियो का वध रोक देता है जो न तो भोजन के काम आते ह और न सजावट या औषधि के काम आते हैं। दूसरे शब्दो में, वह जीवन के निर्द्वन्द्व विनाश पर

रोक लगा देता है और यहाँ तक आदेश दे देता है कि जीवन-युक्त चारे को भी न जलाया जाए। भोजन के, अथवा घरेलू या अन्य कार्यों मे आने वाले प्राणियो के लिए वह यह नियम बनाता है कि उन्हे कुछ, विशिष्ट, शुभ दिनो पर न तो मारा जाएगा और न दागा या खस्सी किया जाएगा। पहले-पहल यह प्रतीत होता है कि ये पाबन्दियाँ अशोक की मौलिक सूझ थी। पर कौटिल्य अर्थशास्त्र मे भी ये पाबन्दियाँ लगाने के लिए कहा गया है। इस प्रकार, इसके अध्याय ४३ मे[1] कहा गया है कि सब विहार या क्रीडा के पक्षियो और सब शुभ प्राणियो की, चाहे वे पशु हो चाहे पक्षी, विनाश या छेड़-छाड से रक्षा की जाएगी। वहाँ दी गयी उद्यान-पक्षियों की सूची में कम से कम चार वे हे जिन्हे अशोक ने अवध्य बताया हे। फिर, इस ग्रथ के अध्याय १७२[2] मे कहा गया है कि राजा कुछ शुभ दिनो मे प्राणि-वध का निपेध करे और खस्सी और भ्रूणनाश करने पर रोक लगाये—ये दिन वही हैं जिनका अशोक ने उल्लेख किया है। इस लिए ये निषेध उसकी अपनी सूझ नही थे—उसने तो अर्थशास्त्र मे बताये गये निपेधो को कार्यान्वित किया था। और इस विपय मे हम सिर्फ इतना ही कह सकते हें कि उसने उनको ठीक तरह कार्यान्वित करने के लिए भरसक कोशिश की होगी। पर उसने उन निषेधो को कितनी भी अच्छी तरह कार्यान्वित किया हो. उनका बहुत अधिक लाभ न हुआ होगा। अशोक स्तम्भ प्रज्ञापन ७ मे स्वय यह स्वीकार करता है। वह कहता है कि इस तरह की पाबन्दियाँ लगाने से और कुछ प्राणियो को अवध्य घोपित करने से कोई विशेप लाभ नही, पर कि निझति, अर्थात् आम पशु-हत्या को रोकने से उसका

१ अर्थशास्त्र, पृ० १२२।

२ वही, पृ० ४०७।

ध्येय सिद्ध हुआ है। इस ध्येय को लक्ष्य मे रखकर उसने अपने धर्म-प्रचारक अधिकारियो को आदेश दिया कि वे जनता मे धर्म का प्रचार करते समय 'अनारंभो प्राणाना' और 'अविहिसा भूताना' की आवश्यकता पर वल दे। अब अशोक एक कदम आगे वढ गया है, क्योकि अब वह जीवन की क्षति और हत्या को न सिर्फ कम करना चाहता है वल्कि यदि सभव हो तो उसे सर्वथा रोक देना चाहता है। और, जैसी कि उससे आशा की जानी चाहिए, वह इस दिशा मे जनता के सामने आदर्श प्रस्तुत करता है। पहले अध्याय मे उन कार्यों का उल्लेख किया गया है जो अशोक, पूर्ववर्ती राजाओ की तरह, अपने-आपको प्रजा का प्रिय वनाने के लिए करता था। हम जानते हैं कि वह समाज मनाता था, जिनमे से कुछ मे नाटक, सगीत और नृत्य के मनोरजन प्रस्तुत किये जाते थे, और कुछ मे मास और मद्य उडते थे। दूसरे प्रकार के समाजो मे निमन्त्रितो की विशाल सख्या को मास खिलाने के लिए वहुत सारे प्राणी मारे जाते होगे। हम यह भी देख चुके हैं कि अशोक अपने प्रासाद मे प्रतिदिन भिक्षा मे प्रजा को मास देने की परम्परागत प्रथा को भी जारी रखे हुए था और वह हमे वताता है कि उसके लिए राजा के रसोईघर मे प्रतिदिन लाखो प्राणियो का वध होता था। समाजो के लिए या भिक्षा मे देने के लिए अपेक्षित जीव निःसदेह खाने के काम के लिए मारे जाते थे और स्तम्भ प्रज्ञापन ५ मे उल्लिखित किसी पावन्दी द्वारा उनका वध नही रोका जा सकता था। पर वह यही पर नही रुका। क्योकि उसने अपने ऊपर भी दया न दिखायी, और हम देख चुके हैं कि उसने अपने लिए परोसे जाने वाले भोजन पर भी कई पावन्दियाँ लगायी और किस तरह अत मे उसने मास-भक्षण सर्वथा त्याग दिया—यहाँ तक कि मोर का मास भी छोड दिया जो मध्य-

देश के लोगो मे इतना स्वादिष्ट माना जाता था। पर हमे यह स्मरण रहना चाहिए कि इन कार्यों का उद्देश्य सामान्य तौर से प्राणियो को हानि और हत्या से बचाना था और इनका आशय उनके शरीरिक सुख की वृद्धि करना नही था। इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए उसने और उपाय अपनाये। और हम जानते है कि ये उपाय क्या थे। ये वे उपाय थे जो उसने न केवल मनुष्यो के वलिक पशुओं के जीवन को भी सुखी बनाने के लिए अपनाये और ये राजा द्वारा किये गये पूर्त कार्य थे। इनका वर्णन स्तम्भ प्रज्ञापन ७ मे किया गया है और हम देख चुके हैं कि ये क्या थे। लगभग वे ही लोकोपकारी कार्य शिला प्रज्ञापन २ मे गिनाये गये हैं। पर इस शिला प्रज्ञापन मे एक कार्य ऐसा है जो बहुत महत्त्वपूर्ण है पर जिसका स्तम्भ प्रज्ञापन ७ मे उल्लेख नही है। इसमे अशोक कहता है कि मैंने दो प्रकार की चिकित्सा की व्यवस्था की है, एक मनुष्यो के लिए और एक पशुओं के लिए। उसने इस उद्देश्य को जिस तरह पूरा किया उसका निम्नलिखित वर्णन किया है . "जहाँ मनुष्यो और पशुओ के लिए उपयोगी वनस्पतियाँ नही मिलती, वहाँ सव जगह वे बाहर से ले जाकर लगायी गयी हैं।" राजा के लिए अत्यधिक प्रशसनीय वात यह है कि उसने यह कार्य न केवल अपने राज्य के अन्दर, वलिक पडोसी राजाओ के राज्यो मे भी किया, जो करीब-करीव वही है, जिनका उल्लेख शिला प्रज्ञापन १३ मे किया गया है, और हम देख चुके हैं कि वे राजा कौन थे।

अशोक के धर्म-प्रचार कार्य की प्रतिक्रिया कहाँ तक हुई ? यह सिर्फ उसके अपने विस्तृत साम्राज्य मे ही नही हुई—अशोक का दावा है कि मैंने अपने पडौसी स्वतन्त्र राजाओ के राज्यो में भी धम्म का प्रसार किया। शिला प्रज्ञापन १३ मे जहाँ वह अपने पुत्रो

और पौत्रो को सबोधित करता है, बौद्ध सम्राट् कहता है : "पर जो धम्म द्वारा विजय है, उसे देवानाप्रिय सबसे मुख्य विजय मानता है। और देवनाप्रिय ने वह विजय न केवल यहाँ और सीमावर्ती राज्यो मे बल्कि छः सौ योजन तक प्राप्त की है।" इस तरह अशोक हमे स्पष्ट बताता है कि उसने धम्म-विजय न केवल अपने साम्राज्य मे बल्कि पडोस के राज्यो मे भी प्राप्त की है। अपने साम्राज्य के बारे मे वह उन सीमान्त देशो का विशिष्ट उल्लेख करता है जो उसके राज्य के अन्तर्गत थे और जिनमे उसका प्रचार-कार्य हो रहा था। सीमावर्त्ती राज्यो मे वह न केवल भारत के धुर दक्षिण के स्वतन्त्र प्रदेशो का, बल्कि पाँच ग्रीक राजाओ का भी, जिक्र करता है। इस प्रकार हमे वह विस्तृत प्रदेश दृष्टिगोचर होता है जिसमे अशोक कहता है कि मेरा धम्म फैल गया है। यह न केवल सारे भारत और श्रीलका मे प्रचारित हो गया था, बल्कि सीरिया, मिस्र, मैसिडोनिया, एपिरस और सिरीन के उन भागो मे भी फैल गया था जो ग्रीक शासको के अधीन थे। पर इतने ही पर अन्त नही था। क्योकि उसी प्रज्ञापन मे सम्राट् आगे बताता है : "जहाँ देवताओ के प्रिय के दूत नही पहुँच सके वहाँ के लोग भी धर्मानुशासन, धर्मविधान और धर्माचरण की प्रसिद्धि सुनकर उनका अनुसरण करते हैं, और करेगे।" चीन और बर्मा मे उसका जो धार्मिक प्रचार हो रहा था, यह उसका निर्देश हो सकता है :

यदि हम अशोक के सम्यगायोजित कार्यक्रम पर, और उसे क्रियान्वित करने के लिए अशोक ने जो व्यवस्थित उद्योग किया, उस पर विचार करे तो उसके धर्म-प्रचार कार्यो के विस्तार के बारे मे शिला प्रज्ञापन १३ मे कही गयी बाते किसी भी तरह अविश्व-सनीय नही प्रतीत होती। पर कुछ विद्वान् उन्हे सदेह की दृष्टि से

देखते है और यह मानते है कि अशोक के समय मे बौद्ध धर्म भारत की सीमाओं से बाहर नहीं गया था। इनमे सबसे प्रमुख हैं प्रो० टी० डब्लू० राइस-डेविड्स। अशोक ने इस प्रज्ञापन मे धम्म-प्रचार के सम्बन्ध मे जो कुछ कहा है उस पर यह पालि विद्वान कहता है "यह कहना कठिन है कि इसमे से कितना अश सिर्फ राजकीय डीग है। प्रतीत होता है कि ग्रीक राजाओ का उल्लेख, सिर्फ गिनती बढाने के लिए कर दिया गया है; और कि वास्तव मे वहाँ कोई दूत भेजा ही नही गया था। यदि वहाँ दूत भेजे भी गये होगे तो भी आत्म-सतुष्ट ग्रीको ने उनकी ओर कोई विशेष ध्यान न दिया होगा। अशोक ने अपनी सफलता का जो अनुमान किया है उससे उसके अपने अहकार का ही अधिक पता चलता है, ग्रीको की वश्यता का नही। हम यह तो सोच सकते है कि ग्रीको ने इस बेहूदगी पर बडी दिल्लगी की होगी कि एक "जगली उन्हे उनका कर्त्तव्य सिखाये, पर हम यह नही सोच सकते कि एक विदेशी राजा के कहने पर उन्होने अपने देवताओ और अन्धविश्वासो को छोड दिया होगा।"[1] यहाँ प्रो० राइस-डेविड्स ने यह मान लिया है कि अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रसार के लिए ग्रीक राजाओं के पास दूत भेजे होगे। पर यह एक निरी कल्पना है। शिला प्रज्ञापन १३ से जो कुछ हम समझ सकते हैं वह यह है कि बहुत सभाव्यत, अशोक ग्रीक राजाओ के यहाँ पहले ही दूत भेजा करता था, पर अब उसने अपने इन अफसरो के द्वारा ग्रीक राज्यो में उसी तरह अपने धर्म का प्रचार शुरू कर दिया जैसे वह अपने साम्राज्य के भीतर अफसरो द्वारा धर्म-प्रचार करता था। हम जानते हैं कि सेल्युकीयन राजतन्त्र ने मौर्य दरबार मे बारी-बारी दो राजदूत भेजे थे। मिस्र के शासक टालेमी

१. बुद्धिस्ट इडिया, पृ० २९८-९।

फिलाडेल्फोस ने भी इस भारतीय दरबार मे एक दूत भेजा था। यदि ये बाते सही है तो यह बिलकुल समझ मे आने वाली बात है कि मौर्य राजतन्त्र भी, चन्द्रगुप्त के समय से, बदले मे अपने राजदूत ग्रीक दरबारो मे भेजता होगा। और क्योकि बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए अशोक द्वारा अपनाया गया एक बहुत अधिक सफल तरीका यह था कि उसने उस धर्म के प्रचार के लिए ऊँचे अफसरो को नियुक्त किया था, इसलिए स्वभावत यह आशा होती है कि ग्रीक राज्यो के बारे मे भी, जहाँ उसके अफसर दूतों के रूप मे कार्य कर रहे थे, उसने ठीक यही रीति अपनायी होगी। प्रो० राइस-डेविड्स का यह भी विचार है कि अगर क्षण भर के लिए यह मान भी लिया जाए कि अशोक के राजदूत धर्म-प्रचार का कार्य भी करते थे, तो भी वे ग्रीक लोगो मे से बहुत अधिक बौद्ध नही बना सके होगे क्योकि ग्रीक लोग इतने आत्मसतुष्ट थे कि वे न तो "जगलियो" के उपदेश सुनने वाले थे और न अपने देवताओ और अन्धविश्वासो को छोडने वाले थे। यहाँ भी प्रोफेसर महोदय ने यह धारणा बना ली है कि अशोक ने बहुत से ग्रीको को बौद्ध बनाया। बौद्ध सम्राट् ने तो सिर्फ यह कहा है कि मैंने ग्रीक राज्यो मे अपने धर्म का प्रचार किया। इसका यह अर्थ होना आवश्यक नही कि उसे ग्रीको को बौद्ध बनाने मे सफलता मिली, बल्कि वह सिर्फ उन राज्यो के लोगो को बौद्ध बनाने मे सफल हुआ जिनमे बहुत से ग्रीकेतर होगे। फिर ग्रीक लोग दूसरो के धर्म को स्वीकार करने मे इतने असमर्थ क्यो थे ? सभ्यता मे अपने से हीन 'जगलियो' के धर्मो के प्रति उनका रुख बेशक समझ मे न आने योग्य है। पर आप यह क्यो मान बैठते हैं कि वे बौद्धिक दृष्टि से दुराग्रही थे और एक ऐसी जाति के धार्मिक प्रभावो से अप्रभाव्य थे जो सस्कृति मे उनसे किसी भी तरह हीन

नही थी । उदाहरण के लिए, क्या हम नही जानते कि ग्रीक या यवन, जो भारतीय सभ्यता के सम्पर्क मे आए, बौद्ध तथा अन्य भारतीय मतो के अनुयायी हो गये ।[१] साहित्य और शिलालेखों में उनका अनेक जगह उल्लेख है । फिर, मिस्र के टालेमी फ़िलाडेल्फ़ोस ने सिकन्दरिया के पुस्तकालय की स्थापना या विस्तार किया था, और एपिफेनिअस के लेख से हमे ज्ञात है कि उसका पुस्तकाध्यक्ष हिन्दुओ की पुस्तको के अनुवाद के लिए उत्सुक था । निश्चित रूप से, ग्रीक ऐसे सास्कृतिक दुराग्रही नही थे, जैसा उनके कुछ आधुनिक प्रशसक उन्हे समझते हैं ।

प्रो० राइस-डेविड्स का विचार है कि अशोक के समय मे बौद्ध धर्म का जो प्रसार हुआ उसकी कथा अशोक के प्रज्ञापनो की अपेक्षा सिहल के इतिहास-ग्रथो मे अधिक सरक्षित है। इन ग्रथो मे मोग्गली के पुत्र तिस्स द्वारा भारत के विविध भागो मे भेजे गये प्रचारक-मडलो का विवरण दिया गया है । प्रत्येक मडल मे एक नेता और उसके चार सहायक थे । प्रोफेसर साहब कहते हैं कि "जब हम देखते हैं कि उनके अनुसार, प्रचारक-मडल अशोक ने नही भेजे थे बल्कि सघ के नेताओ ने भेजे थे, और कि उनमें पश्चिम की ओर ग्रीक राज्यो मे ऐसे मडल भेजने का कोई उल्लेख नही है, तब यह, कम-से-कम सभाव्य तो हे ही कि इन दृष्टियो से उनका विचार, सरकारी उद्घोषणाओ की अपेक्षा अधिक सही है ।"[२] दूसरे शब्दो मे प्रो० राइस-डेविड्स यह कहना चाहते हे कि ग्रीक लोगो मे आत्म-सतुष्टि और आत्म-विकत्थना इतनी अधिक थी कि बौद्ध धर्म ग्रीक राज्यो तक नही फैल सकता था, और कि क्योकि सिहली इतिहास-ग्रथों मे

१. IA, १९११, पृ० ११-३ ।

२ बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० ३०१-२ ।

यह वर्णन है कि अशोक के समय बौद्ध धर्म का प्रचार सिर्फ भारत के सीमावर्ती प्रदेशो मे हुआ था, इसलिए यह ही अधिक सभाव्य और सही माना जाना चाहिए। और फिर, क्योकि इन ग्रथो के अनुसार, धर्म-प्रचारक बौद्ध सघ के नेता ने भेजे थे, अशोक ने नही, इसलिए अशोक का यह दावा कि उसने ग्रीक राज्यो में बौद्ध धर्म का प्रचार किया, या कि उसे भारत मे बौद्ध धर्म का प्रसार करने मे सफलता मिली, शुद्ध राजकीय डीग है और उसके अपने अहकार की निदर्शक है। सिहली इतिहास-ग्रंथो मे, जो श्रीलका के भिक्षु लिखकर छोड गये ह, कही-कही सच्चे इतिहास के अश सरक्षित होने के कारण, उनमे अपने अटल विश्वास को वे उचित समझते ह। और प्रो० राइस-डेविड्स यह दिखाने का यत्न करते हैं कि उन्होने इन धर्म-प्रचारक मडलो के बारे मे जो इतिहास ग्रथित किया हैं विशेष-कर उसके बारे मे यह कथन कहाँ तक सही है। वह कहते हैं कि धर्म के प्रचार के लिए जो तीन प्रचारक हिमालय प्रदेश मे भेजे गये थे, वे मज्झिम, कस्सप-गोत्त और दुन्दुभिस्सर थे। स्वभावतः यह समझा जाता कि यह बात निरी कपोल-कल्पना है। परन्तु कनिगहम ने साची मे जो स्तूप खोले उनमे उसे कुछ भस्म-पात्र मिले जिन पर ये नाम खुदे हुए थे, और उनमे यह बताया गया था कि इनमे से पिछले दो भिक्षु प्रचार के लिए हिमालय की ओर गये थे। प्रोफेसर साहब का विचार है कि यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि सिहली भिक्षुओ ने अशोक के समय बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए किये गये कार्य का सही विवरण हम तक पहुँचाया है। पर, दीपवंश मे पाँच नाम दिये गये हैं जिनमे से एक मज्झिम है, लेकिन महावश मे कहा है कि मज्झिम इस मडल का नेता था। साची के भस्म-पात्रो के लेखो मे मज्झिम का नाम अवश्य है पर जिस व्यक्ति को

हिमालय के देशो का आचार्य बताया गया है, वह मज्झिम नही, बल्कि गोतीपुत कसप-गोत है। फिर, इन लेखो मे हिमालय के आचार्य कसप-गोत के साथ कम से कम नौ भिक्षु बताये गये हैं, जिनमे से सिर्फ दो दीपवंश के नामो से मिलते है। साची के लेखो मे दीपवश द्वारा निर्दिप्ट दो और नाम क्यो नही ह, अथवा दीपवश साची के लेखो मे आये शेप सात नामो की चर्चा क्यो नही करता। इसलिए जहाँ तक प्रचारक-मडल के इस विवरण का प्रश्न है, वहाँ तक दीपवश को ऐतिहासिक दृष्टि से विश्वसनीय और सही कैसे माना जा सकता है, यह हमारी समझ मे नही आता। सिहली इतिहास-ग्रथो के अनुसार, जो चार आचार्य भेजे गये थे वे रक्खित, धम्म-रक्खित, महाधम्मरक्खित, और महारक्खित थे। क्या चार व्यक्तियो के नामों की यह समरूपता इस विवरण पर प्रबल सदेह पैदा करने के लिए काफी नही है ? नामो की यही समरूपता दो भिक्षुओ, मज्झिम और मज्झिमातिक मे मिलती है। फिर, दो व्यक्तियो, सोन और उत्तर को, जो प्रचार के लिए स्वर्गभूमि गये थे, विद्वान् लोग वास्तव मे एक ही व्यक्ति मानते हैं। इस प्रकार यह ठीक ही सोचा गया[१] है कि ऐतिहासिक लेख्य के रूप मे, इस विवरण का उपयोग करते हुए बहुत सतर्क रहने की आवश्यकता है। इस अवस्था में यह कहना कि सिहली इतिहास-ग्रथो मे प्रचार मडलो का अशोक के प्रज्ञापनो की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय विवरण है, "एक अमान्य अटकल" है।

अशोक ने ग्रीक राजाओ के राज्यो का उल्लेख सिर्फ एक बार नही किया। और न यह बात है कि सुदूर देशो मे अपने धार्मिक प्रचार के विवरण मे ही उसने उनकी चर्चा की हो। एक और स्थान

१. कर्न, मैनुअल आफ इडियन बुद्धिज्म, पृ० ११७।

पर भी इन राजाओ का उल्लेख हुआ है। शिला प्रज्ञापन २ मे वह मनुष्यो और पशुओ के लिए की गयी अपनी चिकित्सा-व्यवस्था की, और जहाँ औपधियाँ नही होती थी वहाँ उन्हे भेजने और रोपने की, चर्चा करता है। वह कहता है कि यह लोकोपकारी कार्य न केवल मेरे राज्य मे बल्कि ग्रीक राज्यो मे भी किया गया। तो इसलिए क्या हम यह मान ले कि अशोक की दोनो बाते सही नही है ? यह तो उस पर सीधी मिथ्या रचना का आरोप लगाना होगा, जिसे कोई भी समझदार आदमी उचित नही बता सकता। यह तो सभव है कि अशोक ने वास्तविक परिणामो को अतिरजित करके कहा हो। पर उसके इस कथन पर कोई निष्पक्ष व्यक्ति तर्कसगत सदेह नही कर सकता कि वह अपना धर्म-प्रचार अपने अफसरो द्वारा करता था, और कि यह प्रचार वह सिर्फ अपने ही राज्य मे नही, बल्कि विदेशी राज्यो मे भी करता था। पर यह पूछा जा सकता है और पूछना उचित होगा कि क्या उसके प्रचारक कार्यो का उन देशो मे कोई स्थायी प्रभाव हुआ ? इसलिए हमे यहाँ यह विचार करना है कि ग्रीक प्रदेशो मे अशोक का प्रचार कहाँ तक सफल हुआ।

यह एक स्मरणीय तथ्य है कि बौद्ध धर्म और ईसाई धर्म मे बहुत सी विशेपताएँ एक जैसी हैं, और कि उनका सादृश्य आकस्मिक नही कहा जा सकता। यहाँ सबसे अच्छा यह होगा कि हम एफ़० मैक्स-मूलर द्वारा पच्चीस वर्प पूर्व दिये गये एक ज्ञानवर्द्धक व्याख्यान का साराश प्रस्तुत कर दे। आपने कहा था कि दो रोमन कैथोलिक पादरियो को, अपनी तिब्बत यात्रा मे, यह देखकर बडा आश्चर्य हुआ कि उनका और बौद्ध भिक्षुओ का कर्मकाड बिलकुल मिलता था। उन्होने इस मेल का कारण शैतान को बताया। पर यदि प्राकृतिक कारणो से यह मेल हो सकता तो और कोई कारण खोजने

की आवश्यकता नही । यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि चीन मे सातवी सदी के मध्य भाग से आठवी सदी के अत तक ईसाई मिशनरियो की हलचले जोरो पर थी । तो इस तरह इस मेल की वडी सतोषजनक रीति से व्याख्या हो जाती है । परन्तु बौद्ध और ईसाई धर्मों मे कुछ और भी मेल दिखायी देते ह जो बौद्ध धर्म के प्राचीन काल से सबध रखते हैं । इनके अतर्गत पाप-स्वीकृति, उपवास, भिक्षुओ का ब्रह्मचारी रहना, और मालाएँ भी है, और क्योकि वे ईसाई युग के आरभ होने से पहले भी भारत मे विद्यमान थी, इसलिए यही मानना होगा कि वे ईसाइयो ने भारत वालो से सीखी । यदि कोई यह कहे कि हम सब एक ही प्रकार के मनुष्य हैं और इसलिए यह मेल दिखायी देता है, तो उसे इस तरह के और उदाहरण प्रस्तुत करने होगे । यदि उन्हे सिर्फ आकस्मिक घटना कहा जाए तो ऐसी आकस्मिक घटनाओ के ही और उदाहरण देने चाहिएँ । मैक्समूलर की अपनी सम्मति यह थी कि वे मेल सख्या मे इतने अधिक और इतने जटिल हैं कि उन्हे आकस्मिक घटना नही माना जा सकता । पूछा जा सकता है कि फिर इन चीजो का ज्ञान कैसे फैला ?[1] वस्तुतः ईसप की कहानियो और बाइबिल के कुछ भागो मे भारती प्रभाव होने का सदेह बहुत पहले से किया जाता था । जब स्मरणातीत काल से पश्चिम और पूर्व के बीच विचारो का विनिमय हो रहा था तब भला यह कैसे माना जा सकता है कि बुद्ध के धर्म के मुख्य विचार ही पश्चिम वालो को अज्ञात रहे होगे । पर बौद्ध ग्रथो मे कही यह उल्लेख नही कि भिक्षुओ ने उन प्रदेशो मे बौद्ध धर्म का प्रचार किया । दूसरी ओर, हम जानते ह, जैसे कि अशोक हमे स्पष्ट रूप से बताता है, कि उसने अपने समकालीन ग्रीक राजाओ के यहाँ भेजे गये सरकारी

१. जर्नल आफ महाबोधि सोसायटी, ५.४ ।

दूतों को बुद्ध के धम्म का प्रचार करने के लिए तथा जीव-दया के अन्य कार्य करने के लिए नियुक्त किया था। क्या इसमे जरा भी सदेह हो सकता है कि पश्चिमी एशिया मे बौद्ध धर्म का प्रसार अशोक के प्रचार के परिणामस्वरूप हुआ ? ईसाइयत पर बौद्ध धर्म का प्रभाव पडा, इसका आवश्यक रूप से यह अर्थ नही कि ईसाई धर्म बौद्ध-धर्म का प्रक्षीण रूप मात्र है। इससे यह आशय कदापि नही निकलता कि ईसाई धर्म मे मौलिकता, सत्य और सौन्दर्य नही है। जैसे कि डा० पॉल केरस हमे वताते हैं, "ईसाई धर्म का एक भी मूल तत्त्व मूलत नया नही है, पर तो भी सारा विशिष्ट सम्मिलन निश्चित रूप से मौलिक है और एक ऐसे युग का श्रीगणेश है जो, कम से कम पश्चिम मे, पहले सव युगो से सर्वथा भिन्न था।"[1]

पर पश्चिमी एशिया मे बौद्ध धर्म से निर्विवाद रूप से प्रभावित धर्म शायद एक ईसाई धर्म ही न था। और भी अनेक धार्मिक सप्रदाय इसी प्रकार प्रभावित हुए होगे। इस तरह का एक सप्रदाय ऐसनस था, जिसके पडित-पुरोहितो ने एक छोटा-सा यहूदी सघ बना लिया था—ये लोग विचित्र, कुछ-कुछ साधुओ के से आचरण करते थे और मृत सागर के तट पर रहते थे। और विद्वान् लोग वहुत समय से यह स्वीकार करते हैं कि उनकी कुछ महत्त्वपूर्ण विशेपताएँ बौद्ध धर्म से ली गयी थी।[2] यह भी स्वीकार किया गया है कि ऐसनस लोगो का अस्तित्व ईसाई धर्म के उदय से भी पहले विद्यमान था। इसी तरह का एक और धार्मिक सघ थे राप्यूटी था—इसके अनुयायी सिकन्दरिया के निकट रहते थे और ईसाइयत से पहले के यहूदी-धर्म मे एक सगठन के रूप मे विद्यमान थे। उनके उपदेशो और जीवन की रीतियो पर

१. बुद्धिज्म एण्ड इट्स क्रिश्चियन क्रिटिक्स, पृ० २१५-६।
२. E. R. E. V. ४०१।

बौद्ध धर्म का प्रभाव स्पष्ट दिखायी देता है।[1] इस प्रकार पश्चिमी एशिया की धार्मिक स्थिति पर बौद्ध धर्म का प्रभाव प्रथम शताब्दी ई० पू० तक मिलता है और नि.सदेह अशोक के धर्म प्रचार के उत्साह और उन प्रदेशो मे किये गये कार्य के कारण ही पैदा हुआ होगा।

जब हम कहते हैं कि अशोक ने अपने अफसरो द्वारा अपने साम्राज्य मे और उससे बाहर, भारत और पश्चिमी एशिया दोनो मे, धम्म का प्रचार किया, तब इसका यह अर्थ कदापि नही होता कि बौद्ध भिक्षुओ ने स्वय अपने धर्म के लिए कुछ नही किया। दीपवश और महावश हमे बताते हैं कि मोग्गलिपुत्त तिस्स ने भारत के विभिन्न भागो मे प्रचारक भिक्षु भेजे जिससे हमे यह मानना पडता है कि अशोक के समय मे भी बौद्ध धर्माधिकारियो ने अपने धर्म के प्रचार के लिए अपने निजी तरीके अपनाये। पर, जैसे कि हम देख चुके हैं, हमे उनके विवरण का उपयोग करते हुए सतर्क रहना है। प्रतीत होता है कि बौद्ध धर्माधिकारियो ने कम-से-कम दो दल भेजे, एक हिमालय प्रदेश मे और दूसरा पश्चिमी भारत मे। पहले दल का नेता मज्झिम नही था, गोतीपुत्त कसप-गोत था। और इन हिमालय प्रदेशो के अतर्गत कश्मीर और गंधार भी थे। इस तरह मज्झन्तिक, जिसको पृथक् रूप से इन प्रदेशो मे भेजा गया कहा जाता है, और मज्झिम एक ही व्यक्ति सिद्ध होता है। सभाव्यतः हुआ यह होगा कि गोतीपुत्त कसप-गोत के नेतृत्व मे गये दल मे मज्झिम भी होगा और कि गोतीपुत्त कसप-गोत ने मज्झिम को प्रचार-कार्य के लिए इन दो प्रान्तो का भार सौप दिया होगा। इसी प्रकार, रक्खित, धम्मरक्खित, महाधम्मरक्खित और महारक्खित चार अलग-अलग नाम नही हैं, जैसा सिहली इतिहास-ग्रथो से अनुमान होता है। वे

१. वही, XII, ३१८-९।

सभाव्यतः एक ही व्यक्ति का निर्देश करते हैं जो पश्चिमी भारत भेजा गया था जिसके अन्तर्गत वनवासी, अपरान्त, महारट्ठ और योनालोक थे। दो और मिशन इसी प्रकार भेजे गये प्रतीत होते हैं—एक सुवर्णभूमि और दूसरा लका। ये मिशन शायद मोग्गलिपुत्त तिस्स ने भेजे होगे पर उनका उन कार्यो से कोई सबध नही था जो अशोक ने इसी उद्देश्य से किए। अशोक के पास अपने धर्म के प्रचार के लिए अपने राज्य-शासन का सारा तत्र और वित्त मौजूद थे, और जब, जैसा कि हम देखते हैं, उसे सब अफसरो को अपना प्रचारक बनाने का नया, पर प्रभावी, तरीका सूझा, तव स्वभावत. अधिक वास्तविक, द्रुत और विस्तृत परिणाम निकलने की आशा करनी चाहिए। और अगर हम यह ध्यान रखें कि बौद्ध सघ के अधिकारियो ने भी थोडी-बहुत लगन के साथ उसी दिशा मे कार्य जारी रखा, तो यह कोई आश्चर्य की बात नही कि दोनो के सम्मिलित प्रयत्नो के परिणामस्वरूप धर्म के प्रचार मे अत्यधिक सफलता हुई हो। क्योकि क्या हम यह नही देखते कि तीसरी शताब्दी ई० पू० के मध्य भाग के बाद से बौद्ध धर्म एकाएक बडे विस्तृत क्षेत्र मे फैलता चला गया और भारत तथा अफगानिस्तान के विविध भागो मे स्तूपों, विहारो और गुफाओ आदि धार्मिक निर्माण-कार्यो की बाढ-सी आ गयी। इस काल मे बौद्ध धर्म की ऐसी प्रधानता रही है कि और सब धर्म पिछड गये और साहित्य तथा वास्तुकला मे उनके बहुत कम अवशेष मिलते हैं। पर इसका अधिकतर श्रेय तीसरी शताब्दी ई० पू० के राजर्षि इस बौद्ध सम्राट को मिलना चाहिए।

अध्याय ६

अशोक-कालीन स्मारकों के आधार पर सामाजिक और धार्मिक जीवन

यदि हम अशोक के कार्य करने के समय की सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियो पर विचार न करे तो उसकी, तथा उसकी सफलताओ की पूरी तस्वीर हमारे सामने नही आ सकती। यहाँ भी यह ध्यान रखना चाहिए कि इस अध्याय में उसकी पूरी तस्वीर नही आ सकती। हमारा उद्देश्य तो सिर्फ यह दिखाना है कि अशोक के प्रस्तर-अभिलेखो से इस पर क्या प्रकाश पडता है, और जहाँ अत्यधिक आवश्यक होगा वही हम इस चित्र को बाहरी सामग्री की सहायता से अधिक स्पष्ट और उजला करेगे।

सबसे पहले हम यह जानने का यत्न करेगे कि भारत के धार्मिक जीवन के बारे मे हमे क्या जानकारी मिल सकती हे। हम देख चुके हे कि अशोक प्रजा को जो धम्म का आचरण सिखाता है उसमे वह "ब्राह्मणो और श्रमणो" से उचित व्यवहार की बात कहता हे। इन शब्दो का अर्थ स्पष्ट रूप से समझा नही गया। इसका यही अस्पष्ट-सा अर्थ समझ लिया गया है कि "ब्राह्मण और तपस्वी" या "ब्राह्मण और सन्यासी।" यही पदावलि पालि साहित्य मे, उदाहरण के लिए परिनिब्बानसुत्त मे, भी आती है, जहाँ प्रोफेसर राइस-डेविड्स इसका यह अर्थ करते हैं कि "साधु-जीवन के कारण

ब्राह्मण ।"[1] पर यह द्वन्द्व समास है; कर्मधारय नही, और इसका अर्थ "ब्राह्मण तथा श्रमण" ही किया जाना चाहिए। बौद्धो के पालि ग्रथो मे जहाँ कही भी ब्राह्मणो और श्रमणो का एक साथ उल्लेख हुआ है वहाँ दोनो को अधिकतम, परन्तु समान, पावनता और आदर का पात्र माना गया है ।[2] इसलिए वे दो परस्पर-विरोधी प्रकार के धर्मो का निर्देश करते हैं । ब्राह्मण वे सन्यासी और साधु प्रतीत होते हैं जिनके विचार और आचार वेदो के अनुसार थे, और श्रमण वे जिनके सिद्धान्त और आचरण ब्राह्मण-शास्त्रो के विपरीत थे । दोनो धर्मो के व्यक्ति, अपने भिन्न सिद्धान्तो और आचारो के बावजूद, एक-सा पवित्र जीवन बिताते होगे और इस तरह आम जनता की दृष्टि मे बराबर आदर के अधिकारी होते होगे । यही कारण है कि ब्राह्मण सन्यासियो का भी, बुद्ध के समय मे, श्रमणो के समान आदर किया जाता था, और यही कारण है कि अशोक स्वय भी दोनो के लिए समान आदर प्रदर्शित करता है और जनता से भी ऐसा ही करने का अनुरोध करता है ।

स्तम्भ प्रज्ञापन ७ मे तीन धार्मिक सप्रदायो का नामोल्लेख है, अर्थात् सघ, ब्राह्मण आजीविक और निग्रथ । यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि अशोक कहता है कि इनके अलावा और भी सम्प्रदाय हैं, पर क्योकि वह उनका नाम न लेकर सिर्फ इन तीन का नाम लेता है, अत स्पष्ट है कि उसके समय मे ये तीन सम्प्रदाय ही सबसे मुख्य थे । इन तीन मे से सघ शब्द निश्चित ही बौद्ध सम्प्रदाय के लिए है और क्योकि अशोक स्वय इस सप्रदाय का अनुयायी था, इसलिए वह उसका सबसे पहले और इस नाम से उल्लेख करता है ।

१ S B E XI, १०५, टि० १ ।

२ IA १८९१, पृ० २६३ ।

अशोक के समय मे जो बौद्ध धर्म प्रचलित था उसके सिर्फ एक विशेष रूप का हमे पता है। यह विशेष रूप निगलीव स्तभ लेख मे उल्लिखित कोना-कमन बुद्ध है। इस अभिलेख मे अशोक कहता है कि मैंने अपने अभिषेक के बीसवे वर्ष मे, दूसरी बार स्वय यहाँ आने पर, इस बुद्ध के स्तूप को बडा कराया। इससे यह स्पष्ट है कि अशोक के समय से पहले ही गौतम के धर्म पर पूर्ववर्त्ती बुद्धो का धर्म थोपा जाने लगा था। निगथ निग्रथ निर्ग्रन्थ या महावीर के अनुयायी अर्थात् जैनी हैं। इस प्रकार आजीविक[1] रह गये और विचित्र बात है कि उन्हे ब्राह्मण कहा गया है। हम नही जानते कि इसका ठीक-ठीक क्या अर्थ है। पर यह प्रतीत होता है कि आजीविको के दो सप्रदाय थे—एक ब्राह्मण आजीविक, और दूसरा अ-ब्राह्मण आजीविक। अ-ब्राह्मण आजीविक सभाव्यत. वे थे जिनका जैनो से सबध था और दूसरे सप्रदाय में सभाव्यतः मस्करी या परिव्राजक थे जिनका पाणिनि और पतजलि ने उल्लेख किया है। यह जॉच बडी मनोरंजक हो सकती है कि आजीविकों के ये दो समुदाय अपने सिद्धान्तो और आचारो के आधार पर, जो इस समय बिलकुल मिल गये प्रतीत होते हैं, पृथक्-पृथक् किये जा सकते हैं या नही। उदाहरण के लिए, एक बौद्ध लेखक कहता है कि आजीविक मछली खाते थे, एक दूसरा बौद्ध ग्रंथ उन्हे जीवो के प्रति अत्यधिक दयालु बताता है और ये दोनो बाते परस्पर मेल नही खाती। फिर, कुछ बौद्ध सुत्त कहते हैं कि वे धम्म की फलप्रदता मे विश्वास नही करते थे—तो

१ JDL, II १-८० मे डा० बेनीमाधव बरुआ का आजीविको पर एक विद्वत्तापूर्ण लेख है जिसमे वह सब जानकारी है जो विविध स्रोतो से उनके बारे मे प्राप्त होती है। पर यह अनुमान कि आजीविको के कम से कम दो सम्प्रदाय थे, सर्वथा मेरा है।

फिर वे अत्यन्त कठोर धार्मिक तप क्यो करते थे, जैसा कि कुछ और बौद्ध सुत्त हमे वताते हैं। प्रतीत होता है कि यहाँ परस्पर-विरोधी सिद्धान्तो और आचारो का निराशाजनक घुटाला है जो तभी स्पष्ट हो सकता है जब उनको पृथक्-पृथक् आजीविक सप्रदायो से संवधित करने का यत्न किया जाए। जिस बात पर यहाँ हमे ध्यान देना है वह यह है कि यदि आजीविक सप्रदाय दो थे तो उनमे से अधिक महत्त्वपूर्ण ब्राह्मण आजीविक थे और ये सभाव्यत वही थे जिनके लिए अशोक ने बराबर मे पहाड़ी गुफाएँ खुदवायी। ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ अशोक हमे स्वय वता रहा है कि उपर्युक्त ब्राह्मण-श्रमण शब्द से उसका क्या आशय है। अशोक का सघ और निर्ग्रन्थ तो श्रमण-धर्मी होते थे और आजीविक ब्राह्मण-धर्मी।

अशोक ने इन सप्रदायो को निर्दिष्ट करने के लिए जिस शब्द का प्रयोग किया है वह है पासड। इसे सस्कृत पाषण्ड का पर्यायवाचक माना गया है जिसका अशोक के समय मे भी 'नास्तिक' अर्थ होता था, जैसा कि कौटिल्य अर्थशास्त्र से स्पष्ट है। परन्तु अशोक ने इस शब्द का इस अर्थ मे प्रयोग नही किया क्योकि वह अपने सघ को भी पासड कहता है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि जिन शिला प्रज्ञापनो मे यह शब्द आया है, उनमे से शाहवाजगढी और मानशेरा के पाठो मे प्रायः सर्वत्र, अन्य प्रतियो के पासड शब्द के स्थान पर प्रषड शब्द का प्रयोग हुआ है। इससे मालूम होता है कि यह सस्कृत के पाषड शब्द का तद्‌भव रूप न होकर, पार्षद, अर्थात् पर्षद का सदस्य, का तद्‌भव रूप है। पर प्राचीन सस्कृत मे 'पर्षद' शब्द 'धार्मिक सभा' का भी वाचक है। यह अशोक के पासड शब्द के निकट तो अवश्य है, पर उसके सही अर्थ को व्यक्त नही करता। यह सर्वथा सम्भव है कि अशोक के समय से यह सस्कृत शब्द ठीक

यही अर्थ व्यक्त करता हो। प्रत्येक पासड या धार्मिक समुदाय दो भागो मे विभक्त था–(१) प्रव्रजित या सन्यासी, और (२) गृहस्थ। अशोक इन विभागो का दो वार उल्लेख करता है, एक वार शिला प्रज्ञापन १२ मे और दूसरी वार स्तम्भ प्रज्ञापन ७ मे।

पासडो के साथ सवद्ध एक शव्द धम्म है। हम देख चुके हैं कि अशोक धम्म से क्या समझता था। उसकी दृष्टि मे धम्म का अर्थ था कुछ नैतिक कर्त्तव्य, और क्योकि वह गृहस्थी वौद्ध, यानी उपासक, था, इसलिए स्वभावत. उसके धर्म के अन्तर्गत वे कर्त्तव्य थे जो वौद्ध धर्म के उपासको के लिए निर्धारित किये गये हैं। पर यह ध्यान रखना चाहिए कि वह इस वात से अपरिचित न था कि अन्य पासड भी प्राय उन्ही कर्त्तव्यो की शिक्षा देते थे। ऊपर यह दिखाया जा चुका है कि शिला प्रज्ञापन १३ मे अशोक यह स्वीकार करता है कि धम्म के नाम से मैं जो नैतिक कर्त्तव्य करने के लिए आग्रह करता हूँ, वे कर्त्तव्य हे जिनकी शिक्षा सव पासड, चाहे वे व्राह्मण सप्रदायों के हो चाहे श्रमण सप्रदायो के, देते हैं। दूसरे शव्दो मे, वह कहता है कि सव सम्प्रदायो का धम्म प्राय एक ही है। और यही कारण है कि शिला प्रज्ञापन ७ मे वह कहता है कि "(मेरे राज्य मे) सव स्थानो पर सव सप्रदाय रह सके क्योकि उन सवका ध्येय आत्म-संयम और हृदय की पवित्रता है," और शिला प्रज्ञापन १२ मे कहता है कि लोगो को एक दूसरे के मुख से धम्म का श्रवण करना चाहिए ताकि इसके सार की वृद्धि हो। यहाँ ध्यान देने योग्य वात यह है कि सव ही सप्रदाय कुछ धार्मिक गुणो और आचारो का उपदेश करते थे और उनके अनुसार वही धम्म था। प्रो० राइस-डेविड्स के शव्द इस प्रसग मे उद्धत करने योग्य हैं। "धम्म शव्द का (अग्रेजी) अनुवाद लॉ (विधि या कानून) किया गया है। पर अग्रेजी के लॉ शव्द के

जो विविध अर्थ हैं उनमे से एक का भी वाचक यह नही है। बल्कि इस प्रसग मे जब यह प्रयुक्त होता है, तब इसका अर्थ होता है वह कार्य, जिसे रूढि के अनुसार करना 'शुभ विधि' है। इस प्रकार इसका ठीक-ठीक अर्थ धर्म कभी नही होता, बल्कि वह कार्य होता है जिसे करने मे सत्य-भावना वाले व्यक्ति की शोभा है—दूसरी ओर, जो कार्य समझदार आदमी स्वभावत करेगा। यह कर्मकाड या धार्मिक सिद्धान्तो से सर्वथा पृथक् वस्तु है।"[1] इसी कारण गौण शिला प्रज्ञापन २ मे, जहाँ अशोक और जगह की तरह अपने नैतिक कर्त्तव्यो का उल्लेख करता है, वहाँ अन्त मे कहता है कि वे 'पोराणा पकिति दिघावुसे' अर्थात् (मनुष्य की) प्राचीन और चिरस्थायी प्रकृति के उत्पादन हैं। इससे एक कदम और आगे बढकर, प्रो० जौली कहते हैं कि "सारे सस्कृत साहित्य मे धर्म शब्द एक अत्यधिक व्यापक और महत्त्वपूर्ण शब्द है। भारतीय टीकाकारो ने इसकी व्याख्या उस कार्य के रूप मे की है जिसमे आत्मा का अपूर्व नामक गुण पैदा हो और जो स्वर्गीय आनन्द और अन्तिम मुक्ति का मूल हो।"[2] इस प्रकार धम्म का अर्थ है रूढि के अनुसार किया गया वह कोई भी कार्य जो सत्य भावना-वाला आदमी स्वतः करेगा और, साथ ही, जो स्वर्गीय सुख का देने वाला हो। अशोक भी इसी अर्थ को व्यक्त करना चाहता है, क्योकि शिला प्रज्ञापन ९ मे वह स्पष्ट कहता है : "सब सासारिक धर्म-कर्म सदिग्ध प्रकार के हैं। हो सकता है कि इनका ध्येय पूर्ण हो जाये और हो सकता है कि न हो। पर धम्म मगल समय द्वारा प्रतिवन्धित नही है, और चाहे इससे

---

१. बुद्धिस्ट इडिया, पृ० २९२।

२. E R. E, IV, ७०२।

यहाँ कोई कार्य सिद्ध हो या न हो, पर परलोक मे उनसे अनन्त पुण्य मिलता है।"

धम्म शब्द के उपर्युक्त अर्थ से एक बड़ा प्रश्न पैदा हो जाता है। क्योकि इसका यह अर्थ है कि धर्मयुक्त कार्य स्वयं फलप्रद है और बीच मे किसी ईश्वर के हस्तक्षेप के बिना ही स्वर्गीय सुख प्रदान करने मे समर्थ है। इसी कारण स्मिथ ने अशोक की पद्धति को बिना ईश्वर का धार्मिक सम्प्रदाय कहा है।[1] पर उसने जो कुछ कहा है वह न केवल अशोक के धम्म के बारे मे, बल्कि उसके समय के अधिकतर पासडो के धम्म के बारे मे ठीक बैठता है। अशोक के समय तक कर्म का सिद्धान्त सर्वत्र माना जाता था। साधारण जनता धर्मयुक्त कार्य करके ही सन्तुष्ट थी और वह आशा करती थी कि अपने कर्म के परिणामस्वरूप, इस ससार में किये हुए धार्मिक कार्यों के पुरस्कार के रूप मे, हम अगली बार कोई न कोई देवता बनकर पैदा होगे। कर्म का और उसके परिणामस्वरूप होने वाले पुनर्जन्म का, नाश करने का यत्न सिर्फ सन्यासी और साधु करते थे, और उन्हे ही इसमे सफलता होती थी—चाहे वे ब्राह्मण हो या श्रमण। और इसलिए एक चेतन, पृथक् ईश्वर मे विश्वास की कोई आवश्यकता नही थी। पाचवी सदी ई० पू० से अशोक के समय तक व्यक्तिगत आत्मा की मुक्ति के बारे मे अपना-अपना अलग सिद्धान्त लिये हुए, एक के बाद दूसरा विचारक और एक के बाद दूसरा सम्प्रदाय सामने आया। लेकिन एक या दो को छोड़कर और सब कर्म के मोहक सिद्धान्त मे उलझ गये और यह मानने लगे कि सिर्फ कर्म से व्यक्ति का कल्याण होता है। क्या बौद्ध, क्या आजीविक, क्या जैन और क्या अन्य सम्प्रदाय, सबके सब यही मानते

---

१. अशोक, पृ० ३३–४।

थे—सिर्फ एक भक्तिमार्ग ऐसा था जो कर्म के सिद्धान्त को अधिक दूर तक नही मानता था और यह प्रतिपादन करता था कि परमात्मा के प्रति आत्मार्पण से ही मुक्ति मिल सकती है। पर इस समय तक जो भक्ति-मार्ग विशेष प्रचलित नही हुआ था, वह अशोक के बाद शीघ्र ही प्रमुखता प्राप्त करने लगा। और सच्चाई यह है कि तब तक इतना अधिक व्याप्त हो गया कि उसी बौद्ध धर्म पर, जो इतना अधिक और इतने काल से प्रतिष्ठित था, भक्ति की छाप पडी।

प्रचलित विश्वास के एक और भी अश का अशोक ने अपने शिला-प्रज्ञापनो मे उल्लेख किया है। यह सत्य है कि हिन्दू समाज कर्म के सिद्धान्त से इतना अधिक अभिभूत था कि कर्म करने को ही सबसे महत्त्वपूर्ण और फलप्रद माना जाता था, और कि एक वैयक्तिक ईश्वर की पूजा और उपासना को विचारणीय नही समझा जाता था। पर यह सिर्फ वहाँ तक सत्य था जहाँ तक भविष्य-जीवन का सम्बन्ध था। पर इस जीवन के बारे मे क्या हो? यह बात सर्वथा अग्राह्य है कि प्राचीन भारत के लोग ऐसे दार्शनिक और अ-सासारिक थे कि उन्हे सासारिक सुखो से कोई वास्ता ही न था। शिला प्रज्ञापन ६ मे अशोक कहता है: "लोग रोगो मे, विवाहो मे, पुत्रो के जन्म और यात्रा पर विविध (सौभाग्यप्रद) धर्म-कार्य करते हैं। इन, तथा ऐसे अन्य, अवसरो पर, लोग अनेक धार्मिक कृत्य करते हैं। परन्तु इन प्रसगो पर स्त्रियाँ बहुत, अनेक तरह के (पर) क्षुद्र, निरर्थक कृत्य किया करती हैं।" इससे अशोक के समय के लोक-विश्वासो के एक और अश पर प्रकाश पडता है, और यक्षो, चैत्यो, गधर्वो, नागो आदि की पूजा के, जिसके बारे में बौद्ध पालि साहित्य मे इतनी अधिक सामग्री मिलती है, प्रचलित होने का पता चलता है। और इन बौद्ध लेखो से यह सिद्ध कर

देना भी असभव नही है कि अशोक का यह कथन सत्य था कि स्त्रियाँ ऐसे शुभावह कृत्य करने मे विशेप रूप से अग्रसर थी। लोक-विश्वास की इस प्रवृत्ति की ओर अशोक का रुख कदापि शत्रुतापूर्ण नही था। "सौभाग्यप्रद कृत्य", वह कहता है, "अवश्य किए जाने चाहिएँ। पर इस प्रकार के कृत्य का बहुत थोडा फल होता है", और इस सिलसिले मे वह ऐसे कृत्यों की धम्म-मगल से तुलना करता है, और कहता है कि जहाँ उन कृत्यो की फलप्रदता सदिग्ध है, वहाँ धम्म-मगल पर समय की कोई शर्त्त नही है और वह कम-से-कम परलोक मे निर्भ्रान्त रूप से अनन्त पुण्य प्रदान करता है।

सामाजिक जीवन के बारे मे भी अशोक के लेखो से बड़ी मनोरजक झलकियाँ मिलती है। हिन्दू सामाजिक जीवन के साथ सम्बन्धित एक बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण बात शास्त्र द्वारा निपिद्ध या अनुमोदित भोजन का विचार है। हम जानते है कि स्तम्भ प्रज्ञापन ५ मे अशोक कुछ प्रकार के पशुओ, पक्षियो और मछलियो का नामोल्लेख करता है जिनका वध निपिद्ध है। उसके कहे हुए कुछ प्राणी पहचाने नही जा सकते पर बहुत सारे हमें ज्ञात हैं। उनके बारे मे अशोक स्पष्ट रूप से कहता है कि वे प्राणी न खाये जाते हैं और न किसी और उपयोग में आते हैं। अपने कथन के पिछले अश से उसका वास्तव मे क्या अभिप्राय है, यह पूरी तरह स्पष्ट नहीं। पर इसमे कोई सन्देह नही कि यहाँ वह उन प्राणियो की चर्चा कर रहा है जो भोजन में तो काम नही आते पर तब भी औपधि या सजावट मे उपयोग के लिए मारे जाते हैं। अब यदि अशोक द्वारा उल्लिखित ऐसे प्राणियो की सूची की तुलना उन प्राणियो की सूची से करे जिन्हे धर्मसूत्रों या धर्मसहिताओ ने भोजन या वध के लिए

अनुमोदित या निषिद्ध किया है, तो हमे बडे विचित्र परिणाम प्राप्त होते हैं। इनमे कुछ तो ऐसे हैं जिन्हे अशोक और धर्म-शास्त्र दोनो ने निपिद्ध कहा है। इनमे शुक (तोता), सारिका (मैना), चक्रवाक (चकवा) और हस हैं।[1] पर कुछ और प्राणी अशोक के समय में निपिद्ध थे, लेकिन स्मृतिकारो ने उनके वध की अनुज्ञा दे दी थी। यहाँ भी हमे उनके दो विभाग करने पडते हैं—एक वे प्राणी जिनके वध की अनुज्ञा सब स्मृतिकारो ने दे दी है और दूसरे वे जिनके वध की अनुज्ञा कुछ ने दे दी है। पहले विभाग मे कपट और दुडि अथवा नर और स्त्री कछुआ तथा सयक या सेह हैं जिनको स्मृतिकारो ने अनुज्ञात किया है, पर अशोक ने निपिद्ध किया है। दूसरे विभाग का सिर्फ एक उदाहरण अर्थात् पलसते या गेडा, मिलता है जिसको अशोक ने निपिद्ध किया है, पर याज्ञवल्क्य, गौतम, मनु और आपस्तव ने अनुज्ञात किया है और वसिष्ठ तथा बौधायन ने निषिद्ध किया है। हम यहाँ वहुत सूक्ष्म ब्योरे मे नही जा रहे—उसकी विस्तृत चर्चा और कही की जा सकती है। पर इस प्रसग मे हम एक मनोरजक बात को नही भुला सकते। अव तक हमने जिन प्राणियो पर विचार किया है वे हैं जिन्हे अशोक ने तो सर्वथा अवध्य घोषित किया है और स्मृतियो ने अशत या पूर्णत भोज्य वताया है। पर एक प्राणी ऐसा है जिसे अधिकतर स्मृतियो ने निषिद्ध किया है, पर जो अशोक के समय मे भोज्य-वस्तु के रूप मे उपयोग में लाया जाता था। यह है मोर, जिसका मास मध्य देश के लोग वडे चाव से खाते थे और जो अशोक का प्राणिरक्षा का कार्यक्रम अमल मे आने के वाद भी राजा के भोजन के

१. इस प्रसग मे मनमोहन चक्रवर्ती का अत्यधिक विद्वत्तापूर्ण लेख 'एनिमल्स इन दि इन्स्क्रिप्शान्स आफ पियदसी' (MASB), जिल्द १, सख्या १७ देखिए।

लिए मारा जाता रहा था।[1] पर एक को छोडकर और सब धर्म-शास्त्रो ने मोर मारने पर प्रायश्चित्त का विधान किया है।

इस अध्याय का उद्देश्य विभिन्न धर्मशास्त्रो के काल या वर्त्तमान स्वरूप के बारे मे कोई विचार करना नही है। पर क्योकि अशोक के वे सब स्तम्भ, जिन पर यह प्रज्ञापन है, मध्यदेश मे मिले हैं, इसलिए यह परिणाम निकलता है कि विहित या निषिद्ध भोजन के जो पदार्थ इसमे उल्लिखित हैं, वे उस देश पर लागू होते हैं। धर्मसूत्रों में बौधायन और वसिष्ठ आर्यावर्त्त या मध्यदेश के आचारो के सकलनकर्त्ता माने जाते हैं। परन्तु बौधायन तो यह कहता है कि उत्तर के आचार उत्तर भारत में और दक्षिण के आचार दक्षिण भारत मे अनुसरण किये जाने चाहिएँ, और गौतम कहता है कि आर्यावर्त्त मे प्रचलित आचार सर्वत्र प्रामाणिक माना जाता है। यह बात इस तथ्य के साथ मेल खाती है कि मोर का मास सब स्मृतियो द्वारा निषिद्ध है, पर बौधायन तथा गौतम द्वारा निषिद्ध नही है, और वे मध्यदेश के थे। अब, हमे भारत के बारे मे जिस बात पर ध्यान देना है, वह यह है कि बौद्ध और जैन धर्मों के निरन्तर बढते हुए प्रभाव के कारण निरामिष भोजन की प्रवृत्ति बढती जाती थी और कि जो भोजन पहले अनुज्ञात थे वे बाद के काल मे निषिद्ध हो गये होगे, पर जो पहले निषिद्ध थे, वे बाद मे अनुज्ञात नही हो सकते। बौधायन और गौतम दोनो ने पॉच पादागुलि वाले प्राणियो, सेह और कछुए, के खाने को अनुज्ञात किया है, पर वे कहते हैं कि गेंडे के बारे में कुछ सदेह है। परन्तु अशोक के समय मे न केवल गेडा, बल्कि सेह और कछुआ भी निषिद्ध हैं। जहाँ तक कम से कम इन आधारो का सम्बन्ध है, हमे मानना होगा कि धर्मसूत्रो का

१. ऊपर, पृ० १७।

निर्माण अशोक के राज्य से पहले हुआ था।

सामाजिक जीवन से सम्बन्धित एक और मनोरजक बात है स्त्रियो की स्थिति। आम तौर पर यह समझा जाता है कि प्राचीन भारत मे स्त्रियाँ पर्दे मे नही रहती थी और कि पर्दे की प्रथा भारत मे मुसलमानो के साथ आयी। पर इससे अधिक गलत धारणा और हो नही सकती। भास और कालिदास के नाटको के पढने से इसमे कोई सन्देह नही रहता कि उनके समय मे पर्दा प्रचलित था। वात्स्यायन के, जो तीसरी शताब्दी ई० प० मे हुआ, कामसूत्र से इसकी पर्याप्त पुष्टि हो जाती है।[1] पर ईसा से वहुत समय पहले तक इस प्रथा का पता चलता है। हम देख चुके हैं कि अशोक अपने अवरोधन की चर्चा करता है, जिसका अर्थ है महिलाओ के रहने का भीतरी बद कक्ष। और इसके अनुरूप ही, अर्थशास्त्र मे अन्तः-पुर का उल्लेख है,[2] जिसके वारे मे वहाँ न केवल उसके निर्माण की रीति वतायी गयी है, बल्कि बाहरी व्यक्तियो से उसकी रक्षा का उपाय भी वताया गया है। रामायण मे भी स्त्रियो को पर्दे मे रखने की प्रथा का कई जगह जिक्र है। पर इसका प्राचीनतम उल्लेख पाणिनि ३ २ ३६ मे है, जिसमे असूर्यपश्या शब्द दिया गया है, और जिसकी व्याख्या करते हुए काशिका मे लिखा है असूर्यपश्या राजदारा (=वे जो सूर्य नही देखती, अर्थात् राजा की पत्नियाँ)। अगर काशिका मे यह परम्परागत उदाहरण के रूप मे दिया गया है तो इसका यह अर्थ है कि पाणिनि के समय मे राजा की रानियाँ इतनी कडाई से अन्त पुर मे वद रहती थी कि उन्हे कभी सूर्य देखने का अवसर भी न मिलता था।

---

१ SAMSJ, जिल्द २, भाग १, पृ० ३३७ और ३५९--६०।

२. पृ० ४० और आगे।

फिर, शिला प्रज्ञापन ९ मे, जिसमे अशोक रोग, विवाह, पुत्र-जन्म, यात्रा आदि मे किये जाने वाले मगल-कृत्यो की चर्चा करता है, वह कहता है कि "स्त्रियाँ बहुत, अनेक प्रकार के, (पर) क्षुद्र, निरर्थक मगल-कृत्य करती हैं।" वह प्रवृत्ति सनातनी हिन्दू स्त्रियो मे आज तक प्राय: वैसी ही चली आती है और हमे बेथम का यह कथन स्मरण करा देती है कि "स्त्री का धर्म अधिक सरलता से अंधविश्वास की ओर, अर्थात् सूक्ष्म क्रियाकलाप की ओर, झुक जाता है।[1]"

हम नही जानते कि अशोक के समय मे समाज का ठीक-ठीक ढाँचा कैसा था। पर उसके प्रज्ञापनों की दो-तीन उक्तियो से उसकी कुछ आशिक झाँकियाँ मिलती हैं। इस प्रकार शिला प्रज्ञापन ५ में कहा गया है कि धर्म-महामात्रो को उन ब्राह्मणो और इभ्यो की देख-भाल के लिए नियुक्त किया गया है जो धन के लिए सेवा करते थे। यहाँ ब्राह्मण से अभिप्राय सासारिक ब्राह्मणों से है, ससार-त्यागी ब्राह्मण सन्यासियो और साधुओ से नही, जो श्रमणो के साथ आये हैं। इभ्य शब्द विचित्र है। यह एक बार उपनिषदो मे आता है, और पालि साहित्य मे भी उसका प्रयोग मिलता है। उदाहरण के लिए, यह महानारद कस्सप जातक मे प्रयुक्त हुआ है, जहाँ टीकाकार ने इसकी व्याख्या गहपति (गृहपति) की है। गृहपति शब्द साधारणतया ब्राह्मण-व्यवस्था के तीसरे वर्ण, वैश्य का सूचक माना गया है। पर पालि ग्रथो मे वेस्स (वैश्य) शब्द सिर्फ सिद्धान्त-विवेचन के सिलसिले मे पाया जाता है, लेकिन उनमे कोई ऐसा सकेत नही है कि वैश्य एक पृथक् जाति या वर्ण थे।[2] इसके विपरीत, इभ्य या

१. थियोरी आफ लेजिस्लेशन (पेटरनोस्टर लाइब्रेरी), पृष्ठ ३९।

२. फिक का सोशल आर्गेनाइजेशन, आदि, पृ० २५१।

गृहपति एक सुनिश्चित सामाजिक समुदाय, एक उच्च धनिक वर्ग, था जो सदा क्षत्रियो और ब्राह्मणो के बाद आता था। यह कुछ विचित्र प्रतीत हो सकता है कि अशोक के लेखो मे क्षत्रियो का एक बार भी उल्लेख नही। पर हमे यह स्मरण रखना चाहिए कि वैश्यो की तरह क्षत्रियो का भी, योद्धा जाति के अर्थ मे, अलग अस्तित्व नही था। उस समय क्षत्रिय शासक वर्ग के सूचक थे, जिसमे अशोक के समय उसके सम्बन्धी, उसके अधीन सामन्त और दक्षिण मे अन्त या सीमावर्त्ती राजा थे। और हम जानते है कि इनका अशोक ने अपने प्रज्ञापनो मे उल्लेख किया है। क्षत्रियो या योद्धा वर्ग की तरह शूद्रो की भी सिर्फ सिद्धान्त-विवेचन मे ही चर्चा होती थी, पर एक 'पृथक् वर्ण या वर्ग' के रूप मे उनका कोई वास्तविक अस्तित्व नही था, और अशोक के समय में समाज के निचले स्तरो मे भृतक या किराये के मजदूर और दास थे जिनके प्रति दया रखने के लिए राजा विशेष रूप से शिक्षा देता है, और उसके अनुसार धम्म के अन्तर्गत जो नैतिक कर्त्तव्य आते हैं उनमे एक यह भी है। उस समय जब आज के ढग की वर्ण-व्यवस्था नही पैदा हुई थी, भृतक और दास, सारत पृथक् सामाजिक समुदाय थे। भारत मे दासता की प्रथा उस समय नही थी और यद्यपि किराये के मजदूर होते थे पर वे विभिन्न वर्णो के होते थे, और आजकल के सामाजिक तत्र की लाक्षणिक विशेषता वर्ण है, वर्ग नही।

अशोककालीन भारत के सामाजिक जीवन से सम्बन्धित एक और बात उसके शिला प्रज्ञापन २ से ध्वनित होती है। उसमे राजा हमे बताता है कि अपने और अपने पडोसी राजाओ के राज्यो मे उसने दो प्रकार की चिकित्सा का प्रबन्ध किया—एक मनुष्यो के लिए और एक पशुओ के लिए। और वह यह भी बताता है कि

औषधीय वनस्पतियाँ, मूल और फल, जहाँ नही होते वहाँ सर्वत्र बाहर से पहुँचाये गये और बोये गये। इस अभिलेख से हम यही समझ सकते कि अशोक ने मनुष्यो के लिए औषधालय और पशुओ के लिए पिंजरापोल खोले। यह कहना कठिन है कि भारत के किसी और भाग मे धर्मार्थ सस्थाएँ स्थापित करने का चलन था या नही, पर यह निश्चित है कि बम्बई प्रदेश मे यह चलन मौजूद था। इस प्रकार, अट्ठारहवी शताब्दी के अभिलेखो से यह सर्वथा स्पष्ट है कि महाराष्ट्र और गुजरात, दोनो मे राजा और सामन्त गरीबो और असमर्थो के लिए मुफ्त चिकित्सा की व्यवस्था प्रायः किया करते थे, कि इसके निमित्त चिकित्सको को माफी भूमि या गाँव पुरस्कार मे मिलते थे, और कि कुछ अवस्थाओ मे, इन पुरस्कारो का प्रयोजन स्पष्ट रूप से यह बताया गया हे कि वे उन भूमियो पर चिकित्सोपयोगी वनस्पतियाँ उगा सके।[१] पिंजरापोल या पशु चिकित्सालय तो पश्चिमी भारत मे आज तक पाये जाते हैं। पिंजरापोल का प्राचीनतम वर्णन वह है जो हैमिल्टन ने प्रकाशित किया है और यह अट्ठारहवी शताब्दी के पिछले दिनो में सूरत मे कायम पिंजरापोल का वर्णन है।[२] टूटे अग वाला या अन्य प्रकार से असमर्थ पशु, उसके मालिक के वर्ण या जाति का विचार बिना किये उसमे भर्ती किया जाता था। यह बात बहुत उपयुक्त जॅचती हे। क्योकि जब अशोक कहता है कि मैंने मनुष्यो और पशुओ, दोनो के लिए

---

१. सैलेक्शन्स फ्राम दि सतारा राजाज़ एड दि पेशवाज डायरीज, जिल्द ८, पृ० २२१--३, एस० एच० होडीवाला की 'स्टडीज इन पारसी हिस्ट्री' पृ० १८६--८। इन निर्देशो के लिए मै डा० सुरेन्द्रनाथ सेन का ऋणी हूँ।

२ हेमिल्टन की 'डिस्क्रिप्शन आफ हिंदोस्तान' (१८२०), पृ० ७१८, क्वार्टो सस्करण।

चिकित्सा का प्रबन्ध किया है तब उसका आशय यही है कि उसने मनुष्यो के लिए तो धर्मार्थ औपधालय बनाये हैं और पशुओ के लिए पिजरापोल जैसी चीज बनायी है। फिर जब वह कहता है कि जहाँ औपधीय वनस्पतियाँ, मूल और फल पहले नही होते थे, वहाँ वे बाहर से पहुँचाये गये और बोये गये हैं, तब इसका यही अर्थ है कि इन सस्थाओ के साथ कुछ कृषि-क्षेत्र बनाये गये थे जिससे सब वनस्पतियाँ हर समय उपयोग के लिए तैयार मिल सके। यह सचमुच बडी विलक्षण बात है कि रोगी मनुष्य और पशु की मुफ्त चिकित्सा की प्रथा, जो पश्चिमी भारत मे अट्ठारहवी शताब्दी मे प्रचलित थी, तीसरी शताब्दी ई० पू० मे भी विद्यमान थी। और एक दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि अशोक के इस लोकोपकारी कार्य द्वारा उस समय ज्ञात सब औपधियाँ ससार को उपलब्ध हो गयी।[1]

इस काल के सामाजिक जीवन का कोई विवरण तब तक पूर्ण नही कहा जा सकता जब तक इसके सास्कृतिक पहलू पर विचार न कर लिया जाए। अब हम यथासम्भव सक्षेप में इस पर विचार करने का यत्न करेंगे। इसमे यह स्मरण रखना चाहिए कि अशोक के लेख उस काल की सास्कृतिक उन्नति की सीधी चर्चा बहुत कम करते हैं। पर उनसे सस्कृति के वाहनो, अर्थात् लेखन या वर्णमाला और भापा पर बहुत प्रकाश पडता है। अशोक के लेख दो लिपियो मे उत्कीर्ण हुए हैं, (१) ब्राह्मी और (२) खरोष्ठी। खरोष्ठी मे उत्कीर्ण लेख शाहबाजगढी और मानशेरा मे पाये गये चौदह शिला प्रज्ञापन हैं। उसके और सब लेख ब्राह्मी मे हैं। बूलर

१ इस विपय का सावधानी से अनुसधान करने की आवश्यकता है, पर, तब तक देखिए, दि सर्जिकल इस्ट्रूमेंट्स आफ दि हिन्दूज, लेखक—जी० एन० मुखोपाध्याय, जिल्द १, पृष्ठ ३४ और आगे, तथा पृ० ४८ और आगे।

ने, एक चीनी लेखक के आधार पर, इस शब्द का सही रूप खरोष्ठी बताया है और इसे खरोष्ठ (गधे का ओठ) शब्द से व्युत्पादित किया है जो इसके आविष्कर्त्ता ऋषि का नाम था। पर सिलवेन लेवी, एक और चीनी लेखक के आधार पर, उसका सही रूप खरोष्ट्री बताता है और इसे खरोष्ट्र शब्द से बना हुआ मानता है जो भारत के पास, उससे बाहर, एक देश था। दूसरी लिपि को ब्राह्मी कहा गया है क्योंकि यह ब्रह्मा देवता से प्रादुर्भूत मानी जाती है। खरोष्टी लिपि फारसी, अरबी और उर्दू की तरह, दायी ओर से बायी ओर को लिखी जाती थी और ब्राह्मी, आजकल की सब हिन्दू लिपियो की तरह, बायी ओर से दायी ओर को लिखी जाती थी। खरोष्ठी भारत के उत्तर पश्चिमी भाग मे चीनी तुर्किस्तान तक चलती थी और ब्राह्मी सारे भारत मे, जिसमे खरोष्ठी का प्रयोग करने वाले प्रदेश भी शामिल थे, प्रचलित थी। खरोष्ठी पाँचवी शताब्दी ई० प० के आस-पास स्वय अपनी मौत मर गयी, जबकि ब्राह्मी को न केवल भारत की, बल्कि श्रीलका, बर्मा और तिब्बत की भी, सब लिपियो की जननी माना गया है। खरोष्ठी को दायी ओर से बायी ओर लिखे जाने से मालूम होता है कि यह सामी (सैमिटिक) देश से चली थी। यह आरामेइक लिपि से निकली मानी जाती है जो एकिमीनियनो के शासन-काल मे मिस्र से ईरान तक सर्वत्र फैली हुई थी। अब यह बात तक्षशिला में हाल मे मिले एक आरामेईक शिलालेख से सिद्ध हो चुकी है कि वे, गाधार जीतने के बाद, शासन के लिए आरामियन लोगो को वहाँ लाये : और इस तरह उन्होने भारत के लोगो को आरामेइक भाषा और वर्णमाला से परिचित कराया। हम पहले देख चुके हैं कि मौर्य प्रशासन के राजनयिक आचार और राज-दरबार पर ईरानी प्रभाव पडा था,

और हमने बताया है कि यह उत्तर-पश्चिमी भारत पर, एकिमीनियन आधिपत्य के कारण था।[1] ब्राह्मी लिपि के उद्गम के बारे मे अनेक और विभिन्न विचार हैं। पर वे सब अंत मे दो वादो के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। इनमे से पहला ब्राह्मी को इसी देश मे उत्पन्न मानता है। पहले लासेन ने यह सुझाव रखा था और बाद मे कनिंगहम ने इसका समर्थन किया। दूसरे वाद के अनुसार, इसका उद्गम सामी (सैमिटिक) है। यह वाद दो प्रकार का है, और इनमे से जिस विचार को भारतीय प्राचीन लिपिशास्त्र के सब यूरोपीय विद्वान अब स्वीकार करते हैं वह वेबर और बूलर का है जिनकी यह मान्यता है कि ब्राह्मी लिपि उत्तरी सामियो की लिपि से निकली है जो इस समय ज्ञात प्राचीनतम फीनिशियन वर्णमाला है और लगभग ८५० ई० पू० की मानी जाती है। कनिंगहम ने इसके सामी उद्गम का खडन करने मे जिस तर्क को सबसे प्रबल बताया था वह यह था कि ब्राह्मी बाये से दायी चलती है, न कि अन्य सामी लिपियो की तरह दाये से बाये। पर बूलर ने निश्चित रूप से यह सिद्ध कर दिया है कि शुरू मे ब्राह्मी भी दाये से बाये लिखी जाती थी। इस प्रकार के चलन का स्मरण कराने वाले उदाहरण अशोक के लेखो मे मिल सकते हैं। इस तरह का एक उदाहरण ध, त, ओ आदि असयुक्त अक्षरो का व्युत्क्रम यानी उल्टा रूप है जो इन अभिलेखो मे मिलता है। सयुक्त व्यजन भी इन लेखो मे कही-कही व्युत्क्रम रीति से लिखे हुए हैं। इस प्रकार त्प, स्त,

---

१ बूलर का इडियन पैलियोग्राफी (अनु) पृ० २४ तथा आगे, IA, १६०४, पृ० ७६ और आगे, वही १६०५, पृ० २१ और आगे, और पृष्ठ ४१ और आगे, वही, १६०६, पृष्ठ ४ और आगे, कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इडिया, जिल्द १, पृ० ६२ और ६५७।

और व्य इस तरह खुदे हुए हैं जैसे वे प्त, त्स, और य्व हो। यह उदाहरण भी यही बात स्मरण कराता है कि ब्राह्मी शुरू मे दायें और बाये लिखी जाती थी। इस प्रकार सामी वाद पूरी तरह विजयी हो ही चुका था कि छः वर्ष पूर्व निजाम राज्य मे प्रागैतिहासिक टीलों की खुदाई हुई और उनमे मिले मृद्भाडो पर बने हुए चिन्हो का अध्ययन किया गया। इन चिह्नो मे से कम-से-कम पाँच वही हैं जो अशोक-कालीन वर्णमाला में हैं। फिर, एक नवपाषाण (Neolith) भारतीय सग्रहालय (इडियन म्यूजियम) मे जिस पर तीन निकटस्थ चिह्न हैं जो एक लिखावट प्रतीत होते हैं, और वे अशोक के तीन अक्षरो से काफी सादृश्य रखते हैं। इस प्रकार ब्राह्मी वर्णमाला के उद्गम की विवेचना ऐतिहासिक से प्रागैतिहासिक क्षेत्र मे पहुँच गयी। और ऐसा होता भी क्यो नही, क्योकि यूरोप मे भी सब सामी और अन्य वर्णमालाओ का उद्गम अब प्रागैतिहासिक काल मे बताया जा रहा है, और यह विचार बल पकडता जा रहा है कि वर्णमाला प्रागैतिहासिक मनुष्य के साथ ही पैदा हुई। और परिणामतः जब प्रागैतिहासिक कलाकृतियो पर बने हुए कम-से-कम आठ प्रतीक अशोक काल के वर्णो के सवादी हैं तब यह मानना अधिक तर्कसगत है कि ब्राह्मी प्रागैतिहासिक होती हुई भी इसी देश में उत्पन्न हुई है, न कि यह ८०० ई० पू० की एक सामी वर्णमाला से निकली है।

अब हमे जिस प्रश्न पर विचार करना है वह यह है : अशोक के समय मे भाषा की क्या अवस्था थी ? इस समस्या पर विचार आरम्भ करने से पहले हमे इन लेखो मे दिखायी देने वाली दो वर्ण-विन्यास सम्बन्धी (Orthographic) विशेषताओ पर ध्यान देना चाहिए, अन्यथा सम्भव है कि उन्हे बोली सम्बन्धी विशेषताएँ समझ

लिया जाये। पहली बात तो यह है कि अशोक के अभिलेखो मे सजातीय व्यजनो का द्वित्व नही दिखाई देता। इस प्रकार अत्थि (सस्कृत अस्ति) और सव्व (सस्कृत सर्व) के स्थान पर हमे सादे अथि और सव शब्द मिलते हैं। पर यह इन्ही लेखो की विशेषता नही है। क्योकि चौथी शताब्दी ई० पू० तक, स्मारकीय प्राकृत मे लिखा हुआ शायद ही कोई शिलालेख हो जिसमे अन्तर्भाव के कारण होने वाले व्यजनो के द्वित्व को लिखने मे दिखाया गया हो। दूसरे, शाहबाजगढ़ी और मानशेरा वाले चौदह शिला प्रज्ञापनो मे हम देखते हैं कि दीर्घ और ह्रस्व स्वर लिखने मे भेद नही किया गया। वर्णविन्यास सम्बन्धी यह विशेषता भी सिर्फ अशोकीय अभिलेखो मे ही नही पाई जाती, बल्कि परवर्त्ती काल के सब खरोष्ठी लेखो में भी पायी जाती है। सिर्फ ये दो बाते हैं जिन्हे वर्ण-विन्यास की रीति-विशेष बताकर व्याख्या कर लेना उचित है, पर और सब मामलो मे ये लेख वास्तविक उच्चारण के अभिव्यजक माने जा सकते हैं।

अब, हमारे अभिलेखो से बोलियो सम्बन्धी कौनसी विशेषताएँ प्रकट होती हैं? क्या अशोक के समय मे बोलियो के अस्तित्व का कोई प्रमाण मिलता है? इस प्रश्न पर अब हमे विचार करना है। यदि हम इस राजा के सात स्तम्भ प्रज्ञापनो को ले तो यह बात ध्यान मे आये बिना नही रह सकती कि वे सब एक बोली मे है, और उन सब मे कुछ स्पष्ट समानताएँ एक जैसी दिखाई देती हैं। इनका श्री सेनार्ट ने[1] बडी खूबी से वर्णन किया है। इसमे न तो 'ण' है, और न 'ञ', बल्कि सर्वत्र 'न' है। आदि का 'य' लुप्त है, जिसके परिणामस्वरूप, उदाहरण के लिए, यथा की जगह अथा मिलता है। र के स्थान पर ल का प्रयोग हे (राजा के स्थान पर लाजा)। पुल्लिग

१. IA, १८९२, पृ० १७१ और आगे।

का, और प्राय नपुसक लिग का भी, प्रथमा का एक वचन 'एकारान्त' है, जैसे समाज के लिए समाजे, दानम् के लिए दाने। आम तौर से, अनादि 'य' वाले सयुक्त व्यजन मे 'य' से पहले 'इ' लगाकर अन्तर्भाव नही होने दिया गया है—जैसे अवध्यानी के लिए अवधियानी। फिर, अनादि 'र' सर्वत्र लुप्त है, जैसे प्रिय के लिए 'पिय'। क्योकि सात स्तम्भ प्रज्ञापनो वाले सारे स्तम्भ मध्यदेश मे पाये गये हैं, इसलिए हम कह सकते हैं कि ये सब विशेपताए उस प्रदेश की बोली की लाक्षणिक विशेपताए हैं। पर जब हम चौदह शिला प्रज्ञापनों पर आते हे तब हमारे सामने एक और समस्या आती है। पहले तो, हम देखते हे कि मध्यदेश की ये बोली-सम्बन्धी विशेपताए धौलि और जौगडा प्रतिलिपियो में पूरी तरह, और कालसी वाली प्रतिलिपि मे प्राय पूरी तरह दिखायी पडती है। और इसके बाद जब हम शेष प्रतिलिपियो पर विचार करते हैं तो देखते हे कि शाहबाजगढी, मानशेरा और गिरनार प्रज्ञापनो मे, मध्यदेश की बोली की कुछ विशेषताओ के साथ-साथ कुछ अपनी निजी विशेपताए दिखायी देती हैं, जो बोलीसम्बन्धी अतरो की सूचक हैं, और यदि हम आगे अनुसधान करे तो हम देखते हैं कि वे दो पृथक् बोलियाँ हैं, जिनमे से एक शाहबाजगढी और मानशेरावाली प्रतियो से, और दूसरी गिरनार प्रति से निरूपित होती है। जब पाटलिपुत्र के सचिवालय से एक आदेश जारी किया गया होगा तब एक मसविदे की प्रतियाँ प्रत्येक प्रान्तीय सरकार को भेजी गयी होगी। पर जब यह मसविदा उत्कीर्ण किया गया होगा तब उस स्थान पर तो यह बिलकुल मूल के अनुरूप उत्कीर्ण होने की आशा की जा सकती है जहाँ की भाषा वही थी जो पाटलिपुत्र की थी। इसी कारण स्तम्भ प्रज्ञापनो मे, यद्यपि वे छ विभिन्न स्थानो पर खोदे गये थे, लगभग

एक ही मसविदा मिलता है। ये स्तम्भ शुरू मे जिन स्थानो पर खडे किये गये थे वे सब मध्यदेश मे थे, और परिणामतः पाटलिपुत्र से जो मसविदा जारी किया गया था, और जो उसी प्रान्त की बोली मे था, वह यथासभव मूल के अनुरूप उत्कीर्ण हुआ। पर शिला प्रज्ञापनों के मामले मे स्थिति भिन्न थी। जहाँ तक कालसी, धौलि और जौगडा की प्रतियो का सम्बन्ध है, इन स्थानो के मध्यदेश के अन्तर्गत या सीमावर्ती होने के कारण, उनमे प्राय एक ही मसविदा है और वह प्रायः सारा स्तभ प्रज्ञापनो की बोली मे है परन्तु शाहबाजगढी और मानशेरा उत्तरापथ के, तथा गिरनार दक्षिणापथ के अन्तर्गत थे।[1] उनकी अपनी बोलियाँ थी और परिणाम यह था कि यद्यपि मध्यदेश के मसविदे को ठीक-ठीक नकल करने का पूरा यत्न किया गया परन्तु फिर भी बोली सम्बन्धी प्रान्तीय विशेपताएँ उनमे आ ही गयी। उत्तरापथ की बोली की, और दक्षिणापथ की बोली की क्या-क्या विशेपताएँ थी ? ये बोलियाँ मध्यदेश की बोली से भिन्न थीं, यह तो इसी बात से सूचित होता है कि इनमे मध्यदेश की बोली की सब विशेषताओ का सर्वथा अभाव है। इस प्रकार उनमे न केवल 'न' है, बल्कि 'ञ' और 'ण' भी हैं। पुल्लिग का प्रथमा एकवचन रूप ओकारान्त है, एकारान्त नही। 'र' के स्थान पर 'ल' का प्रयोग नही है, इत्यादि। अब हमे यह देखना है कि उत्तरापथ और दक्षिणापथ की बोलियाँ परस्पर किस दृष्टि से भिन्न थी। दोनो मे अधिकरण (सप्तमी) का एकवचन कभी-कभी अवश्य एकारान्त है, पर प्राय दक्षिणापथ की बोली मे इसके अन्त मे 'म्हि' आता है और उत्तरापथ की बोली मे 'सि', जो मध्यदेश की बोली मे भी आता है। उत्तरापथ की बोली मे तीन ऊष्म वर्ण, श, ष और स, हैं, पर

१. CL., १९१८, पृ० ४४ और आगे।

दक्षिणापथ की वोली मे सिर्फ स है, जैसे कि मध्यदेश की वोली मे है। दक्षिणापथ की वोली में 'व्य' साधारणतया इसी रूप मे है, पर उत्तरापथ की वोली मे यह अन्तर्भाव होकर 'व्व' वन जाता है। फिर, इसमे 'य' और 'इ' प्राय. एक-दूसरे से वदल जाते हैं और वर्ग का तीसरा वर्ण पहला वन जाता है। दक्षिणापथ की वोली मे सयुक्त स्वर 'ऐ' विद्यमान है, और हमेशा 'ष्ठ' के, तथा कभी-कभी 'स्त' के स्थान पर 'स्ट' हो जाता है।

भारतीय भाषाशास्त्र के वारे में एक और वात पर भी अशोक के लेखो से प्रकाश पडता है। कुछ भाषाशास्त्री, विना किसी स्पष्ट धारणा के, यह कहा करते हैं कि पालि और प्राकृत मे ध्वनि-सवधी ह्रास हो गया, और कि इससे पता चलता है कि ये परवर्त्ती काल की हैं।[1] उनका कहना है कि अतर्भाव, विच्छेद (अलग-अलग करके वोलना या लिखना), मूर्धन्य और महाप्राण वर्णों की प्रचुरता आदि से ध्वनि-सवधी ह्रास सूचित होता है। पर क्या जिन वोलियो मे ये विशेषताए दिखायी पडती हैं, वे आवश्यक रूप से उन वोलियों से परवर्त्ती काल की हैं जिनमे वे विशेषताएँ नही हैं ? क्या यह वात नही है कि वे उच्चारण की एक रीति-विशेष को सूचित करती हैं जो किसी वर्ग, जाति या देश के लोगो में प्रचलित है, और दूसरे मे नही है ? आइए, हम देखे कि क्या अशोक के अभिलेखो से हम किसी परिणाम पर पहुँच सकते हैं ? यदि हम, उदाहरण के लिए, गिरनार वाली प्रति की, कालसी वाली प्रति से तुलना करे तो स्पष्ट दिखायी देगा कि कालसी वाली प्रति मे गिरनार वाली प्रति की अपेक्षा अधिक ध्वनि-ह्रास दिखायी देता है। हम पहले ही देख

---

१ आर० जी० भडारकर के विल्सन फाइलोलोजिकल लैक्चर्स, पृ० ८ और आगे; पृ० ३४ और आगे।

चुके हैं कि सयुक्त व्यजनो का मूल 'र' गिरनार वाली प्रति मे आम-तौर से मौजूद है, पर कालसी वाली मे सर्वत्र अनुपस्थित है। इस प्रकार गिरनार वाली प्रति मे हमे "सर्वत्र" शब्द मिलता है, पर कालसी वाली मे सब जगह 'सवत' (सव्वत्त) मिलता है। फिर गिरनार वाली मे हस्ति है, और कालसी वाली मे हथि (हत्थि) है। गिरनार वाली प्रति की तुलना करने पर कालसी वाली प्रति की भाषा मे पाये जाने वाले अतर्भाव के अनेक उदाहरणो मे से ये दो-चार यहाँ दिये गये हैं। फिर मूर्धन्य वर्णों की प्रचुरता की बात को लीजिए। सस्कृत के कृत और भृत शब्दो के लिए गिरनार वाली मे कत और भत हैं, पर कालसी वाली में सर्वत्र कट और भट हैं। इसी प्रकार गिरनार के द्वादस या ऐदिस के स्थान पर कालसी मे दुवाडस और हेडिस हैं। हेडिस शब्द और हेत तथा हिद आदि शब्द भी कालसी वाली प्रति मे महाप्राण की प्रवृत्ति को सूचित करते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पालि और प्राकृत के सामान्य नियमो के अनुसार कालसी वाली बोली मे गिरनार वाली की अपेक्षा अधिक ध्वनि-ह्रास दिखायी देता है। पर क्या इससे कोई भाषाशास्त्री यह निष्कर्ष निकालने का साहस करेगा कि कालसी वाली बोली गिरनार वाली बोली से परवर्ती काल की है? निश्चित है कि कोई भी ऐसा साहस नही कर सकता, क्योकि गिरनार वाली और कालसी वाली बोलियाँ अशोक के राज्य-काल मे साथ-साथ विद्यमान थी, और इसलिए एक को दूसरी से परवर्ती काल की नही कहा जा सकता। तो भी, इन भाषाशास्त्रियो के सिद्धान्तो के अनुसार, कालसी वाली बोली मे गिरनार वाली बोली की अपेक्षा अधिक ध्वनि-ह्रास दृष्टिगोचर होता है, और इसलिए इसे अवश्य परवर्ती काल की मानना चाहिए। सच बात यह है कि जिन्हे हम पालि और प्राकृत भाषा के नियम

कहते हैं, उनसे ध्वनि-ह्रास का जरा भी सकेत नही मिलता और न उनके परवर्त्ती होने का सकेत मिलता है जैसी उनकी मान्यता है, वे तो एक वर्ग, जाति या देश विशेष की उच्चारण की रीति को सूचित करते हैं जो सब कालो मे प्रचलित थी। उदाहरण के लिए, वैदिक भाषा को लीजिए।[1] वैदिक भाषा मे, अंतर्भाव होने पर व्यंजनो का द्वित्व होता है, यह बात इस तथ्य से स्पष्ट है कि विविष्ट्यै के साथ-साथ हमे विविट्ट्यै रूप भी मिलता है। मूर्धन्य वर्णों की प्रचुरता के उदाहरण के रूप मे हमें, वैदिक भाषा मे कुट, पड्भि. और विदड्डता भी मिलते हैं, और साथ ही कृत, पद्भिः और विदग्धता भी। और क्या आज भी हम नही देखते कि कुछ बगाली पडित भी, सस्कृत संदर्भों को पढते हुए, उदाहरण के लिए, स्मृति और लक्ष्मी शब्दो को, ऐसे बोलते हैं जैसे ये सृति और लक्खी हो। सचाई यह है कि ऐसा कोई साक्ष्य नही जिससे यह सिद्ध होता हो कि ये ध्वनिगत परिवर्तन वस्तुत ध्वनि-ह्रास हैं, और कि इनसे निश्चित रूप से पश्चाद्वर्त्तिता सूचित होती है, जैसा कुछ भाषाशास्त्रियो का दावा है। इसके विपरीत वे प्रयोग उच्चारण की एक भिन्न आदत के सूचक हो सकते हैं, जो किसी भी काल, या वर्ग या प्रांत मे, शुद्ध और परिमार्जित शैली के साथ-साथ विद्यमान हो सकते हैं।

इस प्रसग मे भरत के नाट्यशास्त्र[2] के सत्रहवे अध्याय मे कहे गये शब्द याद रखने योग्य हैं। यह स्पष्टरूप से हमे बताता है कि सस्कृत और प्राकृत दो भाषाएँ नही हैं, बल्कि भाषा की, अर्थात्, उच्चारण और शब्दो (पाठ्य) की, दो रीतियाँ हैं। उसने सिर्फ चार भाषाएँ मानी हैं, अर्थात् अभिलाषा—देवो की भाषा, आर्यभाषा—

१. इडीस्के स्टडीन, II ८७, टिप्पणी।
२. ५, २५ और आगे।

राजाओ की भाषा, जाति भापा—विभिन्न वर्णो और आदिम-जातियो की भाषा, और जात्यतरी—पक्षियो तथा पशुओ की भाषा। पहली दो मे सदा सस्कृत-पाठ्य अर्थात् परिमार्जित वाक्यावलि होती है, पर तीसरी मे सस्कृत, अर्थात् परिमार्जित और प्राकृत, अर्थात् गॅवारू शैली, दोनो होती हैं। इन शब्दो के अस्पष्टार्थक प्रयोग से, और इस विचार से कि, उदाहरण के लिए, पालि मे दिखायी देने वाले ध्वनिगत परिवर्त्तन ध्वनि-ह्रास के सूचक है और इसलिए इसके परवर्त्ती काल का होने की कसौटी हैं, बडा विभ्रम पैदा हुआ है। यदि हम कुछ भापाशास्त्रियो द्वारा पैदा किये गये और फैलाये गये विभ्रम और धारणाओ को सावधानी से अपने मन से दूर कर दे तो हम देखेगे कि जिस भाषा मे मौर्य सम्राट् अशोक के प्रज्ञापन लिखे गये हैं वह ठीक वही भापा है जिसका व्याकरण पाणिनि, कात्यायन और पतंजलिने वनाया था, पर कि प्रज्ञापनो मे उस भापा का प्राकृत रूप है, और इन वैयाकरणो ने उस भापा के सस्कृत रूप का व्याकरण वनाया है। हम यहाँ गिरनार प्रति के शिला प्रज्ञापन ९ से एक नमूने का सदर्भ लेते हैं—

देवान-पियो प्रियदसि राजा एव आह (:) अस्ति जनो उचावच मगल करोते आबाधेसु वा आवाहविवाहेसु वा पुत्रलाभेसु वा प्रवासम्हि वा। एतम्ही च अञम्हि च जनो उचावच मगल करोते।

अब, यदि हम कुछ ध्वनिगत विशेपताओ की छूट दे दे तो यह कहना कठिन है कि इस प्रज्ञापन की भापा उस भापा से भिन्न है जिसका व्याकरण पाणिनि और पतजलि ने लिखा था। आज के एक पडित की और कोई भारतीय भापा बोलने वाले एक व्यक्ति की वोली मे इससे कही अधिक अतर होगा। डा० एफ० डब्लू० टॉमस जैसे एक निष्पक्ष विद्वान् ने पहले ही कहा है कि "इन प्रज्ञापनो की भापा आदर्श से इतनी दूर नही जितनी दूर आजकल की लिखित और वोल-चाल

की अंग्रेजी है ।"[1] अशोक के समय मे मध्यदेश, उत्तरापथ और दक्षिणापथ के अनुसार, ध्वनिगत विशेषताएँ भी तीन ही प्रकार की थी, और ये तीनो उस समय की तीन मुख्य बोलियां थी । पर यदि हम एक बार यह स्वीकार कर ले कि इन बोलियो के विभेद, उच्चारण और शब्दावलि की विभिन्न रीतियाँ मात्र थे, तो अनिवार्यत यह निष्कर्ष निकलता है कि इन बोलियो का आदर्श रूप वह भाषा होनी चाहिए जिस पर वैयाकरणो ने लिखा है । इससे हमे पतजलि का यह कथन स्मरण हो आता है कि पाणिनि ने जिस भाषा के लिए लिखा है, वह, वह भाषा है जिसे शिष्ट, अर्थात् सुसस्कृत ब्राह्मण, स्वभावतः व्याकरण का बिना अध्ययन किये बोलते हैं ।[2] ध्यान देने की बात है कि पतजलि ने जिन शिष्टो की चर्चा की है वे हैं जो अष्टाध्यायी नही पढते पर फिर भी वैसे बोलते हैं जैसे इसमे बताया है । इससे प्रकट होता है कि पतजलि के समय लगभग १५० ई० पू० तक वही भाषा आर्यावर्त्त के सुसस्कृत ब्राह्मणो की भाषा थी जिसका व्याकरण अष्टाध्यायी है ?

यह माना जा सकता है कि अशोक काल की बोलियाँ उस भाषा की शैलियाँ मात्र हैं जो अधिकतर अ-सस्कृत वर्ग मे प्रचलित थी । पर यह पूछा जा सकता है कि फिर शिष्ट ब्राह्मणो की भाषा मे कोई शिलालेख क्यो नही है ? क्योकि, क्या प्रसिद्ध शिलालेखज्ञ डा० फ्लीट ने बहुत निश्चय से हमे नही बताया है कि पश्चिमी क्षत्रप वश के रुद्रदामन के काल, १५० ई० प०, से पहले का एक भी शिलालेख सस्कृत मे नही मिलता जिससे स्पष्ट है कि उस समय

१. JRAS, १९०४, पृ० ४६२ ।

२. आर० जी० भडारकर के विलसन फाइलोलौजिकल लैक्चर्स, पृष्ठ २९५--६ ।

साधारण जनता सस्कृत नही समझती थी और इसलिए उस समय यह बोली भी नही जाती होगी।

पर यह कथन पूरी तरह सही नही है कि इस काल का एक भी शिलालेख सस्कृत का नही मिलता। क्योकि उदयपुर राज्य (राजपूताना) मे मिली घोसूँडी बावडी का शिलालेख उस भाषा मे है जिसे सस्कृत कहा जाता है, विशेषकर इस कारण कि इसमे हमे दोहरा रूप दो बार प्रयुक्त दिखायी देता है।[1] बूलर ने इस अभिलेख का समय ३५० से २५० ई० पू० माना है। इसलिए यह लेख अशोक के समय के आस-पास का हे। यह कहना सर्वथा तर्क-सगत है कि ऐसे और भी सस्कृत अभिलेख अवश्य रहे होगे जो मूलतः सस्कृत मे उत्कीर्ण कराये गये, पर वे नष्ट हो गये। ऐसे शिलालेख ब्राह्मण स्मारको पर ही हो सकते थे, जो गाँवो और शहरो के निकट होने के कारण, और अधिकतर बौद्ध तथा जैन स्मारको की तरह बस्ती से बहुत एकान्त स्थान मे न होने के कारण, अब शायद सदा के लिए लुप्त हो गये।

डा० फ्लीट और प्रो० राइस-डेविड्स, दोनो की यह मान्यता है कि ३०० ई० पू० और १०० ई० प० के बीच के काल के शिला-लेख एक तरह की पालिभापा मे हैं जो लोक-भापा से सम्बन्ध और उस पर आधारित है। उनकी सम्मति मे, इससे निश्चित रूप से सिद्ध हो जाता हे कि १०० ई० प० तक प्रचलित भापा पालि थी, और कि सस्कृत, जिसका व्याकरण पाणिनि और पतजलि ने लिखा है, उस समय लोकभापा कतई नही हो सकती थी। इस विचार को स्वीकार नही किया जा सकता। पहले तो, हम अभी देख चुके हैं कि अशोक के समय का कम-से-कम एक शिलालेख मौजूद है जो

---

१ MASI. न० ४, पृ० ११६।

स्पष्ट और असदिग्ध सस्कृत मे है। दूसरे, इन विद्वानो ने उस वात पर ध्यान नही दिया दिखता, जो फ्रैंच विद्वान् श्री सेनार्ट ने इन शिलालेखो की भापा के, या जिसे वे स्मारकीय प्राकृत कहते हैं उसके, बारे मे कही है। सवसे पहले तो हमे उस विस्तृत प्रदेश को ध्यान मे रखना है जिस पर वे विखरे हुए हैं, अर्थात् गुजरात और पश्चिमी तट की गुफाओ से लेकर कृष्णा नदी के मुहाने और पूर्वी तट पर उडीसा मे खडगिरि की गुफाओं तक, तथा मध्यवर्ती भारत मे सॉची से और बरहौत से लेकर बम्वई प्रान्त के दक्षिणी छोर पर वनवासी[1] तथा मद्रास प्रान्त मे काची या आजकल के कांजीवरम तक। दूसरे, ये अभिलेख कम से कम सात शताब्दियो, लगभग २५० ई० पू० से ४५० ई० प० तक, के काल के हैं और उनमे से सवसे प्राचीन और सवसे अर्वाचीन मे कोई विशेष परिवर्तन नही दिखायी देता। डा० ओटो फ्रैंक[2] ने उनमे ध्यान देने योग्य कुछ बोली-सम्वन्धी विशेपताएँ अवश्य वतायी हैं, पर वे, विशेपकर अशोक के लेखो मे दिखायी देने वाली विशेषताओ की तुलना मे, इतनी थोडी हैं कि हमारे वर्तमान कार्य के लिए व्यर्थ ह। अब यह प्रश्न पैदा होता है: यह कैसे सभव है कि इतने विस्तृत क्षेत्र में फैली हुई भाषा सात शताब्दियो तक जनसाधारण के मुख से आगे बढती रहे और उसमे कोई ह्रास या रूपान्तर न हो? यह निश्चित रूप से असम्भव है और इस तथ्य से इस निष्कर्प की अच्छी तरह पुष्टि हो जाती है कि प्राकृतो के जो प्राचीनतम साहित्यिक नमूने—प्राचीनतम नाटको की हाल और प्राकृतो के पद्य—हमारे मौजूद हैं, वे इस काल की समाप्ति के या उसके कुछ समय बाद के हैं, पर तव भी उनमें वहुत अधिक

१. IA. १८९२, पृष्ट २६०।

२. पालि एण्ड सस्कृत, पृष्ठ ११० और आगे।

ध्वनिगत परिवर्तन दिखायी देता है। यह सम्भव नही कि इन लेखो की बोली इतने विस्तृत भूभाग मे और सात शताब्दी जैसे सुदीर्घ काल तक जीवित लोक-भाषा रही हो, पर यह बहुत सम्भव है कि यह भाषा लगभग २०० ई० पू० से ४५० ई० प० तक प्राचीन भारत की हिन्दुस्तानी अर्थात् हिन्दी या राष्ट्रभाषा (अन्तर-जनपदीय भाषा) रही हो। आजकल की हिन्दुस्तानी मे भी प्रान्तीय विशेषताएँ स्पष्टतया मौजूद हैं। महाराष्ट्र की हिन्दुस्तानी मे निश्चित रूप से मराठी पदावलि और वाक्य-रचना की पुट रहती है और बगाल की हिन्दुस्तानी मे बगला की, और महाराष्ट्र तथा बगाल की हिन्दुस्तानी उस हिन्दुस्तानी से भिन्न होती है जो, उदाहरण के लिए, बनारस मे बोली जाती है। पर तो भी इस कथन पर कोई आपत्ति नही कर सकता कि हिन्दुस्तानी (अर्थात् हिन्दी) आधुनिक भारत की राष्ट्रभाषा (अन्तर-राज्य भाषा) है। यही अवस्था स्मारकीय प्राकृत की थी, जो जहाँ-तहाँ कुछ प्रान्तीय भेदो के होते हुए भी, जैसा कि सबसे पहले डा० फ्रैंक ने पहचाना था, लगभग २०० ई० पू० से कम-से-कम १५० ई० प० तक, भारतवर्ष की राष्ट्र-भाषा थी। अब हमे इस प्रश्न पर विचार करना है कि यह कब और क्यो राष्ट्रभाषा बनी। निश्चित रूप से यह अशोक के समय इस पद पर नही पहुँची। मध्यदेश की बोली उत्तरापथ की बोली से उतनी भिन्न थी जितनी ये दोनो बोलियाँ दक्षिणापथ मे प्रचलित बोली से भिन्न थी। इस प्रकार, हमे अशोक के लेखो मे एक के स्थान पर तीन बोलियो का प्रयोग मिलता है। दूसरी ओर, स्मारकीय प्राकृत जिस रूप मे शिलालेखो मे प्रयुक्त होती थी, उनमे वह एक भाषा थी। इसके अतिरिक्त, यह अशोक के समय मे नही, बल्कि उसके शीघ्र बाद पैदा हुई। इस भाषा की उन्नति के कारणो की कल्पना ही की जा सकती

है। धर्म-प्रचार मे अशोक के अक्षय उत्साह के परिणामस्वरूप सारे भारत मे अपूर्व हलचल दिखायी देने लगी होगी। एक प्रान्त को दूसरे प्रान्त से पृथक् करने वाली सब बाधाएँ टूट गयी होगी और अन्तः-प्रान्तीय सचरण शुरू हो गया होगा जो बड़े जोर-शोर से चला होगा, और उसका परिणाम यह हुआ होगा कि अशोक की मृत्यु के शीघ्र बाद सारे भारत के लिए एक सामान्य भापा की आवश्यकता वडी तीव्रता से अनुभव होने लगी होगी। शायद उस प्रान्त की, जो उस समय इस हलचल का केन्द्र था और जहाँ महाराष्ट्री नामक प्राकृत की जनक भाषा बोली जाती थी, स्थानीय बोली से इस नयी आवश्यकता की पूर्ति हुई होगी। और जो वोली कभी सिर्फ एक स्थानीय बोली थी, वही अब एक ऐसी सार्वत्रिक भाषा के पद को सुशोभित करने लगी जिसमे एक ओर तो बौद्धो के धर्मग्रन्थ लिखे जाते थे ताकि वे सारे भारत मे समझे जा सके, और दूसरी ओर, वह सरकारी या राजकीय भाषा मान ली गयी तथा और धर्मो के लोगो द्वारा भी अपनाली गयी। इस प्रकार बेसनगर के प्रसिद्ध स्तम्भ का वैष्णव लेख, सातकर्णि का नानाघाट गुफाओ वाला लेख, जिसमे उसके अनेक वैदिक यज्ञो के नाम गिनाये गये हैं, और गौतमीपुत्र सात-कर्णि तथा वसिष्ठीपुत्र पुलुमावि (शातवाहन वश वाले) द्वारा जारी की गयी राजघोपणाएँ सब स्मारकीय प्राकृत मे हैं जो लगभग वैसी ही हैं जैसी दक्षिणी बौद्ध ग्रन्थो की पालि।[1]

१. पालि और स्मारकीय प्राकृत के बारे मे कही गयी ये सब बातें १९१९ में कलकत्ता विश्वविद्यालय मे दिये गये मेरे दो व्याख्यानो मे से उद्धृत की गई है। उन्ही व्याख्यानो मे मैने इस विचार का प्रतिपादन किया है कि जिसे गाथा बोली कहा जाता है, वह प्राय. कुशान काल के शिलालेखो की मिश्रित संस्कृत है, और पहली सदी ई० पू० से तीसरी सदी ई० प० तक, जब ब्राह्मणवाद की बढती हुई प्रधानता के कारण अब्राह्मण सप्रदाय भी बड़े पैमाने पर सस्कृत का

अब अशोक के काल मे प्रचलित कला के बारे मे दो शब्द कह दिए जाएँ। इस प्रसग मे भी हम सिर्फ उन स्मारको के विषय में ही कहेगे जो वास्तव मे उसने बनवाये थे और उनके विषय मे कुछ नही कहेगे, जिनका उनके नाम के साथ सबध जोड दिया गया है। सस्कृति के शायद इसी एक पहलू पर उसके स्मारको से प्रकाश पडता है। हम जानते हैं कि ये स्मारक वे शिलाएँ और स्तूप हैं जिन पर उसके धम्म प्रज्ञापन खुदे हुए हैं और वे गुफाएँ हैं जो उसने आजीविको को अर्पित कर दी थी। कला और वास्तु-विद्या की कृतियो के रूप मे उनका इतना अधिक वर्णन किया जा चुका है कि यहाँ कुछ भी कहने की आवश्यकता नही। हमे तो उन पर इजीनियर और कलाकार, दोनो के दृष्टिकोण से विचार करना है। यह जरा भी असभाव्य नही, जैसा कि पहले श्री सेनार्ट ने सुझाया था, कि एकिमीनियन राजा डेरिअस की आज्ञप्तियो को देखकर ही मौर्य सम्राट् के मन मे यह विचार आया कि शिलाओ पर उत्कीर्ण कराकर धार्मिक प्रज्ञापन जारी किए जाएँ। और स्मिथ का यह विचार

अध्ययन करते थे, पालि अभी साहित्य की भाषा के रूप मे लुप्त नही हुई थी, वह शिष्ट लोगो की (यदि साहित्य की नही तो कम-से-कम) बोलचाल कीभाषा को निरूपित करती है। इसी कारण हम कुछ बौद्ध ग्रथ भी इसमे लिखे हुए पाते है। यह स्वाभाविक है कि जो बौद्ध सप्रदाय कुशान काल मे पैदा हुए, उनके धर्मग्रथ उस भाषा मे हो जिसे शिष्ट लोग बोलते थे। तीसरी शताब्दी ई० प० तक सक्रमणकालिक अवस्था रही, और इसके अन्त मे सस्कृत सर्वत्र प्रयोग की भाषा हो गयी और साहित्य की भाषा के रूप मे पूरी तरह प्रतिष्ठित हो गयी जिसमे वह आगे भी बनी रही। जो बौद्ध सप्रदाय इस काल मे पैदा हुए, उनके धर्मग्रथ पूरी तरह सस्कृत मे हैं। इसी कारण धम्म पद हमे तीन रूपो मे, अर्थात् न केवल पालि और मिश्रित सस्कृत मे, बल्कि शुद्ध सस्कृत मे भी लिखा हुआ मिलता है।

भी सही प्रतीत होता है कि अशोक ने डेरिअस के नक्शे-रुस्तम वाले शिलालेख को ही अपना आदर्श बनाया, जिसके बारे में यह माना जाता है कि वह 'ऐतिहासिक के बजाय चिन्तनात्मक' है और इसमें डेरिअस का, अपने देशवासियों को, उनकी भविष्य की नीति, आचार और धर्म के बारे में अन्तिम उपदेश है।"[1] पर अशोक ने स्तूपों का भी इस कार्य में उपयोग किया और इस तरह वह एक कदम और आगे बढ गया। जहाँ तक शिलाओं को चिकना करने और उत्कीर्ण करने का प्रश्न है, अशोक के शिल्पियों ने संभाव्यत अपने ईरानी शिल्पी-बधुओं से उत्कृष्ट कार्य नहीं किया। पर स्तम्भों के विषय में स्थिति सर्वथा भिन्न है। ईरानी शिल्पकृतियों में स्तम्भ का सर्वथा अभाव नहीं था। पर ऐसे स्तम्भों का निर्माण उद्गम भारत ही में हुआ प्रतीत होता है जो स्वतन्त्र हो और किसी भवन के अग न हो, और पश्चिमी एशिया या यूरोप में रोमन सम्राटों से पहले ये स्तम्भ नहीं मिलते। फिर अशोक के स्तूप ४० से ५० फुट तक लम्बाई वाले, और औसतन २ फुट ७ इच व्यास के, अनुपम विशालकाय एक पाषाण हैं। लगभग चार फुट वर्ग और ५० फुट लम्बे शिला-खड को खदान में से निकालना आज बीसवीं सदी में भी, जब हम अपने आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान, प्रशिक्षण और उपकरणों पर इतना अभिमान करते हैं, बड़ा श्रमसाध्य कार्य है। दो हजार वर्ष पूर्व, मौर्य काल के शिल्पियों ने इस भारी कार्य को कैसे किया होगा, इस पर आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता। पर ऐसे विशालकाय पाषाण-खडों को सच्चा काटकर साफ़ करके, उनके सुन्दर गोल स्तूप बनाना, और उसे दर्पण की तरह ऐसा चमका देना कि आजकल के मिस्त्री भी उस पर विस्मय-विमुग्ध रह जाते हैं, और भी अधिक

१. स्मिथ का 'अशोक', पृ० १४१।

परिश्रम-साध्य और नाजुक कार्य था। पर इसे भी उन्होने बडी सफलता से पूरा किया। लेकिन इतनी ही बात नही है। अशोक के सारे के सारे स्तम्भ उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जिले के चुनार नामक स्थान की खदान से निकाले हुए बलुवा पत्थर (सैंडस्टोन) के बने हुए हैं। यह माना जाता है कि उन्हे वहाँ छेनी से साफ करके विभिन्न स्थानो को भेजा गया। ऐसे महाकाय स्तम्भो को बडी-बडी दूर ले जाने के लिए (और कुछ स्तम्भ पहाडी खदान से सैकडो मील दूर पहुँचाए गए थे) और उन्हे अलग-अलग तरह के तथा दूर-दूर के स्थानो पर खडा करने के लिए जिन यान्त्रिक साधनो और बुद्धिकौशल की आवश्यकता है, आज भी उन्हे जुटाना, यदि असभव नही तो बडा कठिन अवश्य है। सोलह शताब्दियो बाद सुलतान फीरोजशाह अशोक के तीन स्तम्भ दिल्ली लाया था, और हमारा सौभाग्य है कि उसके इजीनियरो को ये स्तम्भ दिल्ली लाने और उन्हे यहाँ खडा करने मे जो अत्यधिक कठिनाई हुई होगी, उसका सजीव चित्रण इनमे से एक के बारे मे—अर्थात् उसके बारे मे जो तोपरा (ज़िला अम्बाला, पजाब) से लाया गया था—अब भी सुरक्षित है। एक तत्कालीन इतिहास-लेखक शम्स-इ-सीराज लिखता है —

"थट्टा पर चढाई करके लौटने के बाद से सुलतान फीरोज प्राय दिल्ली के निकटवर्ती स्थानो मे आया-जाया करता था। देश के इस भाग मे दो पत्थर के स्तम्भ थे। एक तो सढौरा और खिजराबाद के जिले मे, पहाडियो के नीचे तोपरा गाँव मे था और दूसरा मीरठ शहर के निकट था। जब फीरोजशाह ने पहली बार ये स्तम्भ देखे तब वह इन पर मुग्ध हो गया और उसने उन्हे बडी सावधानी से हटाकर विजय-स्मारक के रूप मे दिल्ली ले जाने का सकल्प किया।

"खिजराबाद दिल्ली से ९० कोस दूर, पहाडियो के निकट है। जब सुलतान उस जिले में गया और उसने तोपरा गाँव मे वह स्तम्भ देखा तब उसने इसे दिल्ली ले जाने का, और वहाँ इसे भावी पीढियो के लिए स्मारक के रूप मे स्थापित करने का सकल्प किया। स्तम्भ को नीचे उतारने के उत्तम उपाय सोचने के वाद, पास-पडोस के सब लोगो को, जो दोआब मे या उससे वाहर रहते थे, तथा घुड़-सवार और पैदल सब सैनिको को वहाँ उपस्थित होने का आदेश दिया गया। उन्हे इस कार्य के लिए उपयोगी सब उपकरण और सेवल की रुई का एक-एक गट्ठर भी साथ लाने की आज्ञा दी गयी। सेवल की रुई के गट्ठर स्तम्भ के चारो ओर जमा कर दिये गये और जव इसके आधार पर से मिट्टी हटायी गयी तब यह धीरे-धीरे उस गद्दे पर आ पडा। इसके वाद धीरे-धीरे वह रुई हटा दी गयी और कुछ दिनो वाद स्तम्भ सुरक्षित धरती पर आ गया। जब स्तम्भ की नीव की जाँच की गयी तो मालूम हुआ कि उसके नीचे एक वडा वर्गाकृति पत्थर आधार के रूप मे था—यह पत्थर भी निकाल लिया गया।

"इसके वाद इस स्तम्भ पर ऊपर से नीचे तक सरकडे और खाले सी गयी ताकि इसे कोई हानि न पहुँचे। वयालीस पहियो की एक गाडी बनायी गयी और प्रत्येक पहिये के पास एक रस्सा वाँधा गया। प्रत्येक रस्से पर हजारो आदमी लगे, और वडे परिश्रम तथा कठिनाई के वाद स्तम्भ गाडी पर चढाया गया। प्रत्येक पहिये पर एक मजबूत रस्सा वाँधा गया, और इनमे से प्रत्येक रस्से पर २०० आदमी (४२×२००=८४००) लगे। इतने हजार आदमियो के युगपत् उद्योग से गाडी हिली और यमुना के किनारे लायी गयी। यहाँ सुलतान उसका स्वागत करने आया। वहुत सी वडी-वड़ी

नौकाएँ एकत्र की गयी थी, जिनमे से कई ५,००० से ७,००० मन तक अनाज ढो सकती थी और छोटी से छोटी २,००० मन अनाज ढोने वाली थी। यह स्तम्भ बडी चतुराई से इन नौकाओ पर चढाया गया और इस तरह फिरोजाबाद ले जाया गया। वहाँ उतार कर इसे असीम परिश्रम और कौशल से खुश्की मे ले जाया गया।

"इस समय इस पुस्तक का लेखक १२ वर्ष का था, और हजरत मीर खाँ का शागिर्द था। जब यह स्तम्भ इस स्थान पर लाया गया तब उसकी स्थापना के लिए जामिमस्जिद के पास एक स्थान का निर्माण आरम्भ हुआ। और उसमे अत्यन्त कुशल वास्तुविद् और कारीगर लगाये गये। यह पत्थर और चूने का बनाया गया और इसमे कई सीढियाँ थी। जब एक सीढी बन गयी तब स्तम्भ इसके ऊपर खडा किया गया, फिर दूसरी सीढी बनायी गयी और स्तम्भ को फिर उठाया गया और इसी तरह तब तक करते गये जब तक यह अभीप्ट ऊँचाई तक न पहुँच गया। इसके बाद इसे सीधा खडा करने के लिए और उपाय किये गये। बडे मोटे-मोटे रस्से लाये गये और आधार की छहो सीढियो पर चर्खियाँ (भारी बोझ उठाने का यन्त्र) लगायी गयी। रस्सो के सिरे स्तम्भ के ऊपरी भाग पर बाँधे गये और दूसरे सिरे चर्खियो पर से, जो मजबूती से बाँधी गयी थी, लाये गये। इसके बाद चर्खियाँ घुमायी गयी और स्तम्भ लगभग आधा गज ऊपर उठाया गया। इसके बाद इसे फिर नीचे धसक जाने से रोकने के लिए लकडी के लट्ठे और रुई की बोरियाँ नीचे रखी गयी। इस प्रकार, थोडा-थोडा करके, स्तम्भ को लम्बकोण पर खडा किया गया। तब इसके चारो ओर बडे-बडे शहतीर लगाकर इसे सहारा दिया गया और एक मचान (या पाड) बना दिया गया। इस प्रकार यह तीर की तरह बिलकुल सीधा, लव से जरा भी

अविचलित, खड़ा कर दिया गया। उपर्युक्त नक्काशीदार पत्थर स्तम्भ के नीचे स्थापित किया गया था।"[१]

फीरोजशाह ने अशोक के सिर्फ तीन स्तम्भ हटाये थे और वे भी सबसे बड़े स्तम्भ नहीं थे और अपने असली स्थानों से १५० मील से अधिक दूर नहीं ले जाये गये थे। इसके विपरीत, अशोक ने ऐसे तीन नहीं, बल्कि तीस स्तम्भ खड़े कराये थे और जिनमें से बहुत से इससे बहुत अधिक दूर ले जाये गये थे। इन स्मारकों के खदान, सफाई और स्थानान्तरण से, अशोक के मजदूरों की अत्यधिक कार्यकुशलता का और उसके इंजीनियरों की उच्चकोटि की सूझ-बूझ का बड़ा स्पष्ट प्रमाण मिलता है।

यह ध्यान देने की बात है कि अशोक के समय से पहले मुश्किल से ही कोई भवन पत्थर का था, और कि वास्तु-कार्यों में पत्थर के उपयोग के लिये भारत इस बौद्ध सम्राट् का ऋणी है। अपने प्रज्ञापनों में अशोक ने बार-बार यह कहा है कि जिन दो उद्देश्यों से उसे अपने प्रज्ञापन शिलाओं और स्तम्भों पर उत्कीर्ण कराने की प्रेरणा मिली है उनमें से एक यह है कि वे चिरस्थायी हों। इसी कारण अशोक ने अपने राज्य के दक्ष कारीगरों और साधनों का उपयोग करना, और अपनी धम्मलिपियों को पत्थरों पर उत्कीर्ण कराना उचित समझा। अशोक से पहले भारत की वास्तुकला में मुख्यतः लकड़ी का उपयोग हुआ है, जैसा कि बर्मा, चीन और जापान में आज भी होता है। लकड़ी, स्थायिता के अतिरिक्त और सब दृष्टियों से, पत्थर की अपेक्षा अच्छी इमारती वस्तु है। मैगास्थनीज ने लिखा है कि "पाटलिपुत्र के चारों ओर एक लकड़ी की दीवार थी जिसमें तीर छोड़ने के लिए छिद्र बने हुए थे।" जब चन्द्रगुप्त की

१. इलियट, हिस्ट्री ऑफ इंडिया, ३, ३५०।

राजधानी ही लकडी के खम्भो से घिरी हुई थी, तब यह अनुमान स्वाभाविक है कि उस समय निर्माण-कार्य मे प्राय. एकमात्र लकडी ही प्रयुक्त होती थी। जातको मे भी[1] लकडी के मकानो का उल्लेख बहुत है, ईंटो के मकानो का कही-कही है,[2] पर पत्थर के मकानो का कही भी नही है। पर इसका यह अर्थ नही कि सग-तराश की कला और उद्योग उस समय थे ही नही, क्योकि जातको मे इसके उल्लेखो का अभाव नही है।[3] दूसरे, अशोक के ही समय के आस-पास की कम-से-कम एक प्रस्तर मूर्ति है जो पर्खम[4] मे मिली है, जिसका निर्माण राजशिल्पियो ने नही किया। तीसरे राजपूताना के नगरी स्थान मे, हमे वासुदेव-सकर्पण को समर्पित एक समाधि के अति प्राचीन पाषाणमय घेरे के अवशेष मिले हैं, जिनका समय अशोक से कुछ पहले रखना होगा।[5] एक और पाषाण-भवन, जो फर्गुसन[6] के अनुसार निश्चित रूप से अशोक से पहले का है, वह है जो राजगिरि मे है और जिसे जरासध की बैठक कहते हैं। अगर इस सम्राट् से पहले पाषाण कला और उद्योग के विकास का और प्रमाण अपेक्षित हो तो वह पिपरावा स्तूप[7] से निकाली गयी विशाल-काय पत्थर की तिजोरी से मिल जाता है। यह ४ फुट ४ इच × २ फुट सवा आठ इच × २ फुट सवा दो इच का सलेटी रग के बलुआ पत्थर का विशालकाय एक पाषाण है और उच्चकोटि की

१. जातक, II १८ ७--१३, VI ३३२. २१।

२ वही, VI. ४२६. १७ ८।

३ देखो, उदा जातक I ४७८, ५ और १२।

४. कैटे. आर्कि. म्यू., मथुरा, पृ० ८३ और प्ले. XII.

५. MASI, न० ४, पृ० १२८।

६. HIEA. जिल्द १, पृ० ७५।

७. SAMSJA, जिल्द ३, भाग १, पृ० ४२६।

कारीगरी का नमूना है। प्रतीत होता है कि जब अपनी धम्म-लिपियो को स्थायी रूप देने का विचार अशोक के मन मे आया तब उसने सगतराश की कला का उपयोग किया जो पहले ही वहुत विकसित और उन्नत दशा मे थी।

यह तो हमने अशोक के स्मारको पर इजीनियर के दृष्टिकोण से विचार किया। पर कला की दृष्टि से वे किस कोटि के हैं? इस दृष्टि से भी, ये स्मारक जिन तीन वर्गों मे बाँटे गये हैं, उनमे से स्तम्भ ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। प्रत्येक स्तम्भ मे तीन भाग हैं—खभा (शैफ्ट) और घटाकृति स्तभशीर्ष (कैपिटल), शीर्षफलक (एबैकस) और ऊपर चारो ओर की कलाकृति स्तभ-शीर्ष, शीर्षफलक और ऊपरी कलाकृति मिलकर स्तम्भ की सबसे महत्त्वपूर्ण और कलात्मक विशेषता हैं। इसका शायद सबसे अच्छा नमूना वह है जो सारनाथ मे मिला है और जिसे सारनाथ स्तम्भ-शीर्ष कहते हैं। इसके बारे मे सर जान मार्शल ने लिखा है· "इसके विपरीत, सारनाथ स्तम्भशीर्ष, सर्वश्रेष्ठ कृति न होने पर भी, अत्य-धिक उन्नत कला का नमूना है जो तीसरी सदी ई० पू० मे ससार मे विद्यमान थी—वह एक ऐसे व्यक्ति के हाथ की रचना है जिसके पीछे पीढियो का कलात्मक उद्योग और अनुभव था। शीर्षवर्त्ती सिहो की उद्दाम शक्ति, उनकी फूली हुई शिराओ और अतिपुष्ट-मासपेशियो मे, तथा नीचे की सजीव नक्काशी मे, कही भी अविक-सित कला की छाया नही है। शिल्पी का उद्देश्य स्वाभाविकता था, और उसने अपनी कृति सीधे प्रकृति से लाकर खडी की है और उसका रूप प्राणवान और सच्चे हाथ से अकित किया है, पर उसने इससे कुछ अधिक किया है उसने उन चार सिहो को, जान-बूझ-कर और एक निश्चित प्रयोजन से, एक निर्माणीय परम्परागत

आत्मा से अनुप्राणित कर दिया है, जिससे उनका स्मारक के वास्तु-स्वरूप के साथ सामजस्य हो जाएँ, और शीर्षफलक का अश्व बनाने मे उसने उस प्ररूप का उपयोग किया है जो पश्चिमी कला मे सुविदित और स्वीकृत था। उसकी नक्काशी कला भी इसी तरह प्रौढ है। प्राचीन ग्रीक मूर्त्तिकला की तरह प्राचीन भारतीय मूर्त्तिकला मे भी, यह चलन था, जैसा कि हम अभी देखेगे, कि नक्काशी या उभार को दो स्थिर तलो—पाटी के आरम्भिक सम्मुखस्थ तल तथा पृष्ठभूमि के तल—के बीच सपीडित कर दिया जाता था। सारनाथ स्तम्भशीर्ष की नक्काशियो मे इस प्रक्रम का कोई चिन्ह नही है, प्राणी का प्रत्येक अग इसकी वास्तविक गहराई के अनुसार किसी सम्मुखस्थ तल का बिना विचार किये बनाया गया है, जिसका यह परिणाम हुआ है कि यह एक ऐसी मूर्त्ति लगती है जिसे आधा काट लिया गया है और फिर शीर्षफलक की पृष्ठभूमि पर लगा दिया गया है।"[1]

पर पुराविदों की सम्मति मे अशोककालीन वास्तुकला विदेशी है। एक विचार यह है कि स्तम्भ के ऊपरी अर्द्धाश की अधिकतर विशेपताएॅ (विशेपकर घटाकृति स्तम्भशीर्ष) ईरान के रास्ते एसीरिया से ग्रहण की गयी, जहाँ से अशोक को वह प्रेरणा मिली जिसके परिणामस्वरूप भारत की वास्तुकला मे लकडी का स्थान पत्थर ने लिया।"[2] दूसरा विचार, जो सबसे नया है, यह है कि अशोक का स्तम्भ सर्वथा ईरानी-यूनानी वस्तु है। इसकी वास्तुकला-सम्वन्धी विशेपताएँ तो ईरान की हैं, पर जीवित रूपो का प्रतिरूपण सर्वथा यूनानी है। क्योकि लगभग इसी काल मे यूनानी भावना बैक्ट्रिया

१. CHI, I ६२०–१।
२. HIEA. जिल्द १ पृष्ठ ५८–९।

मे प्रवल थी और 'ईरान के स्फूर्तिहीन अभिव्यंजनाशून्य रूपों को प्राणवान वना रही थी।"[1] और इस प्रकार यह ईरानी-यूनानी कला वैक्ट्रिया से भारत आयी पर, यदि सचमुच अशोक का स्तम्भ ईरानी-यूनानी कला का निरूपण करता है और वह वैक्ट्रिया मे विकसित हुई थी, तो क्या कारण है कि स्वयं वैक्ट्रिया मे, या उसके आस-पास, उदाहरण के लिए, भारत के उत्तर-पश्चिमी भाग मे, उसका कोई नमूना नही मिलता। यदि ऐसे नमूने नही मिलते तो ईरानी-यूनानी प्रभाव निरी निराधार कल्पना है। दूसरे, ऐसे स्वतन्त्र स्तम्भ, जो किसी भवन के अविभाज्य अंग न हो, वनाने का विचार, जैसा कि ऊपर वता चुके है, न ईरानी है और न यूनानी, वल्कि भारतीय है। इसी प्रकार यदि वैक्ट्रियन यूनानियो ने अशोक के स्तम्भो के प्रतिरूपण और निर्माण मे इतना प्रमुख भाग लिया तो यह कुछ अजीव-सी वात है कि उन्होंने इस कला में कोई ऐसी विशेषताएँ निविष्ट नही की जो प्रारूपिकतया यूनानी हैं, जैसे आयोनिक या कोरिंथियन पद्धति की विशेषताएँ। ये विशेषताएँ हमें इंडो-पार्थियन और कुशान काल की वास्तु-कृतियो मे मिलती है, पर अशोक की कृतियो मे जरा भी नही मिलती। यह सत्य है कि यूनानी कला की सुविदित विशेषताएँ—मधुपायक (हनीसकल—एक आरोही क्षुप, लोनिसेरा, जिसके पीताभ फूलो मे से लम्बी जिह्वा वाले कीट आसानी से मकरंद पी लेते है), साँकल और मनको तथा रीलो के आभूपण—अशोक के स्तम्भो में पाये जाते है। पर ये आभूपण प्रारूपिकतया यूनानी नही हैं क्योंकि इतिहासवेत्ताओ के अनुसार, यूनानियो ने स्वयं ये एसीरिया से ग्रहण किये थे। और यह कहना अधिक स्वाभाविक है कि स्तम्भ की अन्य

---

१. CHI. I. ६२२।

विशेषताएँ, जैसी घटाकृति स्तम्भशीर्ष, चिकना बे-नाली खभा और चमकदार पालिश—ये सब बातें एसीरियनो से सीधे ग्रहण की गयी, ईरानियो के द्वारा नही। यह कहना अधिक निरापद है, जेसा कि राजेन्द्रलाल मित्र ने बहुत वर्ष पहले कहा था, कि भारतीयो ने ये बाते एसीरियनो से सीखी, पर अशोक के काल से बहुत पहले सीखी थी।[1] यह निष्कर्ष इस तथ्य के साथ भी सर्वथा सगत हो जाता है कि जरासध की बैठक को, जिसे सब पुराविद प्राड् मौर्यकाल का मानते हैं, फर्गुसन एसीरियन उद्गम की, और बीर्स निमरूद से नकल की हुई मानता है।[2] पर भारतीयो और एसीरियनो का सम्पर्क कब और कहाँ हुआ? ये एसीरियन असदिग्ध रूप से असुर हैं, जिनका वैदिक साहित्य मे उल्लेख है, जो भारत ही मे रहते थे, और जिनके साथ वेदकालीन आर्यों के निरन्तर युद्ध होते रहते थे। प्रतीत होता है कि आर्यों के आगमन से पहले वे भारत के अधिकाश पर काबिज थे। मालूम होता है कि असुर महान् निर्माता थे। क्योकि ऋग्वेद मे भी उनके 'सात दीवारो वाले' या 'लोहे की दीवारो वाले नगरो' की या उनके 'पत्थर के सौ नगरो की' चर्चा है। यह उस काल की दृढ प्राकारो का उल्लेख प्रतीत होता है, जिनमे से कुछ पत्थर की बनी हुई होगी। फिर, ऋग्वेद मे राजप्रासादो को 'सहस्र-द्वार' बताया गया है और उनमे 'हजार स्तम्भो वाले सभा भवन' है—यह भवन ठीक वैसा है जैसा, महाभारत के वर्णन के अनुसार, मय असुर ने युधिष्ठिर के लिए बनाया था। ये बहुत सभाव्यतः लकडी के बने हुए थे। असुर वास्तुकला की खास विशेषता भवनो की महाकाय शैली थी। वे बहुत बडे पैमाने पर भवन बनाते थे। अशोक के समय

१. इडो-आर्यन्स, जिल्द १, पृ० १४।
२. केव—टेपल्स ऑफ इडिया, पृ० ३४–५।

भारतीय सभ्यता मे जितना आर्य अश था उतना ही एसीरियन अश था, और इसलिए, जहाँ तक वास्तुकला का सम्बन्ध है, भारत एसीरियनो या असुरो का वडा ऋणी था, पर निश्चित रूप से उन्ही असुरो का, जो भारत मे वस गये थे और जिन्होने इसे अपना घर बना लिया था। इस प्रकार अशोक-कालीन वास्तुकला प्रधानतः एसीरियन होने पर भी भारतीय थी।

परिशिष्ट

खेद की वात है कि किसी विद्वान् ने अव तक असुर समस्या का ठीक-ठीक अध्ययन नही किया। निःसन्देह कुछ विद्वानो ने[1] हाल मे यह सुझाया है कि वैदिक साहित्य मे एक जाति के रूप मे निर्दिष्ट असुर वहुत सभाव्यत एसीरियन थे और ये निर्देश उस काल का स्मरण कराते हैं जब आर्य लोगो का, मेसोपोटामिया या मध्य एशिया में, पर निश्चित रूप से भारत से वाहर, किसी जगह एसीरियनो से सम्पर्क था। पर प्रतीत होता है कि यह वात भुला दी गयी है कि वहुत समय पहले एच० एच० विल्सन और के० एम० वनर्जी ने भी यह निष्कर्ष निकाला था। विल्सन ने कहा था कि असुर "भारत की वैदिक-विरोधी जाति प्रतीत होते हैं जिनके नगर इन्द्र ने नष्ट कर दिये थे।"[2] वनर्जी ने एक कदम और आगे वढकर यह कहा कि ये असुर ही एसीरियन हैं। उसने यह भी कहा कि जिन तीन विभिन्न अर्थो मे असुर शब्द का प्रयोग उत्कीर्ण लेखो में हुआ है, उन्ही अर्थो मे असुर शब्द वैदिक मत्रो मे प्रयुक्त हुआ है।[3] पर उसका विचार था कि आर्य लोग एसीरियनो को मध्य एशिया मे मिले, न कि

१. JRAS, १६१६, पृ० ३६३--४, JBBRAS, जिल्द २५, पृ० ७६।

२. विल्सन का ऋग्वेद, जिल्द ३, पृ० १४।

३. एरियन विटनेस, पृष्ठ ४६।

भारत मे, जो विल्सन की मान्यता थी। पर विल्सन का विचार अधिक सही प्रतीत होता है। प्रो० वी० के० राजवाडे ने हाल ही मे असुर शब्द पर एक विस्तृत निबन्ध लिखा है जिसमे वह ठीक ही कहते हैं: "अधिकतर स्थानो पर असुर शब्द अच्छे अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है—बुरे अर्थ मे यह सिर्फ लगभग १५ बार, अर्थात् कुल (१०५) का सप्तमाश बार, आया है। इससे प्रकट होता है कि ऋग्वेदीय धर्म और जरथुष्ट्री धर्म मे जो मतभेद पैदा हुए हैं वे ऋग्वेदीय काल के अतिम भाग में हुए। **ऋग्वेदोत्तर काल में शत्रुता अधिकाधिक उग्र होती गई।**"[1] यह अन्तिम वाक्य बडा महत्त्वपूर्ण है क्योकि इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि आर्यों के असुरो के साथ उग्र युद्ध भारत मे हुए, क्योकि ऋग्वेदोत्तर काल मे आर्य लोग निश्चित रूप से इस देश मे बस गए थे। फिर शतपथ ब्राह्मण मे एक सदर्भ है जिसमे बताया गया है कि असुर जाति प्राच्य है, जो हम जानते हैं कि मगध का दूसरा नाम था।[2] इसके साथ बिलकुल मेल खाता हुआ तथ्य यह है कि असुर बिहार मे छोटा नागपुर प्रदेश मे अब भी एक अनार्य आदिम जाति के रूप मे पाये जाते हैं। यह बात इस तथ्य के अनुरूप है कि बिहार मे राजगीर में, जरासध की बैठक है, जो, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, फर्गुसन के अनुसार प्राङ्-मौर्यकाल की तथा एसीरिया के बीर्स निमरूद की अनुकृति है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि भारत मे एक बेबिलोनियन मुहर (सील) क्यो मिली।[3] यह मुहर इस समय नागपुर मे सग्रहालय मे रखी है, और २,००० ई० पू० की है। इसका ठीक प्राप्ति स्थान पता नही, पर १९१८

---

१ PTFOC, पृष्ठ १८--९।

२. १३. ८ १.५ SBE, जिल्द ४४, पृष्ठ ४२३--४।

३ JASB, १९१४, पृष्ठ ४६२।

मे सग्रहाध्यक्ष (क्यूरेटर) ने मुझे सूचित किया था कि यह मध्य प्रदेश मे कही मिली थी।

शतपथ ब्राह्मण के समय प्राच्य एक असुर आदिम-जाति को ही सूचित करते थे। भारत के अन्य भागो मे और भी असुर बस्तियाँ रही होगी। वैदिक साहित्य तथा आर्य काव्यो के समीक्षात्मक और विस्तृत अध्ययन से हम उनके प्रव्रजनो और राज्यो का इतिहास तैयार कर सकते हैं। सभाव्यत ऐसी एक बस्ती उत्तर प्रदेश के पश्चिमी भाग मे थी, जिसमे खाडव-वन भी था जिसके दावानल से अर्जुन ने प्रसिद्ध मयासुर की रक्षा की थी। असुर लोग, पाणिनि के समय तक भी एक (लडाका) जाति के रूप मे प्रसिद्ध थे, और उसने उसका उल्लेख परशुओ (प्राचीन ईरानियो) के तुरन्त बाद किया है जो उसका परशुगण बनाते हैं। वे एक म्लेच्छ भाषा बोलते थे।[1]

इस प्रकार यदि आर्यों के आगमन से पहले ही एसीरियन भारत मे मौजूद थे, तो स्वभावत यह पूछा जा सकता है: भारत मे हमे एसीरियन सभ्यता के कौनसे चिह्न मिलते हैं? पहला और सबसे प्रमुख एसीरियन प्रभाव भारत की प्राचीन वास्तुकला पर पडा मालूम होता है। और श्री बा० ग० तिलक ने यह भी प्रदर्शित किया है कि अथर्ववेद मे वर्णित कुछ देव या दानव स्पष्टत कैल्डियन थे।[2] क्योकि अथर्ववेद का काल ऋग्वेद की अपेक्षा अर्वाचीन है, इसलिए कैल्डियन देवगण का यह समावेश भारत ही मे हुआ होगा। वस्तुतः मौर्य सत्ता के उदय से पहले की भारतीय सभ्यता मुख्यतः आर्य और असुर अवयवो से मिलकर बनी हुई थी।

---

१ JBBRAS, २५, ७८, ZDMG, ६८, ७१९।

२. भडारकर कामेमो, वौल्युम, पृष्ठ २९।

अध्याय ७

इतिहास में अशोक का स्थान

इस समय तक हम अशोक के बहुमुखी अविश्रान्त क्रियाकलाप की यथेष्ट स्पष्ट धारणा बना चुके हैं। अब हम, इतिहास मे उसका वास्तविक स्थान निर्धारित करने की दृष्टि से, उसके कार्य का सही तखमीना लगाने की कोशिश करेंगे। पर तब तक उसकी सफलताओ का कोई विवेचनात्मक रूप हमारे सामने नही आ सकता जब तक हम यह निश्चय करने का यत्न न करे कि उसके सामने क्या आदर्श था और कौन-कौनसे भाव उसे प्रेरणा देते थे। क्या अशोक ने कही यह प्रकट किया है कि उसके क्रिया-कलाप का भीतरी प्रेरणा-स्रोत क्या था ? बौद्ध सम्राट् ने अपने मन के भीतरी भागो की झाँकी इतनी अधिक बार दी है कि यह मानना कठिन है कि सिर्फ इस प्रश्न पर, जो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, उसने हमे अपने अन्तर्भाव बताना उचित नही समझा। शिला प्रज्ञापन ६ मे वह कहता है "सर्वलोकहित से बढकर और कोई अच्छा काम नही है। जो कुछ पराक्रम मैं करता हूँ वह इसीलिए है कि प्राणिमात्र का मेरे ऊपर जो ऋण है उससे मैं मुक्त होऊँ और उनका इस लोक तथा परलोक मे हित बढे।" इस प्रकार अशोक का आदर्श मनुष्य का बन्धुत्व, यानी मानव-बन्धुत्व न होकर प्राणीमात्र का बन्धुत्व है। वह अपने आपको इस सारे चर जगत के साथ सबद्ध अनुभव करता है और उसका परम कर्त्तव्य उन्हे न केवल भौतिक सुख,

से वाहर के देशो के वारे मे भी उसका यह दावा गाल वजानामात्र न था।[1] कारण कि हम जानते है कि उसके धर्म-प्रचार कार्य कितने सफल हुए। वुद्ध की शिक्षा सारे भारत और श्रीलका मे फैल गयी। यह २०० ई० पू० से पहले चीन मे भी फैल गयी। और यद्यपि पश्चिमी एशिया मे वौद्ध धर्म स्वीकार किये जाने के कोई सकेत नही मिले पर इतनी वात असदिग्ध है कि इसका ईसाइयत पर वड़ा प्रभाव पडा, और यह तो मानना ही होगा कि इसने अपना एक आधारभूत सिद्धान्त—मानव वन्धुत्व—वुद्ध की उन शिक्षाओ मे से ग्रहण किया है जो इस वौद्ध सम्राट् ने प्रचारित की थी।

इस प्रकार हम देख चुके हैं कि अशोक के मन मे हर समय कौनसा आदर्श घूम रहा था, और प्राणिमात्र के लिए किए जाने वाले उसके अनवरत क्रिया-कलाप की प्रेरक-शक्ति कौनसी थी। अव हम यह निर्धारित करने की स्थिति मे हो सकते हैं कि इतिहास में उसका क्या स्थान है। प्राचीन काल के अनेक साथी सम्राटो से उसकी तुलना की गयी है। पर इस तुलना से उसे जरा भी क्षति नही पहुँचती। इस प्रकार उसकी तुलना रोमन सम्राट् कौंस्टेंटाइन महान् से, दो विभिन्न दृष्टिकोणो से, की गयी है। प्रो० राइस-डेविड्स की मान्यता है कि अशोक कौंस्टेंटाइन के समान था क्योकि जैसे कौंस्टेंटाइन का धार्मिक दान-पुण्य ईसाई चर्च के आध्यात्मिक ह्रास का कारण वना, वैसे ही अशोक का धर्म-परिवर्तन और सघ को दिया हुआ उदार दान "वौद्ध धर्म की अवनति की दिशा मे और इसे भारत से निकाल दिए जाने की दिशा मे पहला कदम था।"[2] पहले तो, यह कहना ठीक नही कि वौद्ध धर्म भारत से निकाल दिया

१. ऊपर, पृ० १५९।
२ वुद्धिज्म, पृ० २२२।

गया। कारण कि यह अब भी बंगाल के कुछ भागो मे मौजूद है। पर इसमे कुछ संदेह नही कि आजकल यह जीर्ण अवस्था मे है, और इसकी यह दुर्गति बारहवी शताब्दी के शीघ्र बाद, अर्थात् अशोक के लगभग डेढ हजार साल बाद हुई। इसलिए यह बात हमारी समझ मे नही आती कि उसके इतने दीर्घकाल बाद होने वाले बौद्ध धर्म के लोप की जिम्मेदारी उस पर कैसे डाली जा सकती है। फिर इस बात का क्या प्रमाण है कि उसने बौद्ध संघ को अंधाधुन्ध दान दिया? प्रो० राइस-डेविड्स चाहते हैं कि हम बौद्ध विवरणो पर पूर्ण भरोसा करे पर उनका अधिकतर भाग, कम-से-कम वह जो अशोक के सम्बन्ध मे है, किसी भी तरह विश्वसनीय नही। और यदि जरा देर को यह भी मान ले कि सिंहली तथा अन्य भिक्षुओ ने परम्परा की सही रूप मे रक्षा की है, तो इस बात का क्या प्रमाण है कि अशोक के तत्काल बाद की शताब्दियो मे बौद्ध भिक्षुओ का आध्यात्मिक ह्रास हो गया था। गुप्त काल के आरम्भ, अर्थात् लगभग ३५० ई० प०, के बाद तक बौद्ध धर्म की अवनति के कोई चिह्न नही मिलते। कुछ विद्वान् अशोक और कौंस्टेंटाइन की तुलना इस कारण करते हैं कि दोनो ही राजा होते हुए भी अपने-अपने धर्मो के संरक्षक थे और उन्होने उनके प्रचार मे बहुत अधिक सहायता की।[1] पर वे यह भूल जाते हे कि जिन परिस्थितियो मे अशोक ने अपने धर्म के प्रचार का यत्न किया, वे उन परिस्थितियो से सर्वथा भिन्न थी जिनमे कौंस्टेंटाइन ने कार्य किया।[2] "कौंस्टेंटाइन ने जीतते हुए पक्ष का पोषण किया।" जबकि अशोक ने ऐसे धर्म का

१ हार्डी, अशोक. आइन--कैरेक्टर--बिल्ड; आदि पृष्ठ ३०, राइस डेविड्स, बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ २९७--८; रैप्सन, एन्शेंट इण्डिया, पृष्ठ १०४।

२ टाइम्स लिटरेरी सप्लीमेंट, अगस्त ७, १९१४।

नेतृत्व किया जिसकी बहुत कम प्रगति हुई थी। कौंस्टेंटाइन "स्वार्थ-बुद्धि, चालाक, अंधविश्वासी, प्रायः निष्ठुर, निन्दापरायण व्यक्ति था जिसकी सफल दूरदर्शिता के एक महान् उदाहरण से वह 'महान्' कहलाने का पात्र है।'[१] इसके विपरीत, अशोक की आत्मा विचारवान तथा सबके लिए करुणापूर्ण थी और वह उच्च आदर्शों, सतत प्रयत्नों, एकातनिष्ठा और आश्चर्यजनक उपायसपन्नता वाला व्यक्ति था। "कौंस्टेंटाइन ने राजनैतिक लक्ष्य से सहिष्णुता का सहारा लिया।" अशोक की सहिष्णुता सच्चे हृदय की प्रेरणा थी। अपने जीवन के अन्तिम दिनो मे कौंस्टेंटाइन प्रतिक्रियावादी होकर पेगनवाद की ओर झुक गया था और यहाँ तक हुआ कि उसका धर्म एक 'अजीब खिचडी' हो गया। अशोक मे कही ऐसी गिरावट नही आयी और वह आदि से अन्त तक इसी धम्म पर दृढ़ रहा।

एक दूसरा शासक, जिसका नाम अशोक के साथ लिया जाता है, एक और रोमन सम्राट् मार्कस औरेलियस एंटोनियस[२] है, जिसका राज्यकाल १२१ से १८० ई० प० रहा। जहाँ तक निजी जीवन के भद्र आदर्शो का सम्बन्ध है, इसमे कोई सदेह नही कि वह अशोक का समकक्ष था और मानसिक सस्कृति की दृष्टि से उससे बढ़कर भी था। पर आदर्श की उदात्तता और अविश्रान्त तथा सम्यग्योजित उत्साह की दृष्टि से अशोक रोमन सम्राट् से कही ऊपर था। मार्कस औरेलियस के कुछ प्रशसको ने अवश्य यह कहा है कि उसका जीवन मानवमात्र के प्रेम और धर्म से सचलित था। पर वे यह भूल गये हैं कि वह "रोमनो की व्यावहारिक भद्रता और अभिमान तथा राजनैतिक लक्ष्य की दृढता से ओतप्रोत था," और कि

---

१. ERE., IV, ७७।

२. मैकफेल, अशोक. पृ० ८०; CHI. I ५०९।

वह ईसाइयो पर व्यवस्थित रीति से अत्याचार करता था, वह सिर्फ इस कारण कि उसकी राय मे ईसाइयत के फैलने पर रोमन समृद्धि कायम नही रह सकती थी।"[१] बौद्ध सम्राट् का जीवन और शासन ऐसे सकीर्ण और निकृष्ट आदर्श से दूषित या मानव-जाति के किसी भाग के प्रति ऐसी अमानवीय शत्रुता से कलकित न थे। इसके विपरीत, उसने न केवल सारी मनुष्य जाति के बल्कि सारे प्राणिजगत के भी कल्याण के लिए परिश्रम और व्यवस्था मे उद्योग किया और उसका आत्म-दमन का जीवन किसी मूलवशीय, राष्ट्रीय या पारिवारिक अभिमान या पक्षपात से दूषित न था।

एक लेखक ने अशोक की तुलना राजा एल्फ्रेड, शार्लमेन, उमर खलीफा, आदि अन्य कई राजाओ से की है।[२] ऐसे राजा अनेक हुए हैं जो अशोक के समान महान् योद्धा या महान् प्रशासक हुए हैं। पर अपने जिस कार्य के कारण अशोक विश्वव्यापी और शाश्वत यश का अधिकारी है वह है उसके द्वारा किया हुआ अपनी प्रजा का भौतिक और आत्मिक कल्याण। और ऐसे किसी राजा की अशोक से तुलना नही हो सकती जिसमे उसकी यह विशेपता काफी अधिक परिमाण मे न रही हो। इसलिए, अशोक के नाम के साथ-साथ जिस राजा का नामोल्लेख किया जा सकता है वह एक-मात्र मुगल सम्राट् अकवर था।[३] इसमे कोई सदेह नही कि अकबर ने अपने प्रजाजनो के सुख और कल्याण के लिए वडा यत्न किया पर अशोक से उसका सादृश्य विशेप रूप से इस वात मे था कि उसने भी धार्मिक सहिष्णुता प्रदान की और प्रत्येक धर्म मे सत्य का निश्चय करने के

१. EB, XVII., ६९५।

२ मैकफेल, अशोक, पृ० ८०।

३. ERE., II, १२७।

लिए सहानुभूति से यत्न करके प्रजा के सामने एक उत्कृष्ट आदर्श प्रस्तुत किया। हम जानते हैं कि सूफियो, सुन्नियो, शियाओ, ब्राह्मणों, जैनो (जातियो), बौद्धो, ईसाइयो, यहूदियो, सेबियनो, जरथुष्ट्रियो और अन्य मतावलम्बियो के शास्त्रार्थ सुनने और उनकी अध्यक्षता करने मे उसे कितना आनन्द आता था। हम यह भी जानते हैं कि वह ये वाद-विवाद क्यो कराता था। वह प्रायः कहा करता था कि "सच्चा मनुष्य वही है जो जिज्ञासा के मार्ग पर न्याय का अनुसरण करता है, और प्रत्येक सम्प्रदाय से वे बाते ग्रहण कर लेता है जो तर्कानुमोदित हो। सम्भव है कि इस प्रकार वह ताला, जिसकी कुंजी खो गयी है, खुल जाए।"[1] इस श्रेष्ठ सकलन का परिणाम था एक नये धर्म "दीने-इलाही" का आरम्भ, जो एकेश्वरवाद था "और इसमे प्रकाश और अग्नि की, विशेषकर सूर्य के रूप मे पूजा की जाती थी, जो पारसियो के धर्म से भिन्न नही है।" अशोक के विषय मे, हम देख चुके हैं कि अपनी धर्म-जिज्ञासा के परिणामस्वरूप उसने जैन धर्म से अशत मिश्रित बौद्ध धर्म का अवलम्बन कर लिया था, पर यह स्मरण रखना चाहिए कि अकबर "सबसे पहले एक राजनैतिक और दुनियावी व्यक्ति था, और धार्मिक सत्य के लिए अपनी सम्राटता को खतरे मे डालने को तैयार न था।" इस प्रकार जब उसने देखा कि धर्म में उसके नयी बाते प्रचलित करने से मुसलमानो मे विद्रोह पैदा हो रहा है, तब उसने सब धार्मिक वाद-विवाद बन्द कर दिये। वह, उदाहरण के लिए, उस समय ईसाई मिशनरियों की बात सुनने को तैयार न हुआ जिस समय उसके नये धर्म के कारण बगाल मे विद्रोह पैदा हो रहा था। फिर, वह सब के प्रति सहिष्णु भी नही था। जब इलाही नामक सम्प्रदाय पैदा हुआ तब

१. वही, I, २६९ और आगे।

अकबर ने उसके अनुयायियो को पकडवाकर सिध और अफगानिस्तान भेज दिया और वहाँ उनके बदले घोडे खरीदे। अकबर की धर्म-जिज्ञासा मुख्यत विद्यात्मक ढग की थी, और जब उसने "दीने-इलाही" की उद्घोषणा की तब इसके पीछे आत्म-गुरुत्व की भावना भी थी। उसमे उस धर्म के लिए जरा भी जोश या उत्साह नही था, और परिणामत उसके प्रतापी सम्राट् होने के बावजूद दीने-इलाही राज-दरबार से बाहर नही फैला और अपने सस्थापक के साथ ही समाप्त हो गया।

यूरोपियन इतिहासकारो के मूल्याकन के अनुसार, सिकन्दर महान्, सीजर और नैपोलियन ससार के महानतम् सम्राट् हैं। वे सभाव्यत अशोक से भी बडे योद्धा और प्रशासक थे। पर क्या बडे योद्धा और बड़े प्रशासक होने का यह अर्थ है कि वे बडे आदमी भी थे? श्री एच० जी० वेल्स को, जिन्होने "दी आउटलाइन आफ हिस्ट्री" पुस्तक लिखी है, हाल मे ही इस प्रश्न पर विचार करना पडा। क्योकि यह इतिहास जीवन और मानव-जाति का इतिहास है, इसलिए इसमे आए हुए सब पात्रो पर एक भिन्न दृष्टि से विचार करना था और एक भिन्न मानदड से, अर्थात् इस मानदड से कि क्या उन्होने ससार को अधिक सुखी और अधिक अच्छा बनाया, उनका मूल्याकन करना था। इसलिए सिकदर, सीजर और नैपो-लियन के विषय मे श्री वेल्स ने बडा उचित प्रश्न किया है: "इन तीन व्यक्तियो की, जिन्होने हमारे इतिहास के इतने अधिक पृष्ठ घेर रखे हैं, मानव-जाति को क्या स्थायी देन दी?"[१] सिकदर ने क्या सृजन किया? क्या उसने पूर्व को यूनानी रग मे रगा। कुछ समय एड्रियाटिक से सिंध नदी तक का सारा प्रदेश उसके शासन मे था।

१. स्ट्रैंड मैगजीन, सितम्बर १९२२, पृष्ठ २१६ और आगे।

क्या उसने इस अखडता को स्थायी करने के लिए कोई उपाय सोचा ? हमे कोई ऐसी निश्चित चीज मालूम नही। "ज्यो-ज्यों उसकी शक्ति बढी," श्री वेल्स लिखते हैं, "त्यो-त्यो उसकी मदान्धता और प्रचण्डता भी बढती गयी। वह खूब शराब पीता था और निर्दयतापूर्वक हत्या करता था। बेबिलोन मे एक लम्बी पानगोष्ठी के बाद उसे एकाएक बुखार आ गया, और तैतीस वर्ष की आयु मे वह मर गया। लगभग तुरन्त ही उसका साम्राज्य टुकड़े-टुकड़े होने लगा। उसकी यादगार के रूप मे सिर्फ एक प्रथा रह गयी। पहले अधिकतर लोग दाढी रखते थे। पर सिकन्दर मे इतना अधिक अहकार था कि उसे अपने चेहरे का ढका जाना बर्दाश्त नही था। उसने हजामत करायी और इस तरह ग्रीस और इटली मे एक नया फैशन चला दिया जो कई शताब्दी तक जिन्दा रहा। फैशन तो शायद यह अच्छा था, पर यह जाति के लिए उसकी कोई महत्त्वपूर्ण देन नही थी।"

जो बात सिकन्दर के बारे मे है वही सीज़र के बारे मे है। इतिहासज्ञ कहते हैं कि उसमे कुछ अन्तर्दृष्टि विद्यमान थी, और वे उसकी चमत्कारिक विश्वनीतियो का भी उल्लेख करते है। पर वास्तव मे वह कैसा था ? निरा लम्पट और उच्छृखल आदमी। जिस समय वह अपनी शक्ति के उच्चतम शिखर पर था और ससार का बहुत भला कर सकता था बशर्ते कि उसमे सचमुच वह उदात्त दृष्टि होती जो उसमे बतायी जाती है, उस समय हम उसे मिस्र मे लगभग एक वर्ष तक साइरन क्लियोपैट्रा के साथ मौज करता और मजे उडाता पाते है, यद्यपि तब यह चव्वन वर्ष का था। इससे वह एक हलके दर्जे का बूढा विषयासक्त मनुष्य दिखायी देता है, मनुष्यो का श्रेष्ठ शासक नही। नैपोलियन के विषय मे श्री वेल्स ने यह लिखा

है, "पुरानी व्यवस्था नष्ट हो चुकी थी या हो रही थी, अपरिचित नये बल, रूप और दिशा की खोज मे ससार मे घूम रहे थे। लाखो-करोडो विस्मित मानसो मे एक विश्व गणराज्य और चिरस्थायी विश्व-शान्ति की आशा अकुरित हो रही थी। यदि इस मनुष्य मे जरा भी दृष्टि की गम्भीरता, और सृजनात्मक कल्पना की शक्ति होती, यदि उसमे जरा भी निःस्वार्थ आकाक्षा होती, तो वह मानव-जाति के लिए ऐसा काम कर गया होता जो उसे इतिहास का सूर्य बना देता······। इस अवसर मे और कोई कमी नही थी—सिर्फ एक भद्र कल्पना की कमी थी। और ऐसी कल्पना के अभाव मे नैपोलियन, अवसर के इस महान् पर्वत के शिखर पर उस तरह गर्दन अकडाकर चलने के सिवा और क्या कर सकता था जिस तरह मुर्गी का बच्चा घूरे के ढेर पर चलता है।"[1] नैपोलियन ने अपने देश को चाहे जितना लाभ पहुँचाया हो पर जहाँ तक मानव-जाति के प्रति उसके आभारो का सम्बन्ध है, वे प्रायः शून्य हैं। और श्री वेल्स ने उसका जो मूल्याकन किया है उसे गलत नही समझा जा सकता।

अशोक के बारे मे हम जानते है कि उसे कैसी कल्पना-दृष्टि प्राप्त हुई थी और वह कितनी गहरी थी। यह न केवल मानव-जाति मे, वल्कि प्राणिमात्र मे वन्धुता की दृष्टि थी। यही बात दूसरे शब्दो मे कहे तो, वह सारे ससार के भौतिक सुख और नैतिक उत्थान की वृद्धि करने के स्वप्न से अभिभूत हो गया था। और उसने अपने साधनो को, एक बिलकुल नयी और अनुपम रीति से, अपने साध्य के अनुकूल बनाकर अपनी सृजनात्मक कल्पना प्रदर्शित की। मौर्य साम्राज्य उस समय अपने यश के उच्च शिखर पर था जिस समय

---

१. दि आउटलाइन आफ हिस्ट्री, पृ० ४९०।

अशोक ने अपनी दुर्लभ कल्पना से, इस अवसर का लाभ उठाया, और अपनी सारी शक्तियाँ तथा राज्य के सारे साधन अपने भद्र लक्ष्य की सिद्धि के लिए अर्पित कर दिये। इसलिए श्री वेल्स का, इस वौद्ध सम्राट् के लिए यह कहना उचित ही है कि "जिन लाखों राजाओ के नामो से इतिहास के पन्ने काले हो रहे हैं, उन राज-राजेश्वरो और महाराजाधिराजो के बीच मे अशोक का नाम एक अकेले नक्षत्र के समान चमकता है। वोल्गा से जापान तक आज भी उसके नाम का सम्मान किया जाता है। चीन, तिव्वत और भारत भी, यद्यपि उसने उसके सिद्धान्त त्याग दिये हैं, उसकी महानता की परम्परा को वनाये हुए हैं। जितने लोगो ने कॉंस्टेंटाइन या शार्लमेन का कभी नाम सुना है उनसे भी अधिक लोग आज आदरपूर्वक उसका स्मरण करते है।"[1] पर अगर किसी राजा से अशोक की तुलना करनी ही हो तो उसकी एक से नही, एक साथ तीन राजाओं से तुलना करनी चाहिए। और रेवरेंड डा० कोपलस्टन[2] के स्वर मे स्वर मिलाकर हमे यह कहना चाहिए कि "वह वौद्ध धर्म का कौंस्टेंटाइन ही न था, ग्रीस के स्थान पर वौद्ध धर्म से आविष्ट सिकन्दर था, वह ऐसा निःस्वार्थ नैपोलियन था जो यश के स्थान पर कल्याण (Mettam) से प्रेरित था।"

वौद्ध धर्म के इतिहास मे अशोक का स्थान भगवान वुद्ध के वाद सर्वोपरि है।[3] इसलिए एकमात्र सेटपाल ऐसा ऐतिहासिक व्यक्ति है जिसकी अशोक से उचित रूप से तुलना की जा सकती है, जैसा कि डा० जे० एम० मैकफेल ने ठीक ही लिखा है।[4] यह

१. वही, पृ० २१२।

२. वुद्धिज्म, प्रिमिटिव एंड प्रजेंट, पृ १६६।

३ ERE, II, १२७।

४. अशोक, पृ० ८५।

सत्य है कि ईसा का उपदेश सारी मानव-जाति के लिए था, पर उसके सबसे पहले अनुयायियो ने इसके सार्वभौम स्वरूप को पूरी तरह नही पहचाना और इस पर बल नही दिया, और इस तरह ईसाइयत यहूदी धर्म के ही एक सम्प्रदाय—चाहे वह अधिक प्रबुद्ध और उदार था—का रूप ग्रहण करती जा रही थी। पाल ही ने जाति और (मूसा रचित) नियमो के उन बन्धनो को तोड फेका जो इसकी प्रगति को रोके हुए थे। नि सन्देह उसके कुछ साथी प्रचारक ईसाई चर्च का द्वार विस्तृत करके गैर-यहूदियो को उसमे लेने के पक्ष में थे। पर पाल ने कहा: "नही, यहाँ कोई द्वार नही रहना चाहिए, और न यहाँ कोई द्वार है, क्योकि यहाँ कोई दीवार नही है। प्रत्येक विभाजक को तोड दिया गया है, प्रत्येक रोक और विभेद, तथा परमात्मा की दृष्टि मे मनुष्यो का भेदभाव खत्म कर दिया गया है। परमात्मा का प्रेम ऐसा सर्वस्पर्शी है जैसा आकाश। ईसा के यहाँ न कोई यहूदी है न ग्रीक, न दास है न मुक्त, न पुमान् है न स्त्री।" इसी प्रकार, अशोक के समय मे बौद्ध धर्म एक स्थानीय प्रान्तीय सम्प्रदाय मात्र रह गया था। उसने उन्हे सहिष्णुता और एक-दूसरे के सिद्धान्तो का आदर सिखाकर, एक सम्प्रदाय को दूसरे से पृथक् करने वाली बाधाओं को नष्ट कर दिया और धर्म के उस सार की वृद्धि की जिसको वे सब मानते थे। और इसमे कोई सन्देह नही कि इस मामले मे सम्राट् अशोक बौद्ध पिटको की सतह से ऊपर हो गया। यह वास्तव मे, बुद्ध का सब ही गृहस्थियों के लिए उपदेश था, और बौद्ध धर्म के इस सार्वभौम स्वरूप को ही अशोक ने स्पष्ट रूप से पहचाना और प्रचारित किया। पाल की ही तरह, अशोक आचार-बल को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण समझता था, और उसने इसे इसके उपयुक्त आसन, विश्व-धर्म के आसन,

पर प्रतिष्ठित कराने मे कोई कोर-कसर न उठा रखी। इस प्रकार अशोक बौद्ध धर्म का निरा संरक्षक न था, सच्चा भक्त था। पर एक विशाल साम्राज्य का अधिपति और परिणामतः अनन्त साधनों का स्वामी होने के कारण वह कहीं अधिक द्रुत और अधिक ठोस सफलता प्राप्त कर सका।

अशोक के कार्य के मूल्यांकन को बिना यह पता लगाये और बिना यह निश्चय किये हम समाप्त नही कर सकते कि इसका भारत पर क्या प्रभाव हुआ, अर्थात् इस देश को इससे क्या लाभ या हानि हुई। इस बात से इनकार नही किया जा सकता कि परोक्ष रूप से भारत को इससे बहुत लाभ हुआ है। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार अशोक के प्रचार-कार्य से दो बहुत बड़े लाभ हुए। उसके समय मे सारा देश आर्य बन चुका था। पर विभिन्न प्रान्तो की अलग-अलग बोलियाँ थी। पर उसने अपने धर्म के प्रचार के लिए जो महान् प्रयत्न किये, उनके कारण एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त मे सम्प्रेषण अधिक प्रायिक और द्रुत हो गया, और यह बात सर्वत्र अनुभव की जाने लगी कि एक सामान्य भाषा हो, जो सब प्रान्तो मे पढी और समझी जाए, और न केवल धर्मेतर मामलो मे, बल्कि धर्म-सम्बन्धी मामलो मे भी, विचार-विनिमय का माध्यम बने। इसके परिणामस्वरूप, पालि या स्मारकीय प्राकृत भारत की राष्ट्र-भाषा बन गई।[1] पहले पालि कोई स्थानीय बोली होगी, कृत्रिम घड़ी हुई भाषा नही, जैसा कुछ लोग मानते हैं। संभाव्यत यह उस प्राकृत को जननी थी जो पीछे से महाराष्ट्री कहलायी और जब यह सारे भारत की सार्वत्रिक भाषा के पद पर प्रतिष्ठित हो गयी, तब, न केवल धर्मेतर और धार्मिक लेख्य बल्कि धार्मिक पवित्र ग्रंथ

१. ऊपर, पृ० २०५।

भी पालि मे ही लिखे जाने लगे। शुरू मे बौद्ध धर्मग्रथ मगधी बोली मे सरक्षित रहे होगे, पर जब यह नयी एस्पेरेतो बन गयी, तब वे सब पालि मे अनुवादित कर दिये गये ताकि वे भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक समझे जा सके। राजकीय लेख्य, और धार्मिक दानो के अभिलेख भी इसी भाषा मे लिखे जाने लगे। अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रसार के लिये जो प्राय अतिमानवीय कार्य किया उसका यह परोक्ष परिणाम हुआ जो भारत के लिए बडा भारी वरदान था। उसके कार्य का दूसरा परिणाम यह हुआ कि उससे भारतीय कला को अपरिमित उद्दीपन मिला।[1] इस समय तक वास्तुकला काष्ठगत थी और उसने ही इसे पाषाणीय बनाया। सगतराश की कला और उद्योग अति दीर्घकाल से चले आ रहे थे, और जब अपनी धम्मलिपियो को स्थायी रूप देने का विचार उसके मस्तिष्क मे आया तब उसने अपनी लक्ष्यपूर्ति मे इस कला का उपयोग करने का तुरन्त निश्चय कर लिया। इसका परिणाम हुआ कि विशालकाय एक पाषाणीय स्तम्भ बने, बडी-बडी चट्टाने उत्कीर्ण की गयी, और इन सबसे बढकर यह बात हुई कि शिलाओ को काटकर मन्दिर बनाये गये, जो क्रमशः अधिकाधिक विशाल होते गये और उनके रूप भी अधिकाधिक कलापूर्ण होते गये, और आज भारत मे उनके इतने सारे सुन्दर और भव्य नमूने भरे पडे हैं कि उन्हे ससार का एक आश्चर्य मानकर उचित ही किया गया है।

हम देख चुके हैं कि मानवता को अशोक ने विश्व-बन्धुत्व का—न केवल मानव-बन्धुत्व का बल्कि प्राणिबन्धुत्व का—लक्ष्य प्रदान किया। हम यह भी देख चुके हैं कि उसके धर्म-प्रचार कार्य से देश को किस तरह दो महान् लाभ हुए। और अब यह प्रश्न करना

१. ऊपर, पृ० २१४।

सगत होगा कि क्या अशोक के क्रियाकलाप का भारत पर कोई सीधा प्रभाव पडा और उसने भारत की प्रकृति को किसी नये साँचे मे ढाला। यदि हम इस काल के भारत का आलोचनात्मक पर्य-वेक्षण करे तो हम देखते हैं कि हिन्दू सभ्यता भौतिक प्रगति के प्रेरक और आत्मिक संस्कृति के उन्नायक वर्गो के बीच पूर्णतः सतुलित अवस्था मे आ चुकी थी। पर अशोक के अनथक उत्साह से और अपने स्वप्न को मूर्त्त रूप देने के लिए उसके द्वारा किए हुए सतत प्रयत्नो से यह सतुलन बिगड गया, और परिणाम यह हुआ कि हिन्दू सभ्यता का भौतिक तत्त्व आत्मिक तत्त्व से इतनी पूरी तरह दब गया कि यह लुप्त न होने पर भी, अप्रगामी और क्षयोन्मुख हो गयी।

सम्भव है कि उपर्युक्त विचार कुछ विचित्र मालूम हो, और कुछ अतिरजित प्रतीत हो। कारण कि अशोक के समय तक विकसित साहित्य से क्या प्रकट होता है ? उन वैदिक ग्रंथो और बौद्ध धर्म-ग्रथो के अध्ययन से, जो इस सम्राट् के समय मे मौजूद थे, हम किस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं ? इन ग्रथो विशेपकर वैदिक काल के ग्रथों का सावधान और निष्पक्ष अध्ययन करने के पश्चात् स्व० प्रो० मैक्समूलर और प्रो० ब्लूमफील्ड जैसे विद्वानो का क्या विचार है ? आइये पहले यह देखे कि प्रो० मैक्समूलर क्या कहते हैं ? आप लिखते हैं :[1] "भारतीय लोग राष्ट्रीयता की भावना से सर्वथा कोरे थे और राष्ट्रीय प्रशसाघोष की आशा में उनके हृदय मे कभी गुदगुदी नही पैदा होती थी ·· । भारतीय मानस को जिस एक क्षेत्र मे कार्य, सृजन और पूजन करने की स्वतन्त्रता अनु-भव होती थी वह धर्म और दर्शन का क्षेत्र था, और किसी भी

१. HASI, पृ० ३०—३१।

राष्ट्र के मानस मे धार्मिक और दार्शनिक विचारो की जडे इतनी गहरी नही गयी जितनी भारत के। हिन्दू लोग दार्शनिको का एक राष्ट्र थे । कुल मिलाकर, इतिहास मे कोई ऐसा उदाहरण नही मिलता जिसमे आत्मा के अन्तर्मुख जीवन ने एक सारी की सारी जाति की सपूर्ण कर्म-शक्ति को इतनी पूरी तरह चूस लिया हो, और वस्तुतः, उन गुणो को प्राय नष्ट कर दिया हो जिनसे कोई राष्ट्र इतिहास मे अपना स्थान बनाता है।" प्रो० ब्लूमफील्ड का विचार भी प्राय यही है। "भारत के इतिहास के आरम्भ ही से",[1] आप कहते हैं,[1] "जैसे यहाँ धार्मिक सस्थाएँ लोगो के चरित्र और विकास की नियामक रही हैं वैसी अन्यत्र कही नही रही। यद्यपि आचरण इस यन्त्रवत् और कठोर व्यवस्था से वहुत नीचे रहा पर तो भी इस मतव्य को स्वीकार किया जाता है कि जीवन एक सारत एकाकी धार्मिक यात्रा है, जिसका लक्ष्य वैयक्तिक मुक्ति है। इस तरह की विचार-योजनाओ मे राज्य के हित और जाति की उन्नति की कोई गुजाइश नही। भारत ने इन वातो की उपेक्षा जान-बूझकर नही की, पर उसका परिणाम तो हुआ ही, और वह यह कि उन दृष्टियो से भारत के राष्ट्रीय चरित्र मे एक शून्य वना हुआ है।" भारतीय मानस के घटन के बारे मे इन दो विद्वानो का यह विचार है। उनकी यह मान्यता है कि भारत की प्रतिभा धार्मिक और दार्शनिक सस्कृति के विकास मे ही निहित थी और उसमे न तो राष्ट्रीयता की भावना विकसित हुई थी और न राज्य की धारणा ही बनी थी। दूसरे शव्दो मे, राजनीति विज्ञान को भारत की देन शून्य थी और इसलिए ससार के राजनैतिक इतिहास मे उसे कोई स्थान नही मिल सकता। निःसदेह, भारतीय मानस

१. दि रिलिजन आफ

के इस मूल्याकन मे कुछ सत्य है, पर यह विचार सिर्फ अंशतः सत्य है। प्रो० मैक्समूलर और प्रो० ब्लूमफील्ड उस समय निःसंदेह सच्चे थे जब उनके विचार पहली बार प्रकाशित हुए। पर उनके प्रकाशित होने के बाद कौटिल्य अर्थशास्त्र प्राप्त हुआ है और आज वह विद्वानो के सम्मुख है। अब यह कहना सही नही कि भारतीयो ने कभी भी राजनीति को धार्मिक और दार्शनिक वातावरण से अलग नही किया और राजनीति विज्ञान को ज्ञान की स्वतन्त्र शाखा के रूप मे नही स्थापित किया। कारण कि अर्थशास्त्र मे हमे पता चलता है कि उसके समय तक राजनीति-विज्ञान के कम-से-कम चार सम्प्रदाय प्रसिद्ध थे, और कम-से-कम सात अत्यन्त प्रमुख लेखक हो चुके थे, जिनका किसी राजनीति-सम्प्रदाय से सम्बन्ध नही था। फिर, उसके समय मे कौन-कौनसी विद्याएं प्रचलित थी? वे थी आन्वीक्षिकी अर्थात् दर्शन, त्रयी अर्थात् धर्म, वार्ता अर्थात् अर्थ-विज्ञान, और दडनीति अर्थात् राजनीति विज्ञान। क्या इससे यह स्पष्ट नही कि राजनीति विज्ञान दर्शन और धर्म से पृथक् था और ज्ञान की एक स्वतन्त्र शाखा था? इतना ही नही, एक सम्प्रदाय नामशः बार्हस्पत्य यहाँ तक कहता था कि त्रयी या धर्म एक धार्मिक प्रतारणामात्र है, और एक दूसरा सम्प्रदाय सब विज्ञानो का अन्तर्भाव राजनीति-विज्ञान मे करता था, और यह प्रतिपादन करता था, कि विज्ञान के नाम को सार्थक करने वाला तो केवल राजनीति-विज्ञान है। क्या इससे स्पष्ट रूप से यह प्रकट नही होता कि मौर्य सत्ता के उदय से पहले भारतीयो ने राजनीति विज्ञान को वैसे ही उत्साह और तत्परता से उन्नत किया था जैसे धर्म और दर्शन को, और यदि बाद मे एक समय धर्म और दर्शन ने राजनीति-विज्ञान का स्थान भी घेर लिया, तो एक ऐसा भी समय था जब न केवल धर्म का उपहास किया जाता

था, बल्कि राजनीति-विज्ञान को ही एकमात्र विज्ञान कहलाने योग्य समझा जाता था। इस बात पर विचार करने का स्थान यह नही है कि कौटिल्य से पूर्ववर्त्ती काल के हिन्दुओ ने राजनीति-विज्ञान को क्या देन दी, पर जिन्होने कौटिल्य के अर्थशास्त्र का अध्ययन किया है उन्हे यह बताने की आवश्यकता नही कि भारतीय लोग राज्य की एक सुनिश्चित धारणा विकसित कर चुके थे, और अन्तर्राष्ट्रीय विधि (इटरनेशनल लॉ) के विषय मे भी उनका विचार काफी उन्नत हो चुका था। राजनीति-विज्ञान के साथ-साथ हिन्दुओ ने ज्ञान की, वार्ता (अर्थविज्ञान) नामक एक और शाखा का विकास किया था जिसके अन्तर्गत कृषि, पशु-पालन, और व्यापार थे, और जिसका राजनीति-विज्ञान मे अच्छी तरह उपयोग किया जाता था।

यद्यपि हिन्दुओ ने राजनीति-विज्ञान नामक एक विशेष विज्ञान का विकास कर लिया था, और बहुत सारे तथा अनेक प्रकार के सिद्धान्त बना लिये थे जिनमे कौटिल्य ने वृद्धि भी की, तो भी प्रतीत होता है कि कौटिल्य के बाद यह विकास सर्वथा अवरुद्ध हो गया। यह बात इस तथ्य से भी स्पष्ट है कि कौटिल्य के बाद का कोई ऐसा राजनीति-विज्ञान का ग्रथ नही मिलता जिसमे कोई नया विचार हो या इस विषय पर किसी प्रकार की प्रगति हो। तथ्य तो यह है कि प्रतीयमानत, कौटिल्य के अर्थशास्त्र ने, जो वैसे एक सग्रह मात्र है, उस समय तक प्रचलित राजनीति-विषयक सब ग्रथों को मात दे दी थी, और यह इस विपय का प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाने लगा था। कामसूत्र के लेखक वात्स्यायन और याज्ञवल्क्य स्मृति के प्रणेता ने न केवल उसके विचार ही अपनाये हैं, वल्कि उसकी पदावलि भी ज्यो-की-त्यो उठाकर रख ली है। और वाण तथा दडी ने अपने ग्रथो मे कौटिल्य का जिस तरह उल्लेख किया है, उससे

इसमे कोई संशय नही रहता कि उनके समय के राजाओ मे उसके ग्रथ का वडा मान था।[1] पर यह ग्रथ भी वहुत अधिक विस्तृत मालूम हुआ, और हम जानते हैं कि कामदक ने इसे सरल और सक्षिप्त करने का बीड़ा उठाया। यदि कौटिल्य का अर्थशास्त्र उस समय पढा जाने वाला राजनीति-विपयक एकमात्र ग्रथ न होता तो निश्चित ही उसने यह काम न उठाया होता। उसके वाद इस विपय का कोई ऐसा ग्रथ नही लिखा गया जिससे हिन्दू राजनैतिक विज्ञान के बारे मे हमारी ज्ञान-वृद्धि हो। स्पप्ट है कि कौटिल्य के वाद इस विज्ञान ने कोई प्रगति नही की दीखती, और ठीक ऐसे समय जब इसके बहुत उन्नत होने और हमारे राजनैतिक सिद्धान्त और आचरण मे बहुत प्रगति होने की आशा थी, यह प्राय. मृत हो गया। हम सव जानते हैं कि विविसार के समय मे विहार मे जो छोटा-सा मगघ का राज्य था, वह चन्द्रगुप्त के राज्यकाल में किस तरह एक शक्तिशाली मगध साम्राज्य के रूप मे परिवर्तित हो गया था जो हिन्दुकुश से लेकर तामिल देश के सीमान्त तक फैला हुआ था। कुछ समय तक स्वय अशोक ने कलिग प्रान्त को विजय करके और अपने राज्य मे मिलाकर इस केन्द्राभिसारी वल को वढाया था, जो बिबिसार के साथ पैदा हुआ था।[2] और यदि उसके मन मे धन्म की अभिलाषा न समा गयी होती और उसे इस प्रकार पूर्णतः

---

१. देखिए श्री आर. शामशास्त्री द्वारा अनुवादित 'कौटिल्याज अर्थशास्त्र' की भूमिका, के वी. रगास्वामी आयगर द्वारा लिखित कन्सिडरेशन्स आफ सम एस्पेक्ट्स आफ एशेंट इण्डियन पोलिटी पृ० १९ और आगे। कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र को परवर्त्ती काल की रचना सिद्ध करने के लिए अभी तक कोई प्रवल प्रमाण प्रस्तुत नही किया गया।

२. डा० एच० सी० रायचौधुरी द्वारा लिखित पोलिटिकल हिस्ट्री आफ एशेंट इडिया, पृष्ठ १६४, पृ० १८२—३।

रूपान्तरित न कर गयी होती तो मगध की अदम्य सैनिक भावना और चमत्कारपूर्ण राज्य-कला तामिल राज्यो और तामिल भारत के दक्षिणी छोर पर अवस्थित ताम्रपर्णी पर आक्रमण करके उसे अपने अधीन करके ही तृप्त होती, और सभाव्यत:, भारतवर्ष की सीमाओ से वाहर गये विना तथा रोम के साम्राज्य जैसा साम्राज्य स्थापित किये विना सतुप्ट न हुई होती। भारत का आर्यकरण अशोक से वहुत पहले पूरा हो चुका था। इस देश की विभिन्न जातियो के लिए यह आर्यकरण वैसा ही था जैसा ग्रीकेतर जातियो के लिए हैलैनिज्म। आर्यो की भापा और जीवन की रीति प्राय सारे भारत मे अपनायी जा चुकी थी, और राप्ट्रभापा, यानी पालि भापा, भी स्वीकार की जा चुकी थी। इस तरह वे सव साधन यहाँ तैयार थे जो भारत की विभिन्न जातियो को मिलाकर एक राष्ट्रीयता, या यो कहिये कि साम्राज्याधीनता, मे लाने के लिए आवश्यक थे। इस परिणति पर पहुँचने के लिए जो एकमात्र चीज आवश्यक थी वह थी राजनैतिक स्थिरता, अर्थात् साझा राजनैतिक सघ। और यदि अशोक ने अपने वाप-दादा की नीति को जारी रखा होता और विविसार द्वारा नवोत्पादित केन्द्राभिसारी वलो को वढाया होता तो उसकी प्रवल शक्ति और प्रशासनीय प्रतिभा से मगध साम्राज्य दृढ हो गया होता और यह राजनैतिक स्थिरता सुनिश्चित हो गयी होती। पर हुआ यह कि उसने, कलिग युद्ध के शीघ्र वाद, अर्थात् उस घटना के वाद जिससे उसके समान अवसर और साधनो वाले अन्य राजाओ को विश्व प्रभुत्व स्थापित करने की प्रेरणा मिली होती, उसने एक नयी ही परराप्ट्र नीति निर्धारित की। इसके वाद अशोक युद्ध के विचारमात्र से घृणा करने लगा। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार, कलिग युद्ध की भीपणता का वर्णन करते हुए, वह कहता है

कि अगर उस मुसीबत का सौवाँ, नहीं-नहीं हजारवाँ, भाग भी, मनुष्यो को पुन भुगतना पड़े तो उससे मुझे अत्यधिक दुःख होगा। और एक अन्य स्थान पर, जैसे वडी राहत और खुशी की भावना के साथ वह हमे वताता है कि अव मेरे लिए नगाडे का शब्द धम्म का शब्द वन गया है, युद्ध का नही। पर कलिग युद्ध की घटना का उल्लेख उसने एक विशेष प्रयोजन से किया है। वहाँ वह सरल भाव से स्वीकार करता है कि मैंने प्रदेश-विजय का विचार सर्वथा त्याग दिया है और धम्म-विजय का रास्ता पकड लिया है। वह कहता है कि धम्म-विजय सव सीमावर्त्ती प्रदेशो मे भी हासिल की जा सकती है, और वहाँ प्राप्त की भी गयी है। पर वह इस नयी नीति के प्रतिपादन मात्र से सतुष्ट नही है, वल्कि अपने पुत्रो, पौत्रो, तथा अपने सव वशजो को प्रदेश-विजय की लालसा त्याग देने की प्रेरणा करता है और उनसे आग्रह करता है कि वे उसके शुरू किये हुए धम्म-विजय के कार्य को जारी रखकर और पूरा करके उसके पदचिह्नो पर चले। विजय के स्थान पर धम्म-विजय की नीति अपनाने का परिणाम आध्यात्मिक दृष्टि से शानदार होते हुए भी राजनैतिक दृष्टि से विनाशकारी सिद्ध हुआ। नि सदेह, शान्ति का प्रेम और आत्मिक उन्नति की अकाक्षा इस प्रकार पैदा हुई और अव वे भारतीय चरित्र मे अनुस्यूत हो गयी। हिन्दू मानस, जो पहले ही आध्यात्मिक था, अव अत्यन्त आध्यात्मिक हो गया। उससे क्षात्र धर्म, राजनैतिक महानता और भौतिक सुख-लाभ के प्रति कुछ उपेक्षा अवश्य पैदा हुई होगी। यही कारण रहा होगा जिससे कौटिल्य के वाद राजनैतिक सिद्धान्त और आचरण की प्रगति हमे सहसा अवरुद्ध और कुण्ठित दिखायी देती है, विशेपकर ऐसे समय जव मगध राज्य से यह आशा थी कि वह राष्ट्रीयता की भावना पैदा करेगा और

भारत को एक उच्चतर राजनैतिक तल पर खडा करेगा। परन्तु अशोक का नया दृष्टिकोण एक केन्द्रशासित राष्ट्रीय राज्य और चक्रवर्ती साम्राज्य की भारतीय आकाक्षा के लिए मारक सिद्ध हुआ। उसकी नीति के परिणाम उसकी मृत्यु के बाद शीघ्र ही दिखायी देने लगे। उत्तर-पश्चिमी क्षितिज पर काले बादल मँडराने लगे और उसकी मृत्यु के बाद मुश्किल से चौथाई सदी गुजरी होगी कि बैक्ट्रियन ग्रीको ने हिदूकुश को, जो मौर्य साम्राज्य की उत्तर-पश्चिमी सीमा बनाता था, पार कर लिया, और जो कभी एक शक्तिशाली साम्राज्य था, उसे क्षीण करना शुरू कर दिया। हम जानते हैं कि सिकन्दर के सेनापति होते हुए भी ग्रीक लोग मगध सेना से कितना घबराते थे। विशाल एकिमीनियन साम्राज्य को ध्वस्त और विनष्ट करने के लिए उन्हे सिर्फ तीन लडाइयाँ लडनी पडी, पर जब वे भारत मे घुसे तब उन्हे चप्पा-चप्पा जमीन के लिए लडना पडा और उनके नेता सिकन्दर को भी एक बार प्रायः प्राणान्तक आघात लगा था। निःसदेह, ग्रीक सैनिक बलवान और वीर योद्धा थे और यद्यपि उन्हे कठिनाई हुई पर तो भी वे बहुत से भारतीय कबीलो को और पजाब के राजा पोरस तक को जीतने मे सफल हो गये थे। परन्तु, जैसा कि प्लूटार्क हमे बताता है, पोरस के साथ हुए युद्ध से मैसिडोनियनो का हौसला इतना टूट गया और भारत मे और आगे बढने से उनका दिल इतना हट गया कि जब सिकन्दर ने उनसे यह आग्रह किया कि वे गगा के पार चले और मगध सेना से मोर्चा ले तो, उन्होने उसका बडी दृढता से विरोध किया।[1] सिकन्दर बडा कुपित और क्रुद्ध हुआ, पर उसे पीछे हटना पडा। मैसिडोनियनो के मन मे मगध

१. एशेट इण्डिया इट्स इनवेजन बाई एलेग्जेडर दि ग्रेट—लेखक मैकक्रिडल, पृ० ३१०।

सेना का ऐसा भय बैठ गया था। पर मालूम होता है कि धम्म-विजय की जो नयी परराष्ट्र नीति अशोक ने शुरू की थी, उसके कारण सब वस्तुएँ सहसा परिवर्तित हो गयीं और वही ग्रीक, जो सिकन्दर के सेनापतित्व में भी मगध सेना के नाम से थर्राते थे, अब उत्तरी भारत का हृदय चीरते हुए और मगध साम्राज्य को खंड-खंड और छिन्न-भिन्न करते हुए आसानी से आगे बढ़ आये।

इससे भी बुरी बात यह हुई कि अशोक की मृत्यु के शीघ्र बाद हुए ग्रीक आक्रमणों ने, जिनके लिए उसकी परिवर्तित परराष्ट्र नीति ही जिम्मेदार प्रतीत होती है, शक, पल्हव, कुशान, हूण, गुर्जर इत्यादि अनेक असभ्य जातियों के लिए भारत में द्वार खोल दिया, जो छठी शताब्दी ई० प० तक निरन्तर इस देश में आती, और शुगों और गुप्तों जैसे एक-दो को छोड़कर और सब देशी राजाओं की सम्राटता को नष्ट करती दिखायी देती है। यह सत्य है कि ये सब विदेशी जातियाँ भारत में बसने के शीघ्र बाद हिंदू हो गयीं पर इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि मुसलमानों के आगमन तक देश की राजनैतिक सत्ता पर इन विदेशियों का प्रायः एकाधिकार रहा। इस प्रकार राजनैतिक मौलिकता और नवविकास की पुरानी हिंदू प्रतिभा सुषुप्त पड़ी रही और अपनी मौत मर गयी, और जो विश्व-आधिपत्य किसी समय भारत की आकांक्षा-सा प्रतीत होता था, वह एक असंभव स्वप्नमात्र रह गया।

यद्यपि अशोक के धर्म-प्रचार कार्यों के कारण भारत राष्ट्रीयता और राजनैतिक महानता से दूर हो गया प्रतीत होता है, पर उसने विश्व-भ्रातृत्व और मानव-बंधुत्व की ओर जो हिन्दू समाज के मूलभूत सिद्धान्त हैं, निःसंदेह प्रगति की है। यह सच है कि इसके परिणामस्वरूप राजनीति-विज्ञान की प्रगति सहसा अवरुद्ध हो गयी

और धर्म तथा दर्शन हिंदू मानस मे अधिकाधिक जगह घेरने लगे। पर यह न समझना चाहिए कि हिंदू मानस सासारिक जीवन के सुखो के प्रति वैरागी या उदासीन हो गया, अथवा भारत का औद्योगिक या व्यापारिक महत्त्व नष्ट हो गया। कुल मिलाकर यह भारत की हानि है या लाभ, इस प्रश्न का निर्णय अलग-अलग लोग अपने अलग-अलग स्वभाव के अनुसार करेगे। पर इतनी बात निश्चित है कि ससार को इस भारतीय सम्राट् के धर्म-प्रचार कार्य से बहुत लाभ हुआ है और कि जहाँ एक ओर, पूर्व की तरफ बौद्ध धर्म ने न केवल धर्म और दर्शन, बल्कि हिन्दू सभ्यता की और महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ भी स्थापित की, वहाँ दूसरी ओर इसका न केवल थेराप्यूटी और ऐसनस नामक यहूदी सप्रदायो पर बल्कि प्राचीन और मध्यकालीन ईसाइयत पर भी बड़ा गहरा प्रभाव पडा है।

अध्याय ८

अशोक के लेख

उनके प्राप्ति-स्थान, आदि

शिलालेख

(अ) चौदह शिला प्रज्ञापन

अशोक के लेख शिलाओ या प्रस्तर-स्तभों पर और गुफाओ में उत्कीर्ण है। सबसे पहले हम उन लेखो पर विचार करेगे जो चौदह शिलालेख या प्रज्ञापन कहलाते हैं। ये सब मिलाकर चौदह विभिन्न लेखो का एक समूह हैं जो एक निश्चित क्रम मे हैं, और एक-दो मामूली शब्द-भेद या बोली-सबधी विशेपताओ के साथ सात विभिन्न स्थानों मे उत्कीर्ण पाये गये हैं। उत्तर-पश्चिम से शुरू करे तो इन लेखो का पहला समूह उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त में, पेशावर से लगभग ४० मील उत्तर-पूर्व मे, पेशावर के यूसुफजई सब-डिवीजन के शाहबाजगढी नामक स्थान पर मिला है। पहले जनेरल कोर्ट को इसका पता लगा था, जिसने इसे कपूरदागढ़ी के बिलकुल निकट अवस्थित बताया था जिसके नाम पर इसे पहले कपूरदागढी लेख कहते थे। पर कपूरदागढी वहाँ से दो मील दूर है और यह शिला वास्तव मे उससे बहुत अधिक बडे गाँव शाहबाजगढी की सीमा मे है और इस गाँव से आधा मील से भी कम दूर है। इस अभिलेख का अधिकाश, जिसमे बारहवे को छोडकर और सब लेख हैं, २४ फुट लम्बी, १० फुट ऊँची, और १० फुट मोटी चट्टान के पूर्वी और

पश्चिमी फलको पर उत्कीर्ण है—यह शिला पहाड़ी पर ८० फुट ऊँचाई पर है और इसका पश्चिमी फलक शाहबाजगढी गॉव की ओर को है। पर इस समूह का प्रज्ञापन १२, स्वर्गीय सर हेरल्ड डीन ने १८८९ मे खोजा था, और वह मुख्य अभिलेख से ५० गज दूर एक पृथक् शिलाखड पर उत्कीर्ण है। शाहबाजगढी नाम आधुनिक है पर वर्त्तमान गॉव एक बहुत पुराने, विस्तृत नगर के स्थान पर है, और कनिगहम के अनुसार प्राचीन नगर पो-लु-शा (युवान-च्वाग) या 'फो-शा-फू' (सुगयान)[1]—जो एक प्रसिद्ध बौद्ध तीर्थ और वेस्सतर जातक का घटना-स्थल है—को निरूपित करता है। यह सभाव्यत अशोक के राज्य के अन्तर्गत विद्यमान यवन प्रान्त की राजधानी था

अब अगला लेख समूह वह है जो उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त के हजारा ज़िले मे, ऐबटावाद से १५ मील उत्तर मे, मानसेहर (मनसेरा) नामक स्थान मे है। यहॉ सिर्फ पहले बारह प्रज्ञापन दे शिलाओ पर खुदे हुए मिले हैं। तेरहवॉ और चौदहवॉ प्रज्ञापन सभाव्यतः वही कही आस-पास छिपे हुए हैं और मिलने बाकी हैं पास-पड़ौस मे पुरानी आबादी के कोई चिह्न नही हैं पर जैसा कि सर ए० स्टीन ने बताया है, यह अभिलेख एक तीर्थ-स्थल को जाने वाली एक प्राचीन सड़क के किनारे एक चट्टान पर उत्कीर्ण कराया गया प्रतीत होता है—यह तीर्थ-स्थल आजकल ब्रेरी कहलाता है जो भट्टारिका—देवी या दुर्गा[2] का वाचक कश्मीरी शब्द है। हम देख चुके है कि शाहबाजगढी प्रति का प्रज्ञापन १२ एक पृथक् शिला पर उत्कीर्ण है, जबकि मानसेहरा प्रति मे वह लेख शिला के एक ओर उत्कीर्ण है। फिर, इन दोनो स्थानो पर अन्य प्रज्ञापनो की

---

१. C. ASR, V ८—२३, C. CII, I, ८—१२।

२ PR—ASNWFP, १९०४—५, पृ० १७।

अपेक्षा अक्षर बडे और खुदाई अधिक परिशुद्ध है। इसमे कोई सदेह नही, जैसे कि पहले सेनार्ट[1] ने सकेत किया था, कि कम-से-कम, भारत के इस भाग मे, प्रज्ञापन १२ को, जिसमें एक-दूसरे के धार्मिक सम्प्रदाय के प्रति सहिष्णुता प्रदर्शित करने को कहा गया है, विशेष महत्त्व दिया गया प्रतीत होता है। मालूम होता है कि जैसे अशोक की दृष्टि मे उसके साम्राज्य के इस दूरवर्त्ती प्रदेश मे, जो भारत में होने वाले अभियानो का मुख्य मार्ग होने के कारण, विभिन्न धार्मिक विचारों वाली अनेक जातियो का सगम-स्थल होगा, धार्मिक शाति के उपदेश की विशेष आवश्यकता थी।

चौदह शिला प्रज्ञापनो की तीसरी प्रति यमुना के पश्चिमी तट पर, यमुना और टोंस के सगम पर और मसूरी (मसूरी) से लगभग १५ मील पश्चिम मे बिल्लौर की एक विशाल गोल चट्टान पर उत्कीर्ण है। यह चट्टान जिला देहरादून (उत्तर प्रदेश) मे कालसी से डेढ मील है—यह गाँव इससे निकटतम है और इसी के नाम पर इसे कालसी लेख कहते हैं। यह पत्थर १० फुट लम्बा, १० फुट ऊँचा और तली पर लगभग ८ फुट मोटा है। दक्षिण-पूर्वी पार्श्व को चिकना किया गया है, पर फिर भी कुछ असमतल रह गया है क्योकि इस पर पहले वाले तल के उभार कायम[2] हैं। शुरू में श्री फोरेस्ट ने १८६० मे इसका पता लगाया था। उस समय लेख के अक्षर अच्छी तरह दिखायी नही देते थे क्योकि सारे तल पर सैकड़ो साल की काली काई जमी हुई थी। पहले-पहल देखने पर लेख ऐसा लगता है कि जैसे बहुत सारे स्थानो पर यह अधूरा हो, पर इसका कारण यह था कि खोदने वाले ने सब चटके हुए और

१. IA १८८०, पृ० ४३।
२. C. ASRI २४४, C. CIII, १२—१३।

अचिक्कण स्थानो को जान-बूझकर अनुत्कीर्ण रहने दिया है। तली की ओर को, दसवे प्रज्ञापन से आगे अक्षरो का आकार बढता जाता है और वह ऊपरी भाग के अक्षरो के आकार से लगभग तिगुना तक हो जाता है। या तो अक्षरो के इस प्रकार बडा कर दिये जाने के कारण, या शायद, लेख का पिछला अश परवर्त्ती काल का होने के कारण, निर्मित तल सारे अभिलेख के लिए बहुत छोटा था, इसलिए इसे शिला के बाये हाथ वाले पार्श्व पर पूरा किया गया है। दाये हाथ वाले पार्श्व पर एक हाथी रेखाओ से अकित किया गया है और उस पर गजतम (उत्तम हाथी) लिखा है, जो नि सदेह बुद्ध को निर्दिष्ट करता है। शिला के आस-पास बहुत से मूर्त्तियो के पत्थर पडे हुए हैं जिससे पता चलता है कि पहले इसके पडोस मे मकान होगे, और यह स्थान निश्चित रूप से प्राचीन और समृद्ध श्रुघ्न नगर के पास अवस्थित था।[1]

चौथी प्रति प्रसिद्ध गिरनार प्रति है जिसका पहले-पहल कर्नल टॉड ने १८२२ मे वर्णन किया था। यह गिरनार पहाड को जाने वाले मार्ग पर जूनागढ (काठियावाड) नगर से आधा मील पूर्व मे, एक बडी चट्टान के उत्तर-पूर्वी पार्श्व पर उत्कीर्ण है। गिरनार गिरिनगर ही है जो बहुत समय तक सौराष्ट्र की राजधानी रहा। प्रभास-खंड मे गिरनगर को एक शैव तीर्थ कहा है। इस स्थान को जैन भी बहुत आदर की दृष्टि से देखते हैं। यह अभिलेख एक घने वन मे गडा हुआ था और यदि एक स्थानीय प्रमुख व्यक्ति यात्रियों के लाभ के लिए जगल मे से एक ऊंचा मार्ग न बनवाता तो इसका कभी पता ही न चला होता।[2] लेख के दो भाग हैं जिनके बीच मे

१. IA., V. २५७—८।

२. ASWI, II ९५, PR—ASWI, १८९८-९, पृ० १५।

ऊपर से नीचे तक एक रेखा खिची हुई है। वायी ओर पहले पाँच प्रज्ञापन उत्कीर्ण है और दायी ओर ६—१२ तक, अगले सात प्रज्ञापन खुदे हैं। तीसरा प्रज्ञापन नीचे है और उसके दायी ओर १४वाँ प्रज्ञापन है। सारा पत्थर बडी अच्छी हालत मे है—सिर्फ एक स्थान पर जहाँ पाँचवाँ और तेरहवाँ प्रज्ञापन हैं, पत्थर नष्ट हो गया है, और कहा जाता है कि उपर्युक्त उच्च मार्ग के लिए पत्थर आदि प्राप्त करने के वास्ते जो विस्फोटन कार्य किये गये थे, उनमें यह नष्ट हो गया। पास की मिट्टी को उलटने-पलटने पर कैप्टन पोस्टन्स को, १८७७ से पहले, शिला के कई टुकड़े मिले, जिनमे से दो टुकड़ो पर अशोक-कालीन अक्षर थे, जो नि सदेह प्रज्ञापन १३ से सम्बन्धित थे—ये बाद मे JRAS, १९००, मे पृष्ठ ३३५ पर और उससे आगे, वर्णित हैं और पढे गये हैं। आर-पार खिची हुई क्षैतिज रेखाएँ प्रज्ञापनो को एक-दूसरे से पृथक् करती हैं। प्रज्ञापन १३ के नीचे जगह छोड़ कर लिखा है ···· ···· ··· ········ ··· व स्वेतो हस्ती सवलोक-सुखाहरो नाम (श्वेत हाथी जिसका नाम सारे ससार को सुख देने वाला है), और सबसे पहले प्रो० कर्न ने पहचाना कि यह बुद्ध का ही निर्देश है। सम्भव है कि यहाँ पहले हाथी का वैसा ही कोई निरूपण होगा जैसा धौलि और कालसी के प्रज्ञापनो मे मिलता है।

उसी शिला पर रुद्रदामन (ई० प० १५०) और स्कदगुप्त (ई० प० ४५७) के अभिलेख उत्कीर्ण हैं जो हमे बताते हैं कि इस के निकट चन्द्रगुप्त मौर्य के आदेश से एक सुदर्शन नामक झील बनायी गयी थी, जिसमे मौर्य वश के स्थानीय-प्रतिनिधियो ने जलधाराएँ और जलमार्ग बनवाये थे और जिसकी दो बार मरम्मत करायी गयी थी—एक बार रुद्रदामन के शासन-काल मे और फिर एक बार स्कदगुप्त के शासन-काल मे।

प्रज्ञापन के कुछ शब्दो वाला एक खड प्राप्त होने से यह अच्छी तरह सिद्ध हो जाता है कि इन लेख्यो की एक प्रति थाना जिले के सोपारा स्थान पर, जो बम्बई के उत्तर मे है, कभी विद्यमान थी ।[1] सोपारा, जो अब भी एक समृद्ध नगर है, एक महत्त्वपूर्ण बन्दरगाह और बाजार था और उसके नाम थे सूरपारक (महाभारत) सुप्पर (पेरिप्लस), या सौपर (टालेमी) । महाभारत मे यह बताया दीखता है कि इसे परशुराम ने बसाया था और उसमे राम-तीर्थ[2] का उल्लेख है । यह बहुत पवित्र स्थान, और बहुत समय तक अपरान्त की राजधानी, था ।

दो प्रतियाँ[3] भारत के पूर्वी ओर, बगाल की खाडी के तट के निकट कलिंग की सीमा के भीतर मिलती हैं जिसे अशोक ने 'अपने अभिषेक के आठ वर्ष बाद' विजय किया था । उत्तरी प्रति (जिसका श्री किट्टो ने १८३७ मे पता लगाया था) अस्वस्तम नामक शिला पर उत्कीर्ण है, जो उडीसा के पुरी जिले मे, भुवनेश्वर से लगभग सात मील दक्षिण मे धौलि गाँव के निकट (जिसका उल्लेख तोसली नगर के नाम से प्रज्ञापनो मे किया गया है, जो कुमार प्रतिनिधि शासन का केन्द्र था) अवस्थित है। अशोक के लेख तीन समानान्तर ऊर्ध्वाधिर कालमो मे लिखे हुए हैं, जिनमे से चौदह शिला प्रज्ञापन (प्रज्ञापन १२ और १३ को छोडकर शेप) सार बीच के कालम पर, और आधे दाये कालम पर खुदे हुए हैं । बाद मे दो स्थानीय प्रज्ञापन जोडे गये, एक से दायी तरफ का कालम पूरा हो गया और दूसरा

---

१ JBBRAS... XV., २८२, PR..ASWI, १८९७--८, पृ० ७ और आगे ।

२. IA., १८८२, पृ २३६ ।

३. C. ASR, XIII ९५ और ११२, CII, I. १५ और आगे ।

वायी तरफ वाले सारे कालम पर आगया। इसलिए यह पिछला, यहाँ के दो पृथक् प्रज्ञापनो मे से दूसरा है। शिलालेख के एकदम ऊपर एक छज्जा है जिसके दायी ओर अत्यधिक कलापूर्ण, ४ फुट ऊँचा, एक हाथी का अग्रभाग है, यह सारा एक अखड शिला मे से काटकर वनाया गया है। यहाँ जो दरजे मिली हैं उनसे मालूम होता है कि यह हाथी शुरू मे एक लकडी के वितान से परिरक्षित था। दक्षिणी पाठ (जिसकी पहली नकल सर वाल्टर इलियट ने १८५० मे की थी) गजाम नगर के पश्चिम-उत्तर-पश्चिम की ओर लगभग अठारह मील पर ऋषिकुल्या नदी के तट के निकट जौगडा नामक एक वडे दुर्ग (लाक्षादुर्ग) मे एक 'चित्रमय' शिला के फलक पर खुदा हुआ है। जौगडा लेख शिला के ऊर्ध्वाधर फलक पर तीन विभिन्न चौकियो पर खुदे हुए हैं। पहले पर पहले पाँच प्रज्ञापन हैं, पर शिला के छिल जाने से लगभग आधा भाग नष्ट हो गया है। दूसरी चौकी पर अगले पाँच प्रज्ञापन और १४वाँ प्रज्ञापन हैं। इस चौकी का लगभग एक-तिहाई कट-फट गया है। तीसरी चौकी पर वे दो पृथक् प्रज्ञापन हैं जो धौलि मे मिले हैं। ये प्रज्ञापन उतनी सावधानी से उत्कीर्ण नही किये गये जितनी सावधानी से अन्य दो चौकियो पर उत्कीर्ण किये गये हैं।

(आ) पृथक् कलिंग प्रज्ञापन

धौलि और जौगड़ा मे सामान्य प्रज्ञापन माला के वारहवे और तेरहवे प्रज्ञापनो के स्थान पर अंतो (सीमान्तनिवासियो) का प्रज्ञापन और जनपद निवासियो का प्रज्ञापन हैं।

(इ) गौण शिला प्रज्ञापन

पहले-पहल इन प्रज्ञापनो की सिर्फ तीन प्रतियो का पता चला था और उन्हे हम तीन उत्तरी प्रतियाँ कह सकते हैं। इनमे से एक

सहसराम (जिला शाहाबाद बिहार) की पूर्व की ओर चन्दन पीर चोटी के निकट एक कृत्रिम गुफा मे एक चट्टान पर खुदा हुआ है—अब उसके ऊपर एक मुस्लिम पीर की समाधि बनी हुई हे और उसी के नाम पर यह पुकारी जाती है।[1] स्मिथ ने लिखा है कि अशोक के समय यहाँ तीर्थ की भावना से हिन्दू यात्री जाते होंगे। पर यह अनुमान मात्र है। दूसरी प्रति कैमूर पर्वत-शृखला की तलहटी में रूपनाथ शिला (जिला जबलपुर, मध्य प्रदेश) पर उत्कीर्ण है। यहाँ तीर्थ-यात्री जाते हे जो स्थानीय देवता रूपनाथ (शिव) की पूजा करते हैं और राम, लक्ष्मण तथा सीता के नाम पर अभिहित तीन पवित्र सरोवरो मे स्नान करते हैं। तीसरी उत्तरी प्रति, जो पहले-प्रहल कारलेयल को १८७२-७३ मे मिली थी, वैराट (जयपुर राज्य, राजपूताना) नामक प्राचीन नगर के निकट, जहाँ कहा जाता है कि पाडव अपने वनवास के अन्तिम दिनो मे रहे थे, हिंसगिरि नामक पहाडी के नीचे एकान्त मे स्थित एक विशालकाय प्रस्तरखड पर खुदी हुई है। शिला का तल खुरदरा हे और ऋतु-प्रभाव से बहुत खराब हो गया है। दक्षिणी प्रतियो मे से तीन का पता श्री बी० लेविस राइस ने १८९२ मे लगाया था—ये तीनो मैसूर के चितलदुर्ग जिले मे एक दूसरी की निकटवर्त्ती तीन बस्तियो सिद्धपुर, जतिग-रामेश्वर और बह्मगिरि, मे जो एक प्राचीन बस्ती (सभाव्यत प्रज्ञापनो की इसिला) के स्थान के पास हैं, खुदे हुए हैं। सिर्फ मैसूर वाली प्रतियो मे से प्रत्येक मे एक सक्षिप्त पूरक प्रज्ञापन है जिसमे अशोक के धम्म का साराश दिया हुआ है। इन शिलालेखो के आविष्कार से पहली बार यह स्पष्ट रूप से प्रकट हुआ कि अशोक का साम्राज्य दक्षिण मे मैसूर तक फैला हुआ था

१. EC, XI १--५ (प्रवेश)।

चोथी दक्षिणी प्रति मस्की शिला गौण प्रज्ञापन है जो१९१५[1] में मिला था । यह निजाम राज्य के रायचूर जिले मे है । यद्यपि यह कटी-फटी अवस्था मे है पर तो भी यह एक वहुत महत्त्वपूर्ण शिलालेख है क्योकि अकेले इस लेख मे अशोक का नाम लेकर उसे इसका जारी करने वाला वताया गया है—अन्य लेखो मे जारी करने वाले का नाम प्रियदर्शी दिया गया है जो इसी राजा का दूसरा नाम है ।

स्तम्भ लेख

(आ) सात स्तम्भ लेख

अशोक के उत्कीर्ण स्तम्भ साम्राज्य के वीचोवीच, लोकप्रिय स्थानो पर होने के कारण यूरोपियनो को उनका वहुत समय से पता है ।[2] इनमे से सवसे अधिक सुविदित, और यूरोपियनो की निगाह मे सवसे पहले आने वाला दिल्ली (शिवालिक, या तोपरा) स्तम्भ है जो फीरोजशाह की लाट के नाम से प्रसिद्ध है । सुलतान फिरोज-शाह तुगलक के समसामायिक इतिहासकार शम्स-इ-सीराज के अनुसार, सुलतान यह स्तम्भ यमुना के किनारे के तोपरा (उच्चारण भेद से तोहेरा, तामेरा नाहेरा, आदि) नामक स्थान से जो पर्वतों की तलहटी मे, दिल्ली से ९० कोस था, लाया था, और उसने इसे फिरोजावाद मे कोटला के ऊपर स्थापित कराया था । इस पर सात "स्तम्भ प्रज्ञापन" ह जवकि अन्य-स्तम्भो पर सिर्फ छ हैं। सातवे प्रज्ञापन की पहली ग्यारह पक्तियाँ कॉलम के पूर्वी फलक पर उत्कीर्ण हैं और शेप पक्तियाँ सारे खभे या दड (शैफ्ट) के चारों ओर खुदी हैं । यह लेख वाद मे जोडा हुआ है । जैसा कि इस तथ्य

१. HAS., सख्या १, पृ० १–२ ।

२ C, ASR, I. ६७, ७३, १६१, २९८; V.१४३, XIV, ७८; XIV ११०, XXII ५१ C. CII, I ३४ ।

से स्पष्ट है कि यह अधिक पतले और कम सावधानी से बनाये गये अक्षरो मे खोदा गया है और इनमे से बहुतो का रूप ढलवादार या बहावदार है ।

अशोक का दिल्ली मे विद्यमान दूसरा स्तम्भ, शम्स-इ-सीराज के अनुसार, उसी सुलतान द्वारा मीरठ (मेरठ) से लाया गया था और "शिकार महल" के पास, जो हम जानते हैं कि आधुनिक नगर के उत्तर-पश्चिम की ओर रिज (पहाडी) पर बना हुआ था, स्थापित किया गया। लोगो मे यह विश्वास चला आता है कि फर्रुखसियर (१७१३-१९ ई० प०) के शासन-काल मे बारूद के आकस्मिक विस्फोट के कारण यह स्तम्भ नीचे गिर गया था। इस गिरे हुए स्तम्भ का उत्कीर्ण अश पहले बगाल की एशियाटिक सोसाइटी के सग्रहालय मे था। पर यह टुकडा बाद मे दिल्ली भेज दिया गया और स्तम्भ को (१७६७ ई० प०) फिर उसकी पहले वाली स्थिति मे खडा किया गया। इस स्तम्भ पर खुदाई बडी अधूरी है जो अशतः इसके टूट-फूट जाने के कारण, और अशत: वर्त्तमान टुकडो का तल घिस जाने के कारण अधूरी है।

इलाहाबाद स्तम्भ अब किले मे ऐलनबोरो बैरक के पास है। इस पर अशोक के दो गौण प्रज्ञापन भी उत्कीर्ण हैं, और क्योकि इनमे से एक कौशाबी के अधिकारियो के नाम है, इसलिये प्रतीत होता है कि यह स्तम्भ शुरू मे उसी प्राचीन नगर मे स्थापित किया गया था जो अब इलाहाबाद से लगभग ३० मील दक्षिण-पश्चिम मे जमुना के किनारे कोसम नाम से विद्यमान है। इस स्तम्भ पर समुद्रगुप्त की प्रशस्ति भी है। जहाँगीर ने अपने मिथ्या-प्रशसा से पूर्ण लेख द्वारा अशोक के तीसरे और चौथे प्रज्ञापन को बुरी तरह नष्ट कर दिया है। पर उसके समय से कुछ पहले यह

स्तम्भ प्रयाग ले आया गया था और अनुमान है कि इसे फिरोज तुगलक यहाँ लाया था, जो हम जानते हैं कि अशोक के कम से कम दो स्तम्भ उठवाकर दिल्ली लाया था।

उत्तरी बिहार के चम्पारन जिले मे तीन स्तम्भो पर यह प्रज्ञापन-माला उत्कीर्ण है। लौरिया अरराज (या राधिया) स्तभ लौरिया ग्राम के निकट अरराज-महादेव के हिन्दू मदिर के दक्षिण-पश्चिम मे एक मील की दूरी पर, राधिया गाव से पूर्व-दक्षिण-पूर्व की ओर ढाई मील पर और बेतिया जाने वाली सडक पर, केसरिया स्तूप से २० मील उत्तर-पश्चिम मे अवस्थित है। इस स्थान से आगे उत्तर-पश्चिम मे नैपाल की ओर बढने पर लौरिया नदनगढ या माथिया का सुन्दर स्तम्भ दिखाई देगा—अशोक के इसी एक स्तम्भ मे इसका आरम्भिक स्तभशीर्ष (कैपिटल) अब भी कायम है। यह लौरिया नामक बडे ग्राम के पास, माथिया से तीन मील दूर नदनगढ़ के प्राचीन स्थान के बिलकुल निकट है—नन्दनगढ़ के दिलक्षण अवशेष, डा० ब्लौच[1] के अनुसार, मौर्यकाल से पहले के हैं और इसी स्थान पर पिप्पलवन का 'कोयला स्तूप' था। १०७१ (ई० प० १६६०–१) का एक फारसी लेख, जिसमे महिउद्दीन मुहम्मद औरगजेब बादशाह आलमगीर गाजी का नाम आता है, मीर जुमला की सेना के किसी उत्साही मुसलमान ने खोदा दीखता है—यह सेना उस समय बगाल से लौट रही थी, और उसने इस काफिर स्मारक को गिराने के लिए जो यत्न किये थे, उनके चिह्न इस रूप में अब भी दिखाई देते है कि स्तम्भ-शीर्ष के ठीक नीचे तोप के गोले का गोल निशान है। इसके उत्तर-पूर्व मे करीब बीस मील पर रामपुरवा ग्राम है जो पिपरिया गाव से लगभग एक मील उत्तर-पूर्व मे

१. ASI.-AR, १९०६–७, पृ० ११६।

है ।[1] स्व० डा० स्मिथ[2] का विचार था कि चम्पारन के स्तम्भ गगा के उत्तरी तट से नैपाल घाटी को जाने वाले राजमार्ग को सूचित करते है ।

(आ) गौण स्तम्भ प्रज्ञापन

इलाहाबाद वाले स्तम्भ पर दो गौण प्रज्ञापन है—रानी का प्रज्ञापन और वह प्रज्ञापन जिसमे सघ मे फूट डालने वाले के लिए दड निर्धारित किया गया है । रानी के प्रज्ञापन का और कोई पाठ नहीं मिलता । पर इलाहाबाद और साची[3] के (भोपाल राज्य मे साची के महान् स्तम्भ के दक्षिणी द्वार पर एक गिरे और टूटे स्तम्भ पर उत्कीर्ण) कटे-फटे पाठ के अतिरिक्त, सघ मे फूट डालने पर दड निर्धारित करने वाला प्रज्ञापन सारनाथ स्तम्भ[4] पर लगभग पूर्ण रूप मे खुदा हुआ है—यह स्तम्भ जो सारनाथ मे बनारस से लगभग ३॥ मील उत्तर मे है, १९०५ मे श्री ओएर्टेल की दृष्टि मे आया था ।

अशोक के गौण स्तम्भो मे सबसे महत्त्वपूर्ण रुम्मिनिदेई स्तम्भ है जो रुम्मिनिदेई मे पदेरिया से लगभग एक मील उत्तर मे और नैपाल की भगवानपुर तहसील मे, जो भारत के बस्ती जिले के उत्तर मे है, भगवानपुर से २ मील उत्तर मे है ।[5] इस पर उत्कीर्ण स्मारक अभिलेख मे कहा गया है कि शाक्यमुनि भगवान बुद्ध का वहाँ जन्म-स्थान है । इस प्रकार यह बुद्ध का जन्म-स्थान लुम्बिनीवन है । एक

---

१. वही, १९०७–८, पृ० १८१ ।

२. अशोक, पृ० १२० ।

३. ए गाइड टु साची, पृ० ९० ।

४ ASI-AR, १९०४–५, पृ० ६८ ।

५. फ्यूहरर की एन० प्रोग० रिप० १८९४-९५, पैरा ३, JRAS १८९७, पृ० ४२९, पृ० ३६५ ।

ऐसा स्मारक स्तम्भ वह है जो बस्ती जिले के उत्तर मे, नैपाल की तराई मे, निगलीव गॉव के निकट निगलीव सागर नामक तालाव के पश्चिमी तट पर मिला था। यह स्तम्भ अब उपर्युक्त अन्तिम स्तम्भ से लगभग १३ मील उत्तर-पश्चिम मे अवस्थित है और इसके लेख मे लिखा है कि यह कोनागमन स्तूप के स्थान पर बनवाया गया था।

गुफा लेख

बराबर और नागार्जुनी की प्रसिद्ध गुफाएँ गया से ठीक उत्तर मे १६ मील दूर, या सडक के रास्ते १९ मील दूर, फल्गु नदी के बाये या पश्चिमी तट पर दो पृथक् पहाडियो मे है[1]। बराबर पहाडी मे चार गुफाएँ हैं। उनमे से तीन की दीवार पर अशोक लिपि उत्कीर्ण है जिनमे बताया गया है कि ये गुफाएं राजा पियदसी ने आजीविको को भेट की थी।

अशोक के विभिन्न लेखो के प्राप्ति-स्थानो के बारे मे इतना बताना काफी है। अब हमे उनसे सम्बद्ध अन्य प्रश्नो पर विचार करना है। पहले, जिन पत्थरो पर वे उत्कीर्ण है, उनके क्या रूप है ? अशोक उनके बारे मे क्या कहता है ? स्तम्भ-प्रज्ञापन ७ के अन्त मे वह शिला-स्तम्भ और शिला-फलक की चर्चा करता है। स्पष्ट है कि शिला-स्तम्भ पत्थर के स्तम्भो का वाचक है और हम जानते है कि उसके बहुत से अभिलेख उन पर उत्कीर्ण कराये गये थे। शिला-फलक का अर्थ है पत्थर की टुकडियॉ, पर शायद भाब्रू प्रज्ञापन के सिवाय, अशोक का कोई भी लेख अब तक पत्थर की टुकडियो पर उत्कीर्ण नही मिला। सहसराम और रूपनाथ प्रज्ञापनो

१. C. ASR, I. ४४; C CII, I ३०--१।

के अन्त मे शिला-स्तम्भ और पर्वत शब्द आते हैं। इनमे से पर्वत का अभिप्राय उन शिलाओ से है जिन पर न केवल उसके गौण शिला प्रज्ञापन, वल्कि चौदह शिला प्रज्ञापन भी उत्कीर्ण हैं। और, तथ्य यह है कि चौदह शिला प्रज्ञापनो के धौलि और जौगडावाले पाठों मे यह लिखा भी है कि वे एक पर्वत पर उत्कीर्ण कराये गये हैं। दोनो जगह पर्वत का नाम भी लिखा है, पर अब जौगडा प्रति वाला ही सुरक्षित है और यह है खपिगल। इस प्रकार, हम देखते हैं कि अशोक ने अपने अभिलेख तीन वस्तुओ, अर्थात् शिलाओ, पापाण-स्तम्भ, पापाण-खडो या टुकडियो पर उत्कीर्ण कराये।

अब हमे दूसरे इस प्रश्न पर विचार करना है। अशोक अपने लेखो के वारे मे क्या कहता है ? वह उनका किन नामो से निर्देश करता है। जिन्होने चौदह शिला प्रज्ञापनो और सात स्तम्भ प्रज्ञापनो का अध्ययन किया है वे अच्छी तरह जानते हैं कि उसने उन्हे धम्मलिपि कहकर पुकारा है। इस पद का क्या अर्थ है ? हम ऊपर देख चुके हैं कि अशोक को अपने धम्म और जीवन के सामान्य आचरण की तुलना करने का वडा शौक है। इस प्रकार वह विजय और धम्म विजय की, मगल और धम्म मगल की, दान और धम्म दान इत्यादि की तुलना करता है। हम यह भी जानते हैं कि वह सामान्य महामात्रो और धम्म महामात्रो मे भेद करता है। यही बात धम्मलिपि शब्द के वारे मे होगी और इसका प्रयोग उसने सामान्य लिपि से वैशिष्ट्य सूचित करने के लिए किया होगा। अव, लिपि शब्द लेख का वाचक है और इसका इस अर्थ मे प्रयोग न केवल पृथक् कलिग प्रज्ञापनो मे अपितु सारनाथ स्तम्भ प्रज्ञापन मे भी हुआ है। इस शब्द का प्रयोग, विशेपकर पिछले लेख मे, विशेप महत्त्वपूर्ण है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि यह प्रज्ञापन अपने आपको एक शासन या आदेश बताता है, पर

तब भी यह कहता है कि इसकी दो लिपियाँ रखी जायें--एक राजकर्मचारियों के मार्गनिर्देश के लिए और दूसरी बौद्ध उपासकों के लिए। यहाँ लिपि का अर्थ 'अभिलेख' के सिवाय और दूसरा नही हो सकता। राजा के रूप मे, अशोक ने लौकिक या धार्मिकेत्तर विषयो पर अनेक आज्ञप्तियाँ जारी की होगी। और उन आज्ञप्तियों के लेख भी लिपि कहलाएँगे। और फिर, क्योकि वह धर्म-प्रचारक भी था, इसलिए उसने धम्म की अभिवृद्धि के लिए भी ऐसी आज्ञप्तियाँ अवश्य जारी की होगी। इसलिए इन्हे धम्मलिपि कहना सर्वथा उचित होगा। यह सत्य है कि चौदह शिला प्रज्ञापनो और सात स्तम्भ प्रज्ञापनो को ही धम्मलिपि कहकर पुकारा गया है, पर इसका यह अर्थ नही कि अशोक के (शायद गुफाओ वाले लेखो के अलावा) अन्य लेख धम्मलिपि नही थे। ये सब पुरालेख धम्म की वृद्धि और प्रचार से सम्बन्धित अभिलेख थे और इन्हे धम्मलिपि कहना सर्वथा उचित है।

तीसरा विचारणीय प्रश्न यह है कि विभिन्न अभिलेख किस-किस समय उत्कीर्ण कराये गये। इसमे सात स्तम्भ प्रज्ञापनो के बारे मे तो हम बिलकुल ठीक-ठीक कह सकते हैं। स्तम्भ प्रज्ञापन १ शुरू मे ही कहता है कि यह धम्मलिपि अशोक के राज्यकाल के छब्बीसवे वर्ष उत्कीर्ण कराई गयी, और स्तम्भ प्रज्ञापन ६ के अत मे भी इस उत्कीर्ण कराये जाने का ठीक यही समय लिखा है। इसमे जरा भी सदेह नही हो सकता कि इस माला के पहले से छठे प्रज्ञापन तक अशोक के अभिषेकोत्तर छब्बीसवे वर्ष मे उत्कीर्ण कराये गये। जहाँ तक स्तम्भ प्रज्ञापन ७ का सम्बन्ध है जो सिर्फ दिल्ली (तोपरा) स्तम्भ पर मिलता है, हम जानते हैं कि इस अभिलेख के अन्त मे इसके उत्कीर्ण कराये जाने का समय सत्ताईसवाँ वर्ष

स्पष्ट लिखा है। इससे यह सर्वथा स्पष्ट है कि वह अन्तिम प्रज्ञापन १ वर्ष बाद उत्कीर्ण कराया गया और कि यह बाद मे जोडा गया है। इसके बाद मे जोडे जाने का पता इस तथ्य से भी लगता है कि इस लेख के अक्षर पूर्ववर्ती छ प्रज्ञापनो के अक्षरो से सर्वथा भिन्न प्रारूप के हैं, जैसा कि हम उस स्तम्भ का उल्लेख करते हुए पहले ही बता चुके हैं जिस पर यह उत्कीर्ण है। इस प्रकार, यद्यपि इन स्तम्भ प्रज्ञापनो के तो काल के बारे मे पूर्ण निश्चय है, पर दुर्भाग्य से, अन्य अभिलेखो के बारे मे, यहाँ तक कि चौदह शिला प्रज्ञापनों के बारे मे भी, यह बात नही कही जा सकती। यह सच है कि इस माला मे चार विभिन्न कालो का उल्लेख है (शिला प्रज्ञापन ४, ५, ८ और १३) पर यह कही नही कहा गया कि ये सारी धम्म-लिपियां या उनका कोई भाग किसी वर्प-विशेष मे उत्कीर्ण कराया गया था। इस माला के विभिन्न भागो मे विभिन्न घटनाओ के कालो का निर्देश है, उनके वास्तविक उत्कीर्णन के कालो का नही। इनमे से सबसे बाद की घटना अशोक के अभिषेकोत्तर तेरहवे वर्ष की है, और श्री सेनार्ट ने इसे ही चौदह शिला प्रज्ञापन उत्कीर्ण किये जाने का काल बताया है। अन्य भारतीय तथा यूरोपीय विद्वानो ने भी श्री सेनार्ट की ही बात स्वीकार कर ली है। पर इस काल को उत्कीर्ण कराये जाने का काल मानना तर्कसगत नही। इससे तो यही निष्कर्प निकालना युक्तियुक्त हो सकता है कि उस वर्ष से पहले ये उत्कीर्ण नही हुए, न कि यह कि सारे प्रज्ञापन अभिषेक के तेरहवे वर्प उत्कीर्ण कराये गये। इसलिए हमे इस माला का काल स्वतन्त्र आधारो पर तय करना होगा। यदि यह निश्चित रूप से तय नही किया जा सकता तो हम सन्निकटत. इसे तय करेगे। हमे इस प्रसग मे जो युक्तिक्रम अपनाना है उसका सकेत

ऊपर किया जा चुका है। स्तम्भ प्रज्ञापन ७ मे सब विद्वान् उन कार्यों का सक्षिप्त विवरण दिया गया मानते है जो अशोक ने धम्म की वृद्धि के लिए अपने राज्य-काल के सत्ताईसवे वर्ष तक किये, और हम अभी देख चुके हैं कि इस प्रज्ञापन का यही काल है। पर इसमे उन धर्मार्थ कार्यों का कुछ भी उल्लेख नही जो उसने भारत मे और भारत से बाहर किये और जिनका वर्णन शिला प्रज्ञापन २ मे किया गया है, और न उन सफलताओ का वर्णन है जो, शिला प्रज्ञापन १३ के कथनानुसार, उसे न केवल अपने साम्राज्य मे अपितु उसके पडोसी ग्रीक और भारतीय राजाओ के राज्यो में भी अपने धर्म-प्रचार कार्यो मे प्राप्त हुई थी। अशोक की दृष्टि मे ये दोनो कार्य इतने अधिक महत्त्व के है कि यदि उसे उस प्रज्ञापन के काल, सत्ताईसवे वर्ष, से पहले उनका पता होता तो वह स्तम्भ प्रज्ञापन ७ मे उनका उल्लेख करने से कभी न चूकता। इसलिए हमे यह अनुमान करना पडता है कि शिला प्रज्ञापन २, और १३, और असल मे तो समस्त चौदह शिला प्रज्ञापन, सात स्तम्भ प्रज्ञापनो के उत्कीर्ण हो जाने के बाद उत्कीर्ण कराये गये। अन्य दृष्टियो से सोचने पर भी यही निष्कर्ष निकलता है। हम ऊपर देख चुके हैं कि अपने धम्म के प्रचार के लिए अपनाये गये विविध उपायो का वर्णन करते हुए अशोक धम्म-स्तम्भो के स्थापन को भी उनमे से एक उपाय बताता है। हम यह भी देख चुके हं कि इसके अन्त मे उन्ही धम्मलिपियों के बारे मे वह कहता है कि मैंने पाषाण-स्तम्भो और पाषाण-खडो पर उन्हे उत्कीर्ण करने का आदेश दिया है। यहाँ पर्वतो या शिलाओ पर धम्मलिपियाँ उत्कीर्ण कराने की कोई चर्चा नही है। प्रतीत होता है कि अपने राज्य-काल के सत्ताईसवे वर्ष तक, जो स्तम्भ प्रज्ञापन ७ का काल है, उसे यह विचार नही सूझा। इससे प्रकट

होता है कि उसके सब शिला-प्रज्ञापन, चाहे वे चौदह शिला प्रज्ञापन हो, चाहे गौण शिला प्रज्ञापन, सात स्तम्भ प्रज्ञापन उत्कीर्ण कराने का काल समाप्त हो जाने पर उत्कीर्ण कराये गये ।

इस प्रश्न पर विचार करते हुए कि पहले चौदह शिला प्रज्ञापन उत्कीर्ण कराये गये या गौण शिला प्रज्ञापन, यह ध्यान देने योग्य बात है, जैसा कि हम देख चुके हैं कि सहसराम और रूपनाथ के लेखो मे अशोक आदेश देता है कि वह प्रज्ञापन उन सब स्थानो पर उत्कीर्ण किया जाए जहाँ कोई पापाण-स्तम्भ या कोई पर्वत हो । इससे प्रकट होता है कि शिलाओ या स्तम्भो पर लेख उत्कीर्ण करने का विचार उसके लिए उस समय नया ही था, क्योकि अन्यथा उसके ऐसा आदेश जारी करने मे कोई औचित्य नही हो सकता । इसलिए यह प्रतीत होता है कि स्तम्भ प्रज्ञापन उत्कीर्ण होने के तुरन्त वाद अशोक ने गौण शिला प्रज्ञापन उत्कीर्ण कराने आरम्भ किये और उनके वाद उसने चौदह शिला प्रज्ञापन खुदवाये होगे । जिन दिनो चौदह शिला प्रज्ञापन खोदे जा रहे थे, उन दिनो शिलाओ और स्तम्भो पर लेख उत्कीर्ण कराने का विचार इतना आम-फहम हो चुका था कि अशोक उनमे से किसी का भी कतई उल्लेख नही करता और यदि किसी ऐसी वस्तु का उल्लेख करता भी है तो वह यह सामान्य बात कहता है कि वे (चौदह) शिला प्रज्ञापन शिलाओ पर इस कारण उत्कीर्ण कराये गये हे जिससे वे चिरस्थायी हो ।

कम-से-कम चौदह वर्प तक वडे परिश्रम से धर्म-प्रचार करने के बाद अशोक को अपने धम्म-विपयक विविध विचार और उसके प्रचार के लिए किये गये विभिन्न कार्य अनश्वर पाषाण पर खुदवाने का विचार पैदा हुआ । हम पहले देख चुके हैं कि उसे यह विचार

क्यो पसन्द आया।[1] उसका स्पष्टत· यही उद्देश्य था कि यदि वह अपने धर्म-प्रचार कार्यो का सक्षिप्त विवरण पत्थर पर उत्कीर्ण करा देगा तो उसके आगे आने वाले वशज इसे देख तथा पढ़ सकेंगे और इस पर विचार कर सकेंगे, और यह उन्हे सारे ससार मे धम्म-विजय करने की प्रेरणा देगा, जिसका अशोक ने इतने आडवर के साथ आरम्भ किया था। उसकी धम्मलिपियो के विभिन्न भाग न तो चौदह शिला प्रज्ञापनो मे और न ही सात स्तम्भ प्रज्ञापनों मे, किसी स्वाभाविक क्रम मे बँधे हुए है। शायद अशोक को अपने प्रचार-कार्य के विवरण को स्थायी रूप देने की इतनी जल्दी थी कि उसने अपने लेखो की माला के विभिन्न अशो को विना किसी उपयुक्त क्रम के इकट्ठा कर दिया। तो भी हम इस बौद्ध सम्राट् के बड़े कृतज्ञ है कि उसने, उन विचारो, भावनाओ और प्रेरणाओ को, जिन्होने उसकी आत्मा को विक्षुब्ध, अनुप्राणित और मार्ग-प्रेरित किया, और सबसे बढकर, उसे मानव-जाति के न केवल भौतिक अपितु आध्यात्मिक कल्याण की भी अभिवृद्धि के लिए एक चतुर्मुखी और अविश्रान्त स्फूर्ति मे परिवर्तित कर दिया, चिरस्थायी रूप मे भावी सतति तक पहुँचाने का विचार किया और उस विचार को तत्काल कार्य रूप मे परिणत कर दिया।

ख—अनुवाद, टिप्पणियाँ, आदि

आरम्भिक टिप्पणी

उन्नीसवी सदी के दूसरे चरण से अशोक के लेखो का अध्ययन बहुत से विद्वानो ने किया है। भारतीय पुरालेखशास्त्र के मार्ग-निर्माताओ, प्रिसेप, विल्सन और वर्नोफ के परिश्रमो को १८७७ में

१. ऊपर पृ० ६१—६२।

सर एलेग्जेडर कनिगहम ने छोटे रूप मे कौर्पस इन्स्क्रिप्शिनम इडिकेरम, जिल्द १, के नाम से एकत्र प्रकाशित किया। पर वे अपने पाठो की सदोपता के कारण न्यूनाधिक अब उपयोग मे नही आते। इस जिल्द के प्रकाशित होने के बाद कुछ नये लेख मिले हैं और बहुत से पुराने अभिलेखो का पठन और निर्वचन भिन्न रीति से किया गया है। १९०२ तक प्रकाशित सब प्रकाशनो के निर्देशो की पूरी सूची आर० औटो फ्राक की 'पाली एड सस्कृत', स्ट्रासबुर्ग १९०२, पृ० १–५, मे दी हुई है। अशोक के लेख अपने आप मे एक साहित्य हैं और बहुत कम विद्वानो ने उसके सारे लेखो का सपादन और उन पर टिप्पणी की है। सिर्फ निम्नलिखित पुस्तकें इन लेखो के विद्यार्थी के लिए साधारणतया उपयोगी होगी।

सेनार्ट, एमिल—ले इस्क्रिप्स्यो द पियदसी (पेरिस, दो जिल्दों मे)। यद्यपि इस सस्करण मे पाठो की सदोपता और बाद के आविष्कारो और गवेषणाओ का अभाव है, पर तो भी यह ग्रन्थ ऐसा महत्त्वपूर्ण है कि कोई विद्यार्थी इसकी उपेक्षा नही कर सकता।

बूलर, जार्ज—बेइट्रागे जुर एर्कलारुग डेर अशोक—इस्क्रिफ्टेन (लीपजिग, १९०९) ZDMG १८८३–१८९४, से पुनर्मुद्रित। इसमे बहुत से परिष्कृत पठन और सशोधित अनुवाद तथा उपयोगी टिप्पणियाँ भी दी हुई हैं। इस ग्रथ के बिना काम नही चल सकता। इसका एक अग अग्रेजी रूप मे E I जिल्द I, पृष्ठ १६–२० और जिल्द II, पृष्ठ २४५–२७४, तथा ४४७–७२, ASSI, जिल्द I, पृष्ठ ११४–१२५ मे प्रकाशित किया गया है।

स्मिथ, वी० ए०—अशोक, दि बुद्धिस्ट एम्परर ऑफ इडिया (तृतीय सस्करण, १९२०), अध्याय ४–५। पर इसमे सिर्फ अनुवाद और टिप्पणियाँ हैं, और अभिलेखो का मूलपाठ नही है।

यह सकलन बड़ी सावधानी से तैयार किया गया है और बडा उपयोगी है।

हुल्ट्स, ई०—लेखो का नया सशोधित सस्करण, जो १६१२ मे शुरू किया गया था, पर युद्ध के कारण अनिश्चित काल के लिए टल गया था, अब प्राय पूर्ण हो चुका है और शीघ्र ही विद्वानो को प्राप्त हो सकेगा। इससे पाठ और निर्वचन के अनेक विवाद-ग्रस्त मामलो के तय हो जाने की आशा है।

समय-समय पर विभिन्न विद्वानो के विभिन्न लेख प्रकाशित होते रहते हैं जिनमे अशोक के लेखो के किसी शब्द या संदर्भ पर टिप्पणियाँ होती हैं अथवा उनसे सम्बद्ध विशेष प्रश्नो की चर्चा होती है। उनकी सख्या इतनी अधिक है कि उनका यहाँ उल्लेख नही किया जा सकता, पर आगे के पृष्ठो मे, जहाँ आवश्यकता होगी वहाँ उनका निर्देप किया जाएगा। टी० माइकल्सन के भी कुछ लेख हैं जो इण्डो-जर्म० फोर्सखु गेन, १६०८, १६१०, १६११; अमेरि० जर्न० फाइलौलौजी, १६०६, १६१०; और JAOS, १६११, मे प्रकाशित हुए हैं। पर उनमे निर्वचन की अपेक्षा मूल-पाठ सम्वधी आलोचना और ध्वनिशास्त्र के प्रश्नो की चर्चा अधिक है।

चौदह शिला प्रज्ञापन

(१)

अनुवाद

यह धम्मलिपि[1] देवताओ के प्रिय[2] प्रियदर्शी राजा ने लिखवायी। यहाँ[3] कोई जीव मारकर वलिदान न किया जाए, न कोई समाज[4] किया जाए : क्योकि देवताओ का प्रिय राजा प्रियदर्शी

समाज को बुरा समझता है। पर कुछ समाज ऐसे हैं जिन्हे देवताओं का प्रिय राजा प्रियदर्शी अच्छा समझता है।

पहले देवताओं के प्रिय राजा प्रियदर्शी के ही रसोई-घर के लिए प्रतिदिन हजारो जीव मारे जाते थे[५], पर अब जब यह धम्म-लिपि लिखवाई गयी, रसोई के लिये सिर्फ तीन जीव मारे जाते थे[६], अर्थात् दो मोर और एक हरिण, पर वह हरिण भी प्रतिदिन नही मारा जाता था। ये तीन जीव भी भविष्य मे नही मारे जायेगे।

टिप्पणियाँ

१. धम्मलिपि शब्द का, जो अशोक के इस तथा अन्य बहुत से लेखो में आता है, अनुवाद कर्न ने 'धार्मिकता-प्रज्ञापन', सेनार्ट ने सिर्फ 'प्रज्ञापन' और बूलर ने 'धार्मिक प्रज्ञापन' किया है। यथार्थत लिपि का अर्थ लेख या अभिलेख है ('आज्ञप्ति' या 'प्रज्ञापन' नही), और सारनाथ वाले स्तम्भ लेख में इसका सिर्फ यह अर्थ हे और धम्म का अर्थ भी यहाँ सिर्फ 'धार्मिकता' नही हे, बल्कि 'दान और धार्मिकता की वृद्धि करने वाले कार्य' भी है। इस शब्द का अनुवाद न करना अधिक अच्छा है। ऊपर पृ० २२६—३०।

२. पाणिनि के ६.३ २१ पर, जो षष्ठी अलुक्-समास के बारे में है, कात्यायन का यह वार्त्तिक है देवानाम्प्रिय इति च। इससे स्पष्ट हे कि वार्त्तिककार के काल मे देवानाम्प्रिय शब्दो का प्रयोग होता था और यह एक पद माना जाता था। पाणिनि के ५ ३ १४ के वार्त्तिक भवदादियोग पर भाष्य करते हुए पतञ्जलि ने देवानाम्प्रिय को भवदादिगण में गिना है। इससे ध्वनित होता है कि इस गण के भवत्, दीर्घायु और आयुष्मत् शब्दो की तरह देवानाम्प्रिय शब्द भी सम्बोधन की शुभावह रीति के रूप में प्रयुक्त किया जाता था (JBBRAS, XXI, ३६३) पर यह ध्यान देने योग्य वात है कि इतने प्राचीन काल मे भी यह व्यग के रूप में प्रयुक्त होता था, जैसा कि कात्यायन

के उपरिनिर्दिष्ट वार्तिक से स्पष्ट है। पर बाद के काल में यह सदा अप्रतिष्ठा-कारक भाव का ही सूचक हो गया। (JRAS, १९०८, पृ० ५०४—५).

यद्यपि शिला प्रज्ञापन ८ की कुछ प्रतियों में जिसे देवनाम्प्रिय कहा गया है, उसे ही और प्रतियों में राजानो कहा गया है, पर इन दोनों को एकार्थक मानना सही नहीं, जैसा कि वी० ए० स्मिथ ने मान लिया प्रतीत होता है (JRAS, १९०१, ४८६ और ५७७)। क्योंकि वैसा मानने पर प्रियदर्शिन् और देवानाम्प्रिय के साथ जुड़ा हुआ राजा शब्द व्यर्थ हो जाएगा। फिर उसने देवानाम्प्रिय का जो 'हिज सेक्रेड मैजेस्टी' अनुवाद किया है, वह भी नहीं जँचता क्योंकि 'हिज सेक्रेड मैजेस्टी' पदावलि का प्रयोग किसी धार्मिक संस्थान के अध्यक्ष, यथा यूरोप के पोप, या भारत के शंकराचार्यों के लिए तो उपयुक्त हो सकता है, पर साधारण तौर से एक लौकिक (सिक्युलर) राजा के लिए इसका प्रयोग उपयुक्त नहीं हो सकता।

३. कुछ लोगों ने 'इह' शब्द का अर्थ 'यहाँ' अर्थात् इस लोक में, और कुछ ने 'यहाँ, अर्थात् पाटलिपुत्र में' किया है। पर इसका अर्थ उसका 'प्रासाद और राजकीय संस्थान' होना चाहिए क्योंकि इस प्रज्ञापन में उल्लिखित और सब बातें अशोक से व्यक्तिगत रूप से या उसके राजपरिवार से सम्बन्धित हैं इसलिए यह माना जा सकता है कि उसने अपने सारे साम्राज्य में जीव-बलि का निषेध न किया होगा, बल्कि सिर्फ अपने और अपने परिवार के प्रसंग में किया होगा।

४. समाज शब्द का वास्तविक भाव विद्वानों को पहली बार तब पता चला जब यह पहली बार JBBRAS , XXI, ३२५ आदि, में बताया गया। इसी विषय पर मेरी एक और विस्तृत टिप्पणी IA १९१३, २५५ आदि, में है। समाज के यथार्थ स्वरूप के बारे में हमारी कुछ ज्ञान-वृद्धि हाल में एफ० डब्लु० टामस ने JRAS, १९१४, ३९२-४, और ७५२ में की है। एन० जी० मजूमदार, IA, १९१८, पृष्ठ २२१—३, भी देखिए। इस शब्द का अर्थ सेनार्ट ने 'आनंदोत्सव सभा' (IA, IX. २८६), पिशेल ने 'हांके द्वारा शिकार' (गौट० जेल, अज०, १८८१, पृ० १३२४), और बूलर ने 'उत्सव सभा'

(EI, II. ४६६) किया है। पर इनमे से कोई भी विद्वान् अपने अर्थ को किसी साहित्यिक साक्ष्य से प्रमाणित न कर सका था और न यह बता सका था कि क्यो अशोक ने अपने जीव-हत्या-निषेधक एक लेख में कुछ समाजो को निन्द-नीय और कुछ को प्रशसनीय ठहराया है। यह बात ऊपर पृ० १९—२० और १२० पर स्पष्ट की जा चुकी है।

५. प्रश्न यह पैदा होता है कि यह लेख उत्कीर्ण होने से पहले अशोक के रसोईघर में प्रतिदिन हजारो जीवो का वध क्यो होता था। इस प्रसग में देखिए IA, १९१३, पृ० २५५ आदि, और ऊपर भी, पृ० २०—१।

६ यहाँ साधारण भूतकाल का रूप आरभिसु (=आरंभिसु) और पूर्ण-भूत का रूप आरभरे (=आरभिरे) बिना किसी अर्थभेद के प्रयुक्त किये गये हैं। यह पूर्णभूत का रूप मनोरजक है क्योकि यह साहित्यिक पालि में नहीं मिलता। पर प्रतीत होता है कि यह लोक-भाषा से लुप्त नहीं हो गया था। शिला प्रज्ञापन ८ (गिरनार प्रति) में पूर्ण रूप अयाय भी ध्यान देने योग्य है।

(२)

अनुवाद

देवताओ के प्रिय राजा प्रियदर्शी के राज्य मे सब स्थानो पर, तथा उसके सीमान्तवर्त्ती राजाओ, यथा चोड[१], पाड्य, सातियपुत्र, केरलपुत्र और ताम्रपर्णी, योन (ग्रीक) राजा अन्तियोक (एटि-योकस) और अतियोक के पडोसियो,[२] के राज्यो मे भी सब स्थानों पर देवताओ के प्रिय राजा प्रियदर्शी ने दो प्रकार की चिकित्सा[३] अर्थात् मनुष्यो के लिए उपयोगी और पशुओ के लिए उपयोगी चिकित्सा—का प्रबन्ध किया है। मनुष्यो और पशुओ के लिए उपयोगी औषधियाँ जहाँ-जहाँ नही हैं, वहा-वहाँ वे लाकर लगवाई गयी। जहाँ-जहाँ फल और मूल नही होते थे, वहाँ पर वे भी लाकर लगवाये गये। मार्गो मे मनुष्यो और पशुओ के सुख के लिए कुएँ खुदवाये गये और वृक्षादि लगवाये गये।

टिप्पणियाँ

१. ऊपर पृ० ३४। पाडिय (पाड्य) के लिए CL, १९१८, पृ० १०-१, भी देखिए।

सातियपुत्र के बारे में, आर० जी० भडारकर ने इस तथ्य की ओर ध्यान खींचा है कि दक्षिण के पठार के पश्चिमी भाग के साथ-साथ कुछ मराठे, कायस्थ और ब्राह्मण परिवार है जिनका अल्ल सातपुते है जो इस लेख में आये सातियपुत्र शब्द से व्युत्पन्न प्रतीत होता है। इसलिए सातियपुत्र का स्वतंत्र राज्य पश्चिमी घाटो के साथ-साथ और नीचे कोकण तट तक रहा होगा (इड रिव्यू, १९०९, पृ० ४०१ आदि)। पर बूलर सातिय शब्द से सातवतो का ग्रहण करता है जिनका उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण ८.१४ में है और जो पाणिनि के ५ ३ ११७ मे निर्दिष्ट परश्वादिगण के अन्तर्गत है (वेइट्रागे जुर एर्कलारुग डेर अशोक-इस्क्रिफ्टेन, पृ० १३ आदि)। वी० ए० स्मिथ मानता हे कि सत्यपुत्र या तो तुलुव देश है और या सत्यमगलम् के आस-पास का प्रदेश हे (EHI, १९३, १८५ टि०, ४५९; अशोक, पृ० १६१)। श्री एस० वी० वेंकटेश्वर इसे 'उस देश या जाति का नाम' मानते हे जिसकी राजधानी काचीपुरम् थी' (JRAS, १९१८, पृ० ५४१—२, I. A., १९१९, पृ० २४) एस० कृष्णस्वामी अय्यगार के अनुसार, सातियपुत्र शब्द कोचीन के उस प्रदेश का निदेश करता है जिसमें मातृक (मेट्रियार्कट) या अलिय-सतानम कानून प्रचलित हे (बिगनिंग्स आफ साउथ इडियन हिस्ट्री, पृ० ७३, JRAS, १९१९, पृ० ५८१ आदि)। एक ओर विचार के लिए, देखिए ऊपर पृ० ३७—३९।

तांबपनी का अर्थ बहुत समय तक श्रीलका माना जाता रहा। पर हाल में ई० हुल्ट्श (स्मिथ, IA, १९१८, पृ० ४८ आदि) ने इसे ताम्रपर्णी नदी का वाचक मानने का प्रस्ताव किया है, जो प्राचीन पाड्य राज्य और आधुनिक तिन्नेवेलि जिले मे से बहती है। पर यदि तांबपनी इस प्रज्ञापन में नदी का वाचक होता तो इसका उल्लेख केरलपुत्र के बाद न होकर पाड्य के बाद होता

क्योकि यह नदी भारत की तथा इस राज्य की सीमा बनाती थी। इसी प्रकार शिला प्रज्ञापन १३ में अशोक का पाड्यो से अलग 'ताम्रपर्णी के लोगो' का निर्देश करना उपयुक्त नही, क्योकि पाड्यो में ताम्रपर्णी के लोग तो शामिल थे ही। इसलिए पहले वाली स्थापना ही मान्य है।

२ बूलर सामन्त का अर्थ 'अधीन राजा' करता है। गिरनार वाली के अलावा और सब प्रतियो में यही पाठ है, पर इसमें सामीपम् है। इससे ध्वनित होता है कि यहाँ सामत का अर्थ 'पडोसी या सीमावर्ती' होना चाहिए—और चाइल्डर की पालि डिक्शनरी में इस शब्द का ठीक यही अर्थ दिया है।

३ सेनार्ट चिकिच्छा का अर्थ 'औषधियाँ' करता है और बूलर 'आतुरालय (हास्पिटल)' करता है। इसका अर्थ 'इलाज' अधिक उपयुक्त है। इस सदर्भ को अच्छी तरह समझने के लिए देखो ऊपर, पृ० १५९—६१।

(३)

अनुवाद

देवताओ का प्रिय राजा प्रियदर्शी ऐसा कहता है—अपने अभिषेक के बारहवे वर्ष मैंने यह आज्ञा जारी की–मेरे राज्य मे सब जगह युक्त[1], रज्जुक[2] और प्रादेशिक[3] प्रति पाँचवे वर्ष अन्य कार्यो के साथ-साथ यह (धर्मानुशासन) बताने के लिए भी दौरा करें[4] "माता-पिता की सेवा करना अच्छा है, मित्रो, परिचितो और सम्बन्धियो, ब्राह्मणो और श्रमणो[5] के प्रति उदार होना अच्छा है, जीवो का न मारना अच्छा है, थोडा ही व्यय और थोडा ही सचय करना[6] अच्छा है।" (मत्रि) परिषद् युक्तो को इस (व्यय और सचय) का, शब्दो और भावनाओ, दोनो के अनुसार, हिसाब रखने के बारे मे आज्ञा दे।[7]

टिप्पणियाँ

१ सेनार्ट ने युक्त को राजुक और प्रादेशिक से पृथक् कर लिया है और इसका अर्थ 'श्रद्धालु' किया है। पर बूलर इसे राजुक का विशेषण मानता है और इसका अर्थ 'निष्ठावान्' करता है। जैसा कि पहले सेनार्ट ने सकेत किया था, IA, १८९१, २४६, टि० ५०) गिरनार वाली प्रति में तीन वार 'च' शब्द होने से बूलर का युक्त शब्द का अनुवाद अनुपयुक्त हो जाता है। यह शब्द स्पष्ट रूप से कर्तृकारक माना जाना चाहिए, और राजुको और प्रादेशिको की तरह, युक्त भी अफसर थे। युत (युक्त) के ठीक भाव के लिए देखिए ऊपर, पृ० ४७-४८। जात, जिल्द ५, पृ० ११७, V. २०)

२. राजुको के लिए, देखिए ऊपर, पृ० ४९-५०। पर जायसवाल राजुक शब्द को राजन् से व्युत्पन्न मानता है और इसका अर्थ "शासक या शासक-मन्त्री, सारे साम्राज्य मे वास्तविक प्रशासन-शक्ति से युक्त परिसा की समिति" करता है (JBORS, १९१८, पृ० ४२)।

३ कर्न के अनुसार, प्रादेशिक एक स्थानीय गवर्नर था, और सेनार्ट इससे सहमत प्रतीत होता है। बूलर इस शब्द का अर्थ "अधीन राजा" करता है और उन्हे आजकल के ठाकुरो, रावो और रावलो आदि का पूर्वज मानता है। क्योकि प्रादेशिक युक्तो और रज्जुको के साथ रखे गये है, इसलिए वे अशोक के अफसर ही रहे होगे, उसके अधीन राजा नही। यह बात इस तथ्य से भी मेल खाती है कि उन्हे भी अन्य अफसरो की तरह दौरे पर जाना पड़ता था, और दौरो में अपने अन्य राज-कार्य के अलावा, धर्म-प्रचार भी करना पड़ता था। इसलिए इसकी जो व्याख्या एफ० डब्लू० टामस ने की है वही इस समय सर्वोत्तम मानी जाती है (JRAS १९१४, पृ० ३८३-६; १९१५, पृ० ११२)। ऊपर भी देखिए, पृ० ४८-४९।

४. कर्न, और उसी के अनुसार बूलर, अनुसयानम् का अर्थ 'निरीक्षण के दौरे पर' करता है। यह सही प्रतीत होता है, और बूलर ने इसके समर्थन में सेंट पीटर्सबर्ग डिक्शनरी की सहायता से ब्राह्मण साहित्य में से प्रमाण उद्धृत

किया है। इस अर्थ के पक्ष में पालि ग्रन्थो के प्रमाणो की भी कमी नहीं। उदाहरण के लिए देखिए, मज्झिम-निकाय, जिल्द ३, पृ० ८, पक्ति १९; पृ० १७४, पक्ति ५ और १७। पर सेनार्ट इसका अर्थ 'सभा' करता है। पर यह अर्थ प्रथम तो इस कारण असभाव्य प्रतीत होता है कि इस अर्थ के पक्ष में कोई प्रमाण नही। दूसरे जो निष्क्रम क्रिया अधिकतर प्रतियो में है, उसका कर्म कोई भौतिक वस्तु होनी चाहिए। इस प्रकार हम 'अनुसयान नियतु' तो कह सकते हैं पर 'अनुसयान निखमतु' नहीं कह सकते। हम 'सभा निष्क्रान्त' प्रयोग अवश्य करते है, पर इसी अर्थ में करते है कि 'वह सभा-भवन चला गया', इस अर्थ में नही करते कि 'वह सभा में गया या शामिल हुआ।' तीसरे, अनुसयानम् शब्द पृथक् जौगड़ा प्रज्ञापन मे आता है पर उसकी धौलि वाली प्रति मे नहीं आता। यदि इसका अर्थ सभा है, जैसा कि श्री सेनार्ट मानते हैं, तो इतना महत्त्वपूर्ण शब्द किसी भी प्रति मे छूट क्यो गया, पर अगर इसका अर्थ सिर्फ 'दौरा या निरीक्षण दौरा' है तो वही भाव निष्क्रम् क्रिया के प्रेरणार्थक रूप से निकल आता है और अनुसयानम् शब्द का प्रयोग परमावश्यक नहीं रहता। यही शब्द बसढ में मिली एक मुहर पर भी पढा गया है, जिसके लेख को मैंने 'वेसालि अनुसयान कटकारे' [वेसालि (अफसरो) के दौरा कैंप से] ASI AR, १९१३-१४, पृष्ठ १११ आदि और प्लेट एल) पढा है। जायसवाल अनुसयान का अर्थ "पद से हटना या सरकारी तबादले पर जाना" करता है और शुक्रनीति का एक प्रमाण पेश करता है, पर वह इस अर्थ के पक्ष मे नही है, बल्कि अफसरो का तबादला करने की वाञ्छनीयता के पक्ष में है (JBORS १९०८, पृ० ३६-४०)।

५. यह एक द्वन्द समास है जिसका अर्थ है ब्राह्मण और श्रमण सम्प्रदायों के सन्यासी और साधु। देखो ऊपर, पृ० १४६-४७।

६. 'अपव्ययता अपभाडता साधु' का सेनार्ट ने यह अनुवाद किया है "व्यर्थ व्यय और वाणी की उग्रता से बचना अच्छा है।" बूलर अपव्ययता को छोड़ देता है। उसके अनुसार, 'अपभाडता साधु' का अर्थ है "नास्तिक आदमियों की भर्त्सना से दूर रहना अच्छा है।" ये दोनो विद्वान् इन दो शब्दो के पहले

भाग 'अप' को 'अप' उपसर्ग का 'अभावार्थक' प्रयोग समझते हैं। मैं टामस के इस विचार से सहमत हूं कि (उस द्वारा बताये हुए कारणों से) यह 'अल्प' का तुल्यार्थक है (IA १६०८, पृ० २०)। यदि भाड शब्द को हम भड भर्त्सनायाम् से व्युत्पादित करें तो निःसंदेह उसका अर्थ भर्त्सना या वाणी की उग्रता होगा जैसा बूलर और सेनार्ट ने लगाया है, पर क्योंकि अपभांडता अपव्ययता के निकट रखा है, अतः भाड शब्द का इस तरह अर्थ करना चाहिए कि जैसे बहु-व्ययता एक पराकाष्ठा है वैसे ही बहुभाडता दूसरी पराकाष्ठा हो। यह तभी हो सकता है जब भाड का अर्थ 'वस्तुएं, संपत्ति' किया जाए। इस प्रकार अपभांडता का अर्थ 'अल्प संचय', जैसे अपव्ययता का अर्थ है 'अल्प व्यय।'

७. यह अशोक के लेखों के सबसे जटिल संदर्भों में से है। सेनार्ट का निर्वचन : "सिद्धान्तों और परिभाषाओं की अधिक विस्तृत शिक्षा निष्ठावानों को देना संघ का कार्य है।" थोड़ा रूपान्तर करके इस प्रकार कह सकते हैं —"विस्तार से (नैतिकता और इसके विविध नियमों का) आधार और स्वरूप समझाना (अर्थात् सूत्रों के अनुसार और निर्धारित क्रम से समझाना) संघ का कार्य है।" बूलर के अनुसार इस संदर्भ का अर्थ यह है: "तथाच, सब सम्प्रदायों के शिक्षक और साधु, भगवान की उपासना में, शब्दों और भावों के अनुसार जो उचित है, उसकी शिक्षा देंगे।" अब हमें इस संदर्भ का ठीक भाव समझने का यत्न करना चाहिए। पहले तो, यहां युत शब्द का क्या अर्थ है ? स्पष्ट है कि यहां भी इसका वही अर्थ होना चाहिए जो इस लेख में अन्यत्र है। हम देख चुके हैं कि क्योंकि युतों का उल्लेख रज्जुकों और प्रादेशिकों के साथ है जो अफसर थे, इसलिए वे भी एक प्रकार के अफसर ही थे; और हम यह भी देख चुके हैं कि वे किस प्रकार के अफसर थे। इससे 'निष्ठावान्' और 'जो उचित है' अर्थ, जो सेनार्ट और बूलर ने इस शब्द के किये हैं, खंडित हो गये। दूसरे, परिसा शब्द का, जिसे सेनार्ट ने संघ या भिक्षुमंडल का वाचक, और बूलर ने 'सम्प्रदायों के शिक्षक और साधु' का वाचक माना है, क्या अर्थ है ? यह ध्यान देने योग्य बात है कि परिसा शब्द शिला प्रज्ञापन ६ में भी आया है,

और हम आगे चलकर देखेंगे कि वहाँ इसका अर्थ 'मत्रि-परिषद् है जैसा कि जायसवाल ने निश्चित रूप से सिद्ध कर दिया है। यह अर्थ यहाँ बिलकुल ठीक बैठता है क्योकि मत्रि-परिषद् का ही युक्तो को आदेश जारी करना उचित हो सकता है। अब 'गणना' शब्द रह गया जिसका अर्थ है 'हिसाब करना, गिनना'। हम देख चुके है कि अशोक अपने अफसरो से अल्पव्ययता और अल्पभाडता के गुणो का उपदेश करने के लिए कहता है। पर यह निर्धारण कैसे हो कि उसकी प्रजा ये उत्तम गुण सीख रही है? इसलिए यह आवश्यक था कि उसके कुछ अफसर घर-घर जाकर निरीक्षण करें और यह हिसाब लगाएँ कि प्रत्येक गृहस्थी ने कितना व्यय किया और कितनी वस्तुओ का व्यय या सचय किया। पर सब गृहस्थियो के लिए एक अपरिवर्तनीय नियम बनाना असभव था। इसलिए कठिनाई पड़ने पर उन्हे मत्रणा देने के लिए परिषद् को आदेश दिया गया था (ऊपर पृ० ५२-५३)।

(४)

अनुवाद

बहुत काल बीत गया, सैकडो वर्षो से प्राणियो का वध, जीवों की हिंसा, सबधियो, ब्राह्मणो तथा श्रमणो का अनादर बढता ही गया। परन्तु अब देवताओ के प्रिय प्रियदर्शी राजा के धम्माचरण के भेरीनाद द्वारा धम्म की घोषणा होती है, और पहले लोगो को विमानो, हाथियो, अग्नि-स्कधो और अन्य दिव्य रूपो के दर्शन[1] कराये जाते हैं। जैसा सैकडो वर्षो के अन्दर पहले कभी नही हुआ— आजकल देवताओ के प्रिय राजा प्रियदर्शी के धर्मानुशासन से प्राणियो की अहिसा, जीवो की रक्षा, सम्बन्धियो, ब्राह्मणो तथा श्रमणो का आदर, माता-पिता और वृद्धजनो की सेवा, ये तथा अन्य धर्माचरण कितने ही प्रकार से बढे हैं। देवताओ का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस धर्माचरण को और भी बढायेगा। और उसके पुत्र, पोत्र

तथा प्रपौत्र भी इस धर्माचरण को कल्पान्त[2] तक बढ़ायेंगे, और धर्म तथा शील का आचरण करते हुए धर्म के अनुशासन का प्रचार करेंगे, क्योंकि धर्मानुशासन ही श्रेष्ठ काम है और बिना शील वालों के लिए धर्माचरण बहुत ही कठिन है। इस धर्मानुशासन की घटती न होना, वरन् सदा बढ़ती ही होना श्रेष्ठ है। इसी प्रयोजन से यह (धम्मलिपि) लिखवायी गयी है कि लोग इस उद्देश्य की वृद्धि में लगें और उसकी घटती न होने दें। अपने अभिषेक के बारहवें वर्ष देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने यह प्रज्ञापन लिखवाया।

टिप्पणियाँ

१. इस संदर्भ के अनेक निर्वचन किये गये हैं, पर उन सब निर्वचनों को इस आधार पर दो भागों में बाँटा जा सकता है कि वे इन्हें स्थलीय पदार्थों का वाचक मानते हैं या आकाशीय पदार्थों का। सेनार्ट और बूलर ने पहले प्रकार का निर्वचन पसन्द किया है, और कर्न ने तथा कुछ समय तक हुल्ट्श ने, दूसरा ठीक माना है (JRAS १९११, ७८५ आदि)। मैं स्वीकार करता हूँ कि मुझे, अधिक स्वाभाविक होने के कारण, पहला निर्वचन मान्य प्रतीत होता है। पर इस संदर्भ का मैं जो वास्तविक अर्थ लगाता हूँ, वह सेनार्ट और बूलर के अर्थ से भिन्न है, और IA, १९१२, २५ आदि, में प्रस्तुत किया गया है, और अत्यधिक हर्ष की बात है कि हुल्ट्श ने मेरा विचार स्वीकार कर लिया है (वही, १९१३, ६५१, आदि।)

जो विविध अनुवाद प्रस्थापित किये गये हैं, वे निम्नलिखित हैं : कर्न :— "पर अब, जब राजा देवानांप्रिय प्रियदर्शी धर्माचरण करता है, उसकी भेरी धार्मिकता का आह्वान बन गयी है और देवों के रथों की प्रतीतियाँ, और आकाश में स्वर्गीय हाथियों की और अग्नि-कंदुकों की और अन्य चिह्नों की प्रतीतियाँ, जनता को दिखायी देती हैं" (IA. V. २६१)।

सेनार्ट :—"पर अब देवताओं के प्रिय राजा पियदसी ने, धर्माचरण में निष्ठा रखते हुए, भेरीनाद (ऐसी रीति से, कराया है कि (यह) धर्म

(ही) का नाद बन गया है, और लोगो को अवशेष-पात्रो, हाथियो, मशालो और अन्य स्वर्गीय दृश्यो के जलूसो की सूचना देता है। (वही X ८४),

बूलर —"पर अब, देवताओ के प्रिय राजा प्रियदर्शी द्वारा धार्मिक आचरण का परिपालन किये जाने के परिणामस्वरूप, भेरीनाद, या धर्म का नाद सुनायी पडा है, और जनता को देवो के रथो, हाथियो और अन्य स्वर्गीय दृश्यो के नजारे दिखाये गये।" (EI, II ४६७)

इस सदर्भ पर मेरा निर्वचन प्रकाशित होने के बाद हाल में ही एस० कृष्णस्वामी अय्यगार ने समीक्षा की है (JRAS, १९१५, पृ० ५२१, IA, १९१५, पृ० २०३)। उनका अनुवाद निम्नलिखित है--"पर देवानाप्रिय प्रियदर्शी द्वारा धर्म (नैतिक नियम) अपना लिये जाने के परिणामस्वरूप भेरीनाद धर्मनाद बन गया है। जनता के लिए प्रस्तुत दृश्य, जलूसो के रथ, हाथी, अग्नि-क्रीड़ा तथा अन्य, देवो के दृश्य।" मुझे भय है कि यह अनुवाद स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योकि अग्गानि शब्द स्पष्ट बताता है कि अशोक अपनी प्रजा को जो विमान, हस्ती और अग्नि-स्कध दिखाता है वे 'दिव्यानि रूपाणि' थे। इसलिए वे जलूसो के रथ, हाथी और अग्नि-क्रीड़ा नहीं हो सकते, जो लौकिक पदार्थ है। एफ० डब्लू० टामस ने भी अग्गि खध का अर्थ अग्नि-क्रीडा किया है (JRAS १९१८, ३९५) पर यह नही बताया कि अग्नि-क्रीड़ा से प्रजा में धार्मिकता कैसे उत्पन्न और परिवर्धित हो सकती है।

इस सदर्भ के विशदीकरण के लिए, ऊपर देखिए, पृ० १०८-१११ और १२०-२२। मेरी उपरिनिर्दिष्ट (IA, १९१३, पृ० २५ और ११) टिप्पणी में सिर्फ विमान शब्द की सतोषजनक व्याख्या है। इसके लिए विमानवत्थु नामक एक पाली पुस्तक की ओर ध्यान खीचा गया था। वही पुस्तक हत्थी, और अग्गि या ज्योतिखध शब्दो की भी व्याख्या करती है। इस पुस्तक से पता चलता है कि जो लोग धार्मिक जीवन बिताते है, उनमे से कुछ परलोक में न केवल विमान या दिव्य महल, बल्कि हस्ती या श्वेत दिव्य हाथी भी प्राप्त होते

है (पृ० ४, पक्ति १; पृ० ५६, पक्ति १६ और ३५) तथा अग्नि या जोतिखध, अर्थात् विद्युत् के समान प्रदीप्त रूप, नक्षत्र (पृ० ७, प० २८) या अग्नि (पृ० १२, प० ३३) भी मिलते है। अञ्ञानि च दिव्यानि रूपाणि के अन्तर्गत स्वर्गीय अश्व, पोत, और विमानवत्थु पुस्तक में वर्णित ऐसे ही अन्य यान भी है (पृ० १२, प० २८, पृ० ४ प० २६)।

२ सवट-कप (=सवर्त्त-कल्प) के लिए, देखिए JRAS, १६११, पृ० ४८५, टि० १)

(५)

अनुवाद

देवताओ का प्रिय राजा प्रियदर्शी यह कहता है : भलाई का काम करना कठिन है, जो प्रथम बार कोई ऐसा काम करता है, वह एक कठिन काम पूरा करता है। मैंने बहुत से भलाई के काम किये हैं। यदि मेरे पुत्र, पौत्र तथा उनकी भी सन्तानें कल्पांत तक ऐसा करेगी तो यह एक महान् पुण्य होगा परन्तु जो (अपने धर्म का) थोडा भी त्याग करेगे वे पाप के भागी होगे। पाप करना सरल है।[१]

प्राचीन समय से धर्म-महामात्र[२] कभी नियुक्त नही हुए थे। मैंने अपने अभिषेक के तेरहवे वर्ष धर्म-महामात्र नियुक्त किये हैं। वे सब धार्मिक सम्प्रदायो में, धर्म की रक्षा और अभिवृद्धि के लिए तथा धार्मिक लोगो[३] के हित और सुख के लिये नियुक्त किए गए हैं। वे यवनो, कबोजो, गधारो[४] तथा पैतृक राष्ट्रिको और पश्चिमी तट के अन्य लोगो के देश मे, ब्राह्मणों और गृहपतियो के, जो भृत्य[५] बन गए हैं, और असहायो तथा वृद्धों के हित और सुख मे रत हैं, तथा धर्मपरायण लोगो की बाधाएँ[६] हटाने मे (भी रत हैं)। (धन का) अनुदान करते हैं, तथा जो

व्यक्ति कैद है उसकी, सन्तानो के बोझ, अत्याचार का शिकार या वृद्ध[७] होने के अनुसार, बाधाएँ[८] हटवाते या रिहाई करवाते हैं। ये लोग यहाँ पाटलिपुत्र मे तथा बाहर के सब नगरो मे, मेरे तथा मेरे भाइयो, बहनो और अन्य सम्बन्धियो के महलो मे सर्वत्र नियुक्त हैं। ये धर्म-महामात्र मेरे सारे राज्य मे धर्मयुक्त लोगो को, तथा जो धर्म मे अधिष्ठित है, धर्म का आश्रय लेना चाहते हैं, या दान करना चाहते हैं, उनको सहायता देने के लिए नियुक्त हैं। इसलिए यह धर्मलिपि लिखवायी गयी है कि यह चिरस्थायी रहे और कि मेरी सतति (मेरा) अनुसरण करे।

टिप्पणियाँ

१. इस लेख के प्रारम्भिक भाग को उस जगह से अलग कर लिया जाता है, जिस जगह धर्म-महामात्रो की नियुक्ति का उल्लेख है, मानो ये दो भाग असबद्ध हो। ऐसा करना अहेतुक है। अशोक के प्रत्येक लेख में कोई एक विचार सारे मे व्याप्त है जो इसके विभिन्न भागो को जोडे हुए है। इसलिए आरम्भिक भाग का अनुवाद इस तरह करना चाहिए जिससे यह प्रकट हो कि यह बाद वाले भाग से सबद्ध है। तदनुसार, कलान, या कल्यान का अर्थ 'अच्छा कार्य' नही है, वलिक ऐहिक और पारलौकिक 'मगल' है। अशोक कहता है कि मैने इस तरह का बहुत मगल किया है, और अपने पुत्रों, पौत्रो तथा वशजो को अपने पदचिह्नो का अनुसरण करने के लिए उद्बोधित करता है। वह उनसे आग्रह करता है कि वे इस कर्त्तव्य को आशिक रूप से न करके पूरे तौर से करे क्योकि पाप, अर्थात् ऐहिक और पारलौकिक दुष्कार्य मनुष्यो की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। इसलिए मनुष्य को और विशेषकर राजा को, सदा सतर्क रहना चाहिए और प्रजा के प्रति अपने किसी कर्त्तव्य की उपेक्षा न करते हुए अपने पूर्ण कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए। मानसेहरा, धौलि, और कालसी वाली प्रतियो में पापे हि नाम सुपदालये वाक्य है, जिसका मेरी सम्मति में यह अर्थ है—"पाप का अच्छी तरह उच्छेद अपेक्षित है।" इसके बाद अशोक हमें बताता

है कि अपनी प्रजा को कल्याण, अर्थात् ऐहिक और पारलौकिक मंगल, प्राप्त कराने की योजना में धर्म-महामात्रो की नियुक्ति भी एक सहायक है, जो प्रजा को यह दोनो प्रकार का मगल प्राप्त कराने के लिए नियुक्त किये गये थे। कल्याण और पाप के इस वैषम्य के लिए देखो स्तम्भ प्रज्ञापन ३।

२. बूलर ने धर्म-महामात्र शब्द का अर्थ "धार्मिक कानून का अधिष्ठाता" (EI., II. १६७) और स्मिथ ने "धार्मिक कानून का विनियामक" (अशोक, पृ० १६८) किया है। इसका अनुवाद न करना ही अधिक अच्छा है क्योंकि कोई भी अनुवाद भ्रामक होगा। अशोक के समय से पहले अनेक महामात्र हुए थे, पर वह पहला राजा था जिसने धर्म-महामात्र, अर्थात् धर्म की अभिवृद्धि के लिए महामात्र नियुक्त किये।

३. विभिन्न लेखो में 'च' शब्द का विवेकहीन प्रयोग होने के कारण, विशेषकर गिरनार वाली प्रति में धम्मयुतस के बाद इसका प्रयोग होने के कारण, इस वाक्य का गठन शिथिल हो गया है। तो भी मेरा विचार है कि यहाँ पर यह आशय है कि धर्म-महामात्र अशोक के राज्य में सब पासंडों और धर्मयुक्तों की देखभाल के लिए थे। पासड के लिए, देखिए ऊपर, पृ० १४६-५०। इस लेख में धम्मयुत शब्द तीन बार आता है, और बूलर ने इसका हर बार अलग अर्थ किया है। सेनार्ट ने जो आलोचना की है उसका उत्तर देना असभव प्रतीत होता है। (IA, १८६१, पृ० २३६, टि० ३०) और वह इसका अनुवाद "(सत्य) धर्म में निष्ठावान" सुझाता है। पर इसका "धर्मपूर्ण, पवित्र व्यक्ति" अनुवाद अधिक अच्छा मालूम होता है। टामस इसका अर्थ "धर्म विभाग के अधिकारी" करता है (JRAS, १६१५, पृष्ठ १०२-३) और स्मिथ "धर्मविधि के अधीन-अधिकारी" (अशोक, पृ० १७०) करता है। इस प्रकार वे इस शब्द को 'धर्म-युक्त' मानते है, 'धर्मयुक्त' नहीं। पर यह प्रक्रिया आपत्ति-योग्य है। पहले तो, अशोक ने धर्म-युक्तो की नियुक्ति का कहीं उल्लेख नहीं किया—यदि उसने उनकी नियुक्ति की होती तो वह उनका उल्लेख अवश्य करता, जैसे कि उसने धर्म-महामात्रों का किया है। और यह मानने के लिये कोई कारण नहीं कि इस तरह के अधिकारी अशोक के काल से पहले से ही

विद्यमान थे। दूसरे, यह बात समझ में नहीं आती कि यदि धर्म-युत राजा की प्रजा न होकर उच्च राजकर्मचारी थे तो धर्म-महामात्र धर्म-युक्तो के हित और सुख के लिए क्यो चिन्तित होते और उन्हे उपदेश तक देते। तीसरे, स्तम्भ प्रज्ञापन ७ में, रज्जुको के 'धम्म-युत जन' को उपदेश देने की चर्चा है, जहाँ यह उन्हीं लोगो का वाचक हो सकता है जो अशोक के धम्म के अनुयायी है।

धर्म-महामात्र के दो प्रकार के कार्य थे—एक तो प्रजा के भौतिक सुख के सम्बन्ध मे था और दूसरा आध्यात्मिक सुख के सम्बन्ध में। देखिए ऊपर, पृ० ५८ आदि; तथा पृ० १२६-२७ आदि।

४. बूलर की सम्मति मे, अपलता के बाद विराम चिह्न है, और वह योन-कम्बोज-गधालानां को इसके पूर्ववर्त्ती पद के साथ जोड़ता है। पर मैं सेनार्ट के इस विचार से सहमत हूँ कि पूर्ववर्त्ती और अनुवर्त्ती को साथ मिलाकर पढना चाहिए। इसके पक्ष मे IA, १८९१, पृ० २४०, टि० ३०, में योग्यतापूर्वक कारणों का प्रतिपादन किया गया है। योनो, कम्बोजो, गधारो आदि की पहचान के लिए देखिए ऊपर, पृ० २७ आदि।

५. ब्रमणिभ और इसके रूपभेद, जैसा कि बूलर ने बताया था (VOJ XII, ७६), साहित्यिक पाली के ब्राहमनिब्भ (ब्राह्मण-इभ्य) का समतुल्य है, जो महानारद कस्सप जातक मे कम से कम तीन श्लोको में आता है। इस समास के इब्भ शब्द की व्याख्या भाष्य में 'गहपति' की गयी है। यह वास्तव में जिस सामाजिक वर्ग को सूचित करता है, उसके लिए, देखो ऊपर पृष्ठ १५८-५९। 'भतमय' (G), भटमय (S.M & K.), या भटिमय (D), शब्द ने पुरालेखशास्त्रियो को बहुत परेशान किया है, और इसकी अनेक व्याख्याएँ की गयी है, 'सैनिक और योद्धा'=भट—मर्य (सेनार्ट), 'वैतनिक सेवक'= भृत—मय (बूलर), और सेवक तथा स्वामी=भट-म्-अर्येसु (फ्रैंक)। मैं सिर्फ बूलर से सहमत हो सकता हूँ। यहाँ भट का अर्थ योद्धा नहीं हो सकता। गिरनार वाली प्रति में इसका जो रूपातर 'भत' है, उसके कारण यह अर्थ असंभव है। मय भी मर्य का समतुल्य नहीं हो सकता क्योकि उस अवस्था में

इसका र् शाहबाजगढ़ी और मानसेरा वाली प्रतियों में कायम होता। इसलिए इस शब्द को संस्कृत भृत मय के समान मानना स्वाभाविक है। पर मैं इस शब्द को ब्रमणिभ का विशेषण मानता हूँ और उस सारे का अर्थ 'ब्राह्मण और गृहपति, जो भृत्य थे' करता हूँ। यहाँ ब्राह्मण और वैश्य वर्गों के सब व्यक्तियों से आशय नहीं है, बल्कि सिर्फ उनसे आशय है जो अनाथ और वृद्ध थे। इसमें संदेह करने की आवश्यकता नहीं कि कुछ ब्राह्मण और वैश्य इस गिरी हुई अवस्था में थे। राइस-डेविड्स लिखता है . "जगह-जगह ब्राह्मणों के कृषि करने का और ग्वालों और गड़रियों के रूप में नौकरी करने का उल्लेख है', (बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ ५७)। ऐसी दलित अवस्था में पड़े हुए गृहपतियों के वर्णन के लिए, देखो फिक की 'सोशल आर्गनाइजेशन', आदि, अनुवाद, पृष्ठ २५५-६।

६ पृथक् कलिंग प्रज्ञापन १ में, अशोक अपने कुछ अफसरों को चेतावनी देता है कि उसकी प्रजा के किसी व्यक्ति को 'बंधन' या 'परिक्लेश' (पृष्ठ ८४, प० १) में न पड़ना पड़े। उसी प्रज्ञापन के अन्त में, अपनी चेतावनी दोहराते हुए, वह परिबोध और परिक्लेश शब्द प्रयुक्त करता है (पृष्ठ ८६, प० ७)। इस प्रकार परिबोध और बन्धन प्रायः एक चीज हैं और उनका अर्थ कैद या बन्धन ही किया जा सकता है। टामस द्वारा JRAS, १९१५, पृष्ठ ९९-१०६ में उद्धृत किये गए संदर्भों में भी यह अर्थ बहुत ठीक बैठता है। गिरनार वाली प्रति में मिलने वाले दूसरे पाठ 'परिबोध' के बारे में, उसका यह विचार सही प्रतीत होता है कि दोनों शब्दों की यह गड़बड़ी उस समय के चलन के कारण हुई है।

७ मैंने इस संदर्भ का ऐसा कोई अनुवाद नहीं देखा जिसमें इसके अनेक भागों को एक दूसरे के साथ सम्यक्तया जोड़ दिया गया हो। इस संदर्भ में धर्म-महामात्रों से किस-किस कार्य की आशा की जाती है, इसके ज्ञान के लिए देखिए, ऊपर पृष्ठ ५८-६०।

८ इस संदर्भ के निर्वचन के बारे में मैं, कुल मिलाकर, सेनार्ट से सहमत हूँ। बूलर बन्धन-वधस में आये वध शब्द का अर्थ शारीरिक दंड करता है। पर सब लेखों में यह शब्द बध है, वध नहीं। 'वबयोरभेदः' का नियम अशोक

के अभिलेखो मे किसी भी तरह लागू नही होता। यह पद सस्कृत के 'बन्धन-बद्धस्य' का समतुल्य है और इसका अर्थ है 'बन्धन मे बँधे हुए, अर्थात् कैदी का'। पटिविधान शब्द शिला-प्रज्ञापन ८ में '(धन का) वितरण या अनुदान' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, और बहुत ठीक बैठता हे। बूलर ने अभिकर शब्द अभि+कृ धातु से बनाया है और जातक, IV १२१, श्लोक ७२, का प्रमाण दिया है जिसमें अभिकिरति शब्द का अर्थ है 'दबा लेता है'। एक और निर्वचन के लिए, देखो JBORS, १९१८, पृष्ठ १४४--६।

(६)

अनुवाद

देवताओ का प्रिय राजा प्रियदर्शी ऐसा कहता है--प्राचीन समय से ऐसा पहले कभी नही हुआ कि सब समय राजकार्य और राजकीय समाचार राजा के सामने पेश किये जाते हो। इसलिए मैंने यह (प्रबन्ध) किया है कि हर समय और हर स्थान पर, चाहे मैं भोजन कर रहा हूँ, चाहे खास महल मे, चाहे अन्तःपुर मे, चाहे पशुशाला[1] में, चाहे घोडे की पीठ पर[2], और चाहे उद्यान मे होऊँ, सब जगह राजकीय प्रतिवेदक मुझे प्रजा के कार्य की सूचना दे सकते हैं। सब जगह मैं प्रजा का कार्य करता हूँ। और यदि मैंने स्वय किसी बात के जारी या उद्घोषित करने का आदेश दिया हो, अथवा यदि कोई आपाती कार्य महामात्रो पर आ पडे, और परिषद्[3] मे उस पर मतभेद या अस्वीकृति हो जाये तो मैंने आदेश दिया है कि इसकी मुझे सब स्थानो पर हर समय सूचना दी जाए। राजकार्य मे मैं कितना ही उद्योग करूँ, पर उससे मुझे सतोप नही होता। क्योकि सब लोगो की भलाई करना ही मैंने अपना उत्तम कर्त्तव्य माना है, और यह उद्योग[4] तथा राजकार्य सचालन से ही पूरा हो सकता है। सर्वलोक-हित से बढकर और कोई अच्छा काम

नहीं है। जो कुछ पराक्रम मैं करता हूँ—उसका क्या प्रयोजन है? —जिससे मैं, प्राणिमात्र का जो ऋण मेरे ऊपर है उससे, मुक्त होऊँ और उनका इस लोक तथा परलोक में हित बढ़े। यह धर्मलेख इसलिए लिखवाया गया कि यह चिरस्थायी रहे और मेरे पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र सब लोगो की भलाई के लिए इसी प्रकार सदा उद्योग करे। पर अत्यधिक प्रयत्न के बिना यह कार्य कठिन है।

टिप्पणियाँ

१ वच का ठीक अर्थ अभी स्थिर नहीं हुआ। इसका अर्थ 'गुप्त विश्राम-स्थल' (सेनार्ट), 'शौचालय' (बूलर) और 'आड़ या टट्टी' (स्मिथ) किया गया है। स्पष्ट है कि पिछले दो ने इसे वर्चस् के समतुल्य माना है, पर इसका अर्थ तो सिर्फ 'मल' होता है। जायसवाल (IA, १६१८, पृ० ५३-५५) ने ठीक लिखा है "कि कोई भी बुद्धियुक्त राजा अपने अफसरो से यह नहीं कह सकता कि उसे शौचालय मे राजकार्य की सूचना दी जाए" और आप कहते हैं कि 'वच' शब्द व्रज के लिए है, और शब्द के इस तरह रूपान्तरित होने की व्याख्या करते हुए बताते हैं कि शिला-प्रज्ञापन १३ (शाहबाजगढ़ी) में व्रजन्ति के स्थान पर व्रचति शब्द आता है। उन्होंने यह भी बताया है कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र में व्रज शब्द तीन बार आया है और वहाँ यह "पशुओं, घोड़ो, ऊँटो आदि के रेवड़" का वाचक है। शिला-प्रज्ञापन १२ में 'वचभूमिकः' या चरागाहों के अध्यक्ष अफसरो का उल्लेख है। ऊपर देखो, पृ० ५८। पर जायसवाल इसका थोड़ा भिन्न अर्थ लगाते हैं। जायसवाल की प्रस्थापना को अब पूर्ण रूप मे मानने में एकमात्र आपत्ति यह है कि शाब्दिक रूप-भेद की कठिनाई पूरी तरह दूर नहीं होती क्योंकि इस उदाहरण मे ज के स्थान पर च सिर्फ शाहबाजगढ़ी और मानसेरा प्रज्ञापनो में मिलता है और इसलिए गिरनार तथा अन्य स्थानो के लेखों के 'वच' शब्द को 'व्रज' का स्थानीय मानना तर्कसगत नहीं। विधुशेखर भट्टाचार्य शास्त्री भी वच को व्रज के समतुल्य मानते है, पर वह व्रज का अर्थ सड़क करते

हं (IA, १९२०, पृ० ५६)। उनकी सम्मति में यह उस समय के लिए है जब राजा थोड़ी देर के लिए सडक पर घूमने गया हो।

२. बूलर विनीत को 'विनीतक' अर्थात् 'पालकी' मानता हे। जायसवाल इसे कौटिल्य के विनय के समतुल्य मानता है और इसका अर्थ सैनिक अभ्यास करता है, और अपने पक्ष के समर्थन में अर्थशास्त्र का एक सदर्भ उद्धृत करता है। जायसवाल के अर्थ के विरोधी तर्क राधागोविन्द बासक ने प्रस्तुत किये हे (IA. १९१९, पृ० १४-१५)। बासक ने यह भी बताया है कि अमरकोष (२ ८.५५) में विनीताः साधुवाहिन आता है, अर्थात् विनीत शब्द आसानी से चढ़ने योग्य या अच्छी तरह सधाये हुए घोड़ो का वाचक है। मेदिनी से इस अर्थ का समर्थन होता है, जिसमे लिखा है 'विनीत. सुवहाश्वे स्यात्'। उसी से वैनीतक शब्द बना है जिसका अमरकोष के अनुसार अर्थ 'परम्परा-वाहन' है। मेरी सम्मति में यह ऐसे किसी भी वाहन का वाचक है जिसमें अच्छी तरह सधाये हुए घोड़े जोड़े जाते हो। मज्झिम निकाय मे, जैसा कि विधुशेखर शास्त्री (IA. १९२०, पृ० ५५) ने बताया ह, कोसल के राजा पसेनदि और उसके सात रथ-विनीतो के श्रावस्ती से साकेत जाने का उल्लेख है। ये रथ-विनीत दूर-दूर पर स्थित हे और जब दूसरे घोड़े पर पहुँचते हे तब पहला वहीं छोड़ देते हे। यह रथ-विनीत क्या चीज हे ? वह इसका अर्थ करता हे 'रथ के रूप में विनीत'। शायद इसका यह अर्थ करना अधिक ठीक है कि 'रथ के लिए सधाया गया घोड़ा'। इस प्रकार विनीत का वही अर्थ हो जाता है जो कोषो में दिया है।

३. यहाँ सबसे महत्त्वपूर्ण शब्द परिसा (परिषत्) है जिसका अर्थ "बौद्ध भिक्षु सघ" (सेनार्ट) और "किसी जाति या सप्रदाय की समिति" (बूलर) किया गया है। जायसवाल का यह विचार ही सही प्रतीत होता है कि यह कौटिल्य के अर्थशास्त्र में वर्णित मन्त्रि-परिषत् (IA, १९१३, २८२ आदि) का वाचक है। यह प्रशासन सम्बन्धी प्रज्ञापन हे और इसमें इसी अर्थ की आशा करनी चाहिए। परन्तु इस शब्द के, और इस सदर्भ के, एक और अर्थ के लिए, देखो

JASB १९२०, पृ० ३३१ आदि। अगला महत्त्वपूर्ण शब्द 'निझति' है जो स्तम्भ प्रज्ञापन ७ में भी आता है। उस शब्द का धातु मूल स्तम्भ प्रज्ञापन ४ और पृथक् कलिंग प्रज्ञापन १ में भी आता है। पृथक् कलिंग प्रज्ञापन १ में इसका अर्थ निश्चित रूप से "विचार करना" है, पर स्तम्भ प्रज्ञापन ४ में 'मृदु करना, अवरुद्ध करना' है। शिला-प्रज्ञापन ६ और स्तम्भ प्रज्ञापन ७ में दूसरा अर्थ अधिक ठीक बैठता है। इसलिए यहाँ निझति को 'अस्वीकृति' का वाचक माना जा सकता है। इस संदर्भ के पूरे अर्थ के लिए, देखो ऊपर, पृ० ५२-५३ आदि।

४ बूलर ने महाभारत के शान्ति पर्व के (अध्याय ५८, श्लोक १३-१६) राजधर्म प्रकरण के श्लोक उद्धृत किये हैं जो बृहस्पति के अर्थशास्त्र के हैं, और जिनमें सब शासको को उद्योग करने का आदेश दिया गया है। कौटिल्य में (पृ० ३९) भी यही विधान है।

(७)

अनुवाद

देवताओ का प्रिय प्रियदर्शी राजा चाहता है कि सब जगह सब सम्प्रदायो के मनुष्य निवास करे क्योकि वे सब सयम और आत्मशुद्धि चाहते हैं। परन्तु भिन्न-भिन्न मनुष्य इन बातों को पूरा या थोडा पालन करते हैं क्योकि भिन्न-भिन्न मनुष्यो की इच्छा और अनुराग भिन्न-भिन्न होते हैं। मनुष्य कितना भी दान करे पर यदि उसमे संयम, आत्मशुद्धि, (कृतज्ञता और दृढभक्ति) न हो तो वह निश्चय ही नीच है।[1]

टिप्पणी

१ इस प्रज्ञापन के अन्तिम वाक्य का निर्वचन कुछ कठिन है। यह निचा या निचे शब्द के अर्थ और बल को ठीक-ठीक समझने पर निर्भर है। बूलर इसका अर्थ निम्न प्रकार करता है—"पर विनयी आदमी मे, जिसके लिए बहुत उदारता भी असंभव है, आत्म-सयम, हृदय-शुद्धि, कृतज्ञता और दृढ

अनुराग प्रशसनीय है।" यह अर्थ ठीक नही, क्योकि पहले तो, 'निचा' का अर्थ विनयी नहीं है,'नीच व्यक्ति' है। दूसरे, G का निचा शब्द 'निचाय' के लिए नही आ सकता। तीसरे, वाढ शब्द यहाँ क्रिया-विशेषण है, विशेषण नहीं, और इसका अर्थ 'प्रशसनीय' कभी नही हो सकता। एफ० डब्लू० टामस का अनुसरण करते हुए स्मिथ यह अर्थ करता है—"जिस व्यक्ति के लिए अत्यधिक उदारता असभव है, उसके लिए भी इन्द्रिय-सयम, मन शुद्धि, कृतज्ञता और दृढता सर्वथा अपरिहार्य है।" इस प्रकार टामस नैमित्तिक या आकस्मिक के मुकाबले में निचे-नित्य अर्थात् 'स्थायी', 'अनिवार्य' अर्थ करता है। यदि यहाँ निचे शब्द नित्य के समतुल्य होता तो कम से कम K D और J में नितिअ होता। इसके अतिरिक्त, यदि यह शब्द विशेषण रूप मे प्रयुक्त हुआ होता तो सब लोगो में यह 'निचा' होता जिससे इसका अपने पूर्ववर्त्ती शब्द दिढा-भतिता से मेल बैठ जाता। इस तथ्य से कि G में निचा है और अन्य प्रतियो मे निचे हे, स्पष्ट प्रकट होता है कि यह कर्तृ कारक में है—निचा बहुवचन में और निचे एकवचन मे। G मे एकवचन यस से सम्बन्धित 'निचा' से परेशान होने की आवश्यकता नही, क्योकि यह गड़बडी अशोक के लेखो में और जगह भी है। उदाहरण के लिए शिला-प्रज्ञापन ५ (G) के निम्न सदर्भ को देखिए—मम पुता च पोत्रा च पर च तेन ये मम अपच आव सवटकपा अनुवतिसरे तथा सो सुकत कासति, जिसमें बहुवचनात अनुवतिसरे और एकवचनात कासति का कर्त्ता एक ही है। अशोक का आशय यह है कि सयम और भाव-शुद्धि ऐसे श्रेष्ठ गुण है कि प्र येक व्यक्ति को इनका अपने अन्दर विकास करना चाहिए। ये गुण, तथा अन्य नियम, प्रत्येक सम्प्रदाय सिखाता है। किसी सम्प्रदाय का कोई व्यक्ति इन सब गुणो को व्यवहार में लाएगा, इसमें सदेह हे। पर उसके लिए इन दो गुणो को अपने अन्दर पैदा करना परमावश्यक है, जिनकी पूर्ति कितनी भी अधिक उदारता प्रदर्शित करने मे नही हो सकती। यह प्रज्ञापन शिला-प्रज्ञापन १२ का प्रतिरूप मालूम होती है जिसमे अशोक स्पष्ट कहता है कि मै दान और पूजा को उतना महत्त्व नही देता जितना वाणी के सयम, वचगुति, और अन्य सम्प्रदायो के सिद्धान्तो की जिज्ञासा को देता हूँ। इस प्रज्ञापन में भी अशोक दान

को उतना महत्त्व नहीं देता जितना सयम को, जो वही चीज है जो वचगुप्ति है, और भावशुद्धि को, जिसका अर्थ 'हृदय की पवित्रता' हो सकता है जिससे किसी अन्य सम्प्रदाय के प्रति दुर्भावना न रहे।

(८)

अनुवाद

(दीर्घ) काल से राजा लोग विहार-यात्राओं[1] पर जाया करते थे। इनमें वे शिकार तथा अन्य आमोद-प्रमोद करते थे। देवताओं के प्रिय राजा प्रियदर्शी ने अपने अभिषेक के दस वर्ष बाद सबोधि (बोधिवृक्ष) की यात्रा की। इस प्रकार धम्मयात्रा की प्रथा पड़ी। इन धम्मयात्राओं मे ब्राह्मण और श्रमण भिक्षुओं के दर्शन किए जाते हैं और उन्हे सोना दान किया जाता है, जनपदवासियों से मिलना, धम्म-सम्बन्धी अनुशासन और प्रश्न करना होता है। तब से[3] देवताओं के प्रिय राजा प्रियदर्शी को दूसरे क्षेत्र में इस प्रकार की यात्राओं मे बहुत आनन्द आता है।

टिप्पणियाँ

१. विहार-यात्रा का वर्णन महाभारत में आता है, ऊपर पृ० १६।

२. यहाँ सबसे दुर्बोध 'अयाय सबोधि' शब्द है। इस सदर्भ के विविध पाठो और मेरे निर्वचन के लिए, देखिए IA, १९१३, पृ० १५९ आदि।

३. तदोपया तदोपर्यात् का समतुल्य माना गया है, जिसका अर्थ है, "तब से"। तो क्या यह, कम से कम धौलि और जौगड़ा प्रतियो में तदोपरिया नहीं होना चाहिए था? आगे अन का अर्थ 'बूलर ने पिछले आनदो के बदले में' किया है।

(९)

अनुवाद

देवताओ का प्रिय राजा प्रियदर्शी ऐसा कहता है—रोगों, विवाहो[1], और पुत्रो के जन्म तथा यात्रा पर मनुष्य अनेक मगलाचार करते हैं। इन तथा ऐसे अन्य अवसरो पर लोग अनेक मगलाचार करते हैं। पर स्त्रियाँ बहुत प्रकार के (पर) क्षुद्र, निरर्थक कृत्य करती हैं। मगलदायक कार्य अवश्य करने चाहिएँ। पर ऐसे मगल-कार्य का कोई फल नही होता। पर उस मगल-कार्य का वहुत फल होता है जो धम्म-मगल[2] होता है। उसमे दासों और सेवको से शिष्ट व्यवहार और गुरुजनो का आदर श्रेष्ठ (समझा जाता है), प्राणियो के साथ आत्मसयम का व्यवहार अच्छा (समझा जाता है)। ये और ऐसे अन्य कार्य धम्म-मगल हैं। इसलिए पिता, पुत्र, भाई, स्वामी (मित्र या परिचित, यहाँ तक कि पड़ोसी को भी) कहना चाहिए—"यह श्रेष्ठ है, यह मंगल तब तक करते रहना चाहिए जब तक वह लक्ष्य पूरा हो। और इसके पूरा हो जाने के वाद मैं इसे फिर करूँगा।"[3]

(G., D. और J. पाठ)

और यह कहा गया है—"दान श्रेष्ठ कार्य है।" पर धम्म के दान या अनुग्रह के तुल्य कोई दान या अनुग्रह नही है। इसलिए मित्र, सहानुभूति रखनेवाले, सम्बन्धी या साथी को विभिन्न बातों मे (एक-दूसरे को) उपदेश करना चाहिए। "यह धर्म है, यह श्रेष्ठ है इससे स्वर्ग प्राप्त किया जा सकता है।" और इसके द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति की अपेक्षा और क्या अधिक प्राप्तव्य हो सकता है ?

(K., S और M पाठ)

क्योकि प्रत्येक सासारिक मंगल-कार्य सदिग्ध प्रकार का है। सभव है कि इससे लक्ष्य-प्राप्ति हो जाए और सभव है कि यह इस ससार में न रहे। पर यह धम्म-मगत समय से प्रतिवधित नही है। यदि यह लोक मे वह लक्ष्य न भी प्राप्त कराये तो भी यह पर-लोक मे अनन्त पुण्य प्राप्त कराता है। पर यदि यह वह लक्ष्य प्राप्त करा दे, तो दोनों यही प्राप्त हो जाते हैं, अर्थात् धम्म-मगल द्वारा इस लोक का लक्ष्य और दूसरे लोक मे अनन्त पुण्य की प्राप्ति का लक्ष्य पूरे हो जाते हैं।

टिप्पणियाँ

१. आवाह-विवाह पद के लिए देखो दीघ-नि०, १. ६६।

२. इस प्रज्ञापन के विभिन्न भागो की व्याख्या के लिए, देखो ऊपर पृ० १०२, १०३, १५८।

३ यह सिर्फ K. S. और M में पाया जाता है (JRAS १६१३, पृ० ६५४ आदि)।

(१०)

अनुवाद

देवताओ का प्रिय राजा प्रियदर्शी यश या कीर्त्ति को कोई वडी चीज नही मानता। इसे वह जो कुछ भी वडी चीज समझता है वह सिर्फ इसलिए कि वर्त्तमान और भविष्य[1] में उसकी प्रजा धर्म को सुनने और धर्म के उपदेशो का पालन करने की इच्छा करे। देवताओ का प्रिय राजा प्रियदर्शी सिर्फ इस काम मे यश या कीर्त्ति चाहता है। देवताओ का प्रिय राजा प्रियदर्शी जो कुछ उद्योग करता है वे सव परलोक के लिये हैं, जिससे प्रजा को कम

से कम परिस्रव[2] मिले। पर जो अपुण्य[3] है वही परिस्रव है। पर अत्यधिक उद्योग[4] और त्याग के विना यह छोटे और बडे अफसरो[5] के लिए करना कठिन है। पर बड़े अफसरो के लिए यह अत्यधिक कठिन है।

टिप्पणियाँ

१. तदात्त्व=तत्काल, वर्तमान काल; आयति=भविष्य, दीघाय—दीर्घकाल से।

२. अप-परिस्रव की स्तम्भ-प्रज्ञापन २ के अप-आसिनव के साथ तुलना करो।

३. अपुण्य पाप या स्तम्भ-प्रज्ञापन ३ का आसिनव है।

४ मैं पहले कह चुका हूँ कि अर्थशास्त्र में राजाओ और अधिकारियो को पराक्रम या उद्योग करने के लिए कहा गया है। और यह ध्यान देने की वात है कि अशोक भी अपने, अपने पुत्रो और पौत्रो के लिए, शिला-प्रज्ञापन ६ में, या अपने अफसरो के लिए इस प्रज्ञापन में, पराक्रम की आवश्यकता वताता है। इसलिए इन दोनो प्रज्ञापनो की तुलना गौण शिला-प्रज्ञापन १ से की जा सकती है।

५. यहाँ सिर्फ G में जन है, अन्य लेखो में इसकी जगह वग है। पर इस प्रज्ञापन के शुरू में सब लेखो में जनो है। इससे स्पष्ट प्रकट होता हे कि G. में दूसरी पीछे वाली जगह जनो शब्द भिन्न अर्थ में है, अर्थात् 'वग' शब्द के अर्थ का वाचक है, अर्थात् 'लोगो का वर्ग' और यह मेरी राय में 'अफसरो का एक वर्ग' है।

(११)

अनुवाद

देवताओ का प्रिय राजा प्रियदर्शी ऐसा कहता है—ऐसा कोई

दान नही है जैसा धम्म का दान, ऐसी कोई मित्रता नहीं जैसी धम्म के साथ मित्रता, ऐसा कोई सम्बन्ध नहीं जैसा धम्म के साथ सम्बन्ध। धर्म यह है कि दासों और सेवको से अच्छा व्यवहार किया जाए; पिता और माता की श्रेष्ठ सेवा की जाए, मित्रों; परिचितो, सबंधियो, ब्राह्मणो और श्रमणो को दान दिया जाए, जीवो की हिंसा न की जाए। पिता, पुत्र, भाई, स्वामी, मित्र, परिचित, संबंधी और पड़ौसी को भी यह कहना चाहिए कि ये पुण्य कार्य हैं, इन्हे करना चाहिए। ऐसा करने से मनुष्य को इस लोक मे भी सुख मिलता है और इससे परलोक के लिए भी अनन्त पुण्य प्राप्त होता है।

(१२)

अनुवाद

देवताओं का प्रिय राजा प्रियदर्शी सब सप्रदाय वालो का, चाहे वे त्यागी हों चाहे गृहस्थी, सबका विविध दान और पूजा से सत्कार करता है। परन्तु देवताओ का प्रिय इस दान और पूजा को इतना अच्छा नही समझता जितना इस बात को कि सब धार्मिक सप्रदायो के लोगो मे सारतत्त्व की वृद्धि हो। पर सारतत्त्व की वृद्धि कई प्रकार[1] की है। पर इसका मूल वाणी[2] का सयम है—कैसे? —अर्थात् लोग मौके-बेमौके अपने सप्रदाय का आदर और दूसरे सप्रदाय की निन्दा न करे। इसके विपरीत, मनुष्यो को अवसर निकालकर दूसरे सप्रदायो का भी आदर करना चाहिए। ऐसा करने से अपने संप्रदाय की उन्नति और दूसरे के सप्रदाय का उपकार होता है। इसके विपरीत आचरण से न केवल दूसरे सप्रदाय का अपकार होता है, बल्कि अपने सप्रदाय को भी क्षति पहुँचती

है। जो कोई अपने सप्रदाय के अनुराग के कारण, इस विचार से कि उसके अपने सप्रदाय का गौरव बढे, अपने सप्रदाय की प्रशसा करता है और दूसरे के सप्रदायो की निन्दा करता है, वह वास्तव मे अपने सप्रदाय को बडी हानि पहुँचाता है। इसलिए एक दूसरे के धर्म को सुनने और सुनाने की इच्छा के विचार से 'समवाय'[3] प्रशंसनीय है। क्योंकि देवताओं का प्रिय चाहता है कि सब धार्मिक सप्रदाय ज्ञान से पूर्ण हों और अच्छाई पैदा करे। और जो लोग इस या उस धर्म से प्रेम रखते हैं, उन्हे बता दिया जाना चाहिए कि "देवताओं का प्रिय दान या सम्मान को ऐसा नही मानता जैसा सब सप्रदायो के सारतत्त्व की वृद्धि और एक-दूसरे के धर्म के ज्ञान को।" इस उद्देश्य से धर्ममहामात्रो, स्त्र्यध्यक्षो, व्रजभूमिकों[4] और अन्य अधिकारी-वर्ग की नियुक्ति की गई है। और इसका यह फल होता है कि अपने सप्रदाय की उन्नति और धम्म का प्रकाश होता है।

टिप्पणियाँ

१. इस प्रज्ञापन को अच्छी तरह समझने के लिए, देखो ऊपर पृ० ९६ आदि।

२. वचोगुति और भतिता शब्दो के लिए, शिला-प्रज्ञापन ७ से तुलना करो।

३. समवाय शब्द समव्-इ से बनता है जिसका अर्थ है 'इकट्ठे होना'। अशोक का आशय यह हे कि यदि विभिन्न सप्रदायो के अनुयायी एक-दूसरे के सम्पर्क मे आएँगे तो वे अपने धर्म से दूसरे धर्म की अच्छी बाते सीखेगे।

४ इन अधिकारियो के कर्त्तव्यो के लिए देखो ऊपर, पृ० ५० आदि।

(१३)

अनुवाद

अपने अभिषेक के आठ वर्ष बाद देवताओं के प्रिय राजा प्रियदर्शी ने कलिंग देश को विजय किया। वहाँ डेढ़ लाख मनुष्य कैद कर बाहर भेजे गये, एक लाख खेत रहे, और इससे कई गुने अधिक काल-कवलित हो गये। उनके बाद अब[1] कलिंग देश में देवताओं के प्रिय को धर्म-रक्षा, धर्म-कामना और धर्म-शिक्षण में बहुत उत्साह हुआ। यह देवताओं के प्रिय का कलिंग-विजय पर पश्चात्ताप है। देवताओं के प्रिय को यह देखकर बड़ा खेद हुआ कि किसी नये देश को विजय करने में कितने लोगों की हत्या, मृत्यु और कैद होती है। पर देवताओं के प्रिय को यह सोचकर और भी दुःख हुआ है कि वहाँ भी ब्राह्मण, श्रमण तथा अन्य सम्प्रदायों के मनुष्य तथा गृहस्थ रहते हैं जिनमें वृद्ध-जनों की सेवा, माता-पिता और गुरुओं की सेवा, तथा मित्रों, परिचितों, साथियों और सम्बन्धियों तथा दासों और सेवकों से उचित व्यवहार और दृढ अनुराग होता है। (युद्धों में) ऐसे कितने ही धार्मिक लोगों की निजी हानि, मृत्यु या प्रिय-जनों से दूर निर्वासन हो जाता है। और जो अपने जीवन[2] में स्थिर भी रहते हैं और अघट अनुराग रखते हैं, वे भी अपने मित्रों, परिचितों, साथियों और सम्बन्धियों के आपत्ति में पड़ने से आपद्-ग्रस्त हो जाते हैं और यह आपत्ति उनकी अपनी हानि हो जाती है। यह विपत्ति सभी को भोगनी पड़ती है, इससे देवताओं के प्रिय को बहुत दुःख होता है। यवनों[3] के प्रदेश को छोड़कर और कोई ऐसा प्रदेश नहीं जहाँ ब्राह्मण और श्रमण समुदाय न रहते हों, और ऐसा कोई देश नहीं जहाँ लोग एक न एक सम्प्रदाय में विश्वास न

रखते हो। कलिंग देश की विजय के समय जितने आदमी मारे गये, या मरे या कैद किये गये, उनके शतांश या सहस्रांश को भी आज[४] देवताओ का प्रिय दुःखजनक मानता है। इतना ही नही, यदि कोई उसका अपकार करता है तो देवताओ के प्रिय को यथा-शक्ति उसे सहना चाहिए। और वनो[५] (के वासियो) के प्रति, जो देवताओ के प्रिय के देश मे हैं, वह अनुग्रता प्रदर्शित करता है और उन्हे (कुमार्ग से) रोकना चाहता है। बलवान होते हुए भी देव-ताओ का प्रिय पश्चात्ताप-युक्त है। (इसलिए) उनसे यह कहा जाता है—क्या ? "वे लज्जित हो और उनके जीवन का नाश न किया जाएगा।" देवताओ का प्रिय सब जीवो के लिए रक्षा, आत्म-सयम, निष्पक्षता और भद्रता की कामना करता है।

पर देवताओ का प्रिय धम्म के द्वारा प्राप्तहोने वाली विजय को सबसे मुख्य विजय समझता है। यह विजय देवताओ के प्रिय को अपने राज्य मे तथा सब सीमान्त प्रदेशो मे छह सौ योजन तक, जिसमे अन्तियोक नाम का यवन राजा तथा अन्य चार राजा—तुरमय, अतेकिन, मग और अलिकसु (न्)- दर[६] हैं, तथा दक्षिण की ओर चोल, पाड्य और ताम्रपर्णी तक मे प्राप्त हुई है। उसी तरह यहाँ राजा के राज्य मे यवनो और कबोजो में, नभपतियो और नाभक मे, वशानुगत भोजो, आध्रो तथा पुलिदो मे—सब जगह वे देवताओं के प्रिय का धर्मानुशासन मानते हैं। जहाँ देवताओ के प्रिय के दूत नही जाते वहाँ भी लोग देवताओ के प्रिय के धर्मादेशो और धर्म-विधान को सुनकर धर्माचरण करते हैं और करते रहेगे। इस प्रकार प्राप्त विजय सर्वत्र प्रेम से सुरभित होती है। वह प्रेम धर्म-विजय से प्राप्त होता है। पर वह प्रेम तुच्छ वस्तु है। देव-ताओ का प्रिय पारलौकिक कल्याण को ही बड़ा समझता है। और

यह धर्म-लेख इसलिए लिखवाया गया है कि जिससे मेरे पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र नये देश विजय करने की इच्छा त्याग दे और जो विजय सिर्फ तीर से[7] प्राप्त हो सकती है उसमे वे भी सहिष्णुता और मृदु-दड का ध्यान रखे, और वे धम्म-विजय को ही वास्तविक विजय समझे। यह इह-लोक और परलोक दोनो के लिए अच्छा है। उनका प्रबल अनुराग पराक्रम से ही हो। यह इहलोक और परलोक दोनो के लिए अच्छा है।

टिप्पणियाँ

१ अधुना (अब) और अज (आज) से, जिसका नीचे टिप्पणी ४ में उल्लेख है, स्पष्ट प्रकट होता है कि अशोक ने कलिग में धम्म की सोत्साह परिरक्षा की जो बात कही है वह उस समय की है जिस समय यह प्रज्ञापन प्रख्यापित किया गया।

२. सविधा का अर्थ है 'जीवन की रीति', जीवन व्यतीत करने के साधन (रघुवश, I ६४)। इसलिए सविहित का अर्थ 'वे लोग जो किसी जीवन-रीति में स्थिर हे' होगा।

३. योन शब्द यवन लोगो का, और अतएव उनके प्रान्त का, वाचक है; यह प्रदेश यवन राजाओ के उस प्रदेश से अलग है जिसका इस प्रज्ञापन में आगे चलकर जिक्र है। योन प्रान्त अशोक के साम्राज्य का हिस्सा था जैसा कि शिला प्रज्ञापन ५ से भी प्रकट होता है।

४. 'अज' शब्द टिप्पणी १ के निष्कर्ष को पुष्ट करता है।

५. इस प्रान्त की पहचान के लिए देखो ऊपर, पृ० ३८-४०।

६. इन तथा बाद वाले नामो के लिए देखो ऊपर पृ० २६-२७ आदि। अ-शसु के एक और निर्वचन के लिए देखो IA, १९१८, पृ० २९७।

७. सरसके=शर-शक्य (तीरो द्वारा सभव), शयकशि=शल्याकर्षि, जिसका लगभग वही अर्थ है। सभाव्यत अशोक का यह आशय है कि यदि

विद्रोह हो जाय और उसे शस्त्रो द्वारा दबाना पड़े तो उस अवस्था में उसके उत्तराधिकारियो को अधिकतम सहिष्णुता से काम लेना चाहिए और न्यूनतम दड देना चाहिए जिससे यह प्रादेशिक विजय लगभग रक्त-हीन हो।

(१४)

अनुवाद

ये धम्मलिपियाँ देवताओ के प्रिय राजा प्रियदर्शी ने कही सक्षेप मे, कही मध्यम रूप मे, और कही विस्तृत रूप मे लिखवायी हैं। हर जगह हर चीज नही लिखवायी गयी। मेरा राज्य बहुत विस्तृत है, इसमे बहुत से लेख लिखवाये गये हैं और आगे भी बहुत से लिखवाऊँगा। इनमे कुछ बाते, मधुरता के कारण बार-बार लिखवायी गयी हैं। क्यो? जिससे लोग उनका अनुसरण करे। सभव है कि (इन लेखो मे) देश के अपरिचित होने के कारण या सक्षेप करने मे, या लिपिकार[1] के दोप से कुछ अपूर्णता रह गयी हो।

टिप्पणी

१. अन्तिम वाक्य के अनेक अर्थ किये गये हैं। "पर सभव है कि यह कुछ चीज, स्थानाभाव के कारण, या किसी अन्य विशेष विचारणीय कारण से, या लेखक की भूल से, अपूर्ण लिखी गयी हो"—बूलर। "सभव है कि किसी वाक्य के कट जाने से, या गलतफहमी, या लेखक के दोष से कोई चीज अपूर्ण लिखी गयी हो।"—स्मिथ।

स्तंभ प्रज्ञापन

(१)

अनुवाद

देवताओ का प्रिय राजा प्रियदर्शी कहता है "मैंने अपने अभिषेक के २६ वर्ष बाद यह धर्मलिपि लिखवायी। धर्म की तीव्र

कामना, कठोर परीक्षा[1], अत्यधिक आज्ञा-पालन, अत्यधिक भय, (और) अत्यधिक उत्साह के बिना इस लोक और परलोक के सुख की प्राप्ति[2] कराना कठिन है। पर मेरे प्रयत्नो से लोगो का धर्मानुराग और प्रेम बढता गया और दिन-दिन[3] बढता जाएगा। और मेरे, उच्च, छोटे[4] या मध्यम अधिकारी स्वय धर्म का पालन करते हैं, और चचल मन वालो को धर्म के पालन की प्रेरणा करने के उपयुक्त होने के कारण, उनसे भी धर्म पालन[5] कराते हैं। सीमान्त प्रदेशो के महामात्र भी ऐसा ही कराते हैं। इन सब के लिए आज्ञा है कि "धर्मानुसार लोगों का पोषण करो, धर्मानुसार शासन का विधान करो, धर्म के द्वारा उन्हे सुख पहुँचाओ और धर्मानुसार शासन करो।"

टिप्पणियाँ

१. पलिखा=परीक्षा, अर्थात् 'मेरे कार्य धर्मानुसार है या नहीं।' सुसूसा और भय राजा प्रियदर्शी के बारे में हैं। उत्साह के बारे मे, शिला प्रज्ञापन ६ और D—JSI, I. भी देखिए। ये सब, राजा के अफसरो में होने चाहिएँ।

२ सपटिपादये—सम्प्रतिपाद्यम्। यही शब्द नीचे ८वीं पक्ति में सपटिपादयति के रूप में आता है। दु-सपटिपादये—'दु साध्य' (बूलर) 'दुष्प्राप्य' (स्मिथ)। सपटिपादयति—'(मेरे आदेशो का) पालन करते हैं' (बूलर)। 'दूसरो को इस मार्ग पर ले जाते हैं' (स्मिथ)। स्पष्ट है कि ये दोनो विद्वान् एक ही प्रज्ञापन में दो भिन्न स्थानो पर आये एक ही शब्द के दो अर्थ करते हैं। इसके अलावा, एक जगह वे इसे साधारणतया अशोक की प्रजा का वाचक मानते हैं और दूसरे स्थान पर उसके अफसरो का वाचक मानते है। पर इस शब्द का ऐसा निर्वचन करना चाहिए कि दोनो स्थानो पर एक ही अर्थ हो। प्रज्ञापन के अन्तिम भाग मे भी स्पष्ट है कि यहाँ अशोक साधारणतया अपने प्रजाजनो को सबोधित नहीं कर रहा, बल्कि अपने सब पक्तियो के अफसरों

को सबोधित कर रहा है। इसलिए सपटिपद का अर्थ (इस लोक तथा परलोक की चीजें लोगो को) "प्राप्त कराना" होना चाहिए।

सेनार्ट के अनुसार, दु सपटिपादये='कठिनाई से देने योग्य' और सपटिपादयन्ति— (लोगो को) 'अच्छे मार्ग में ले जाते है।' उसने दोनो स्थानो पर इस शब्द को प्रेरणात्मक अर्थ मे लिया है और अफसरो के लिए प्रयुक्त किया है, परन्तु एक ही अर्थ मे नहीं लिया।

३ सुवे सुवे='प्रतिदिन' (देखो धम्मपाद, V. २२९)—सेनार्ट।

४ गेवया "सस्कृत के गेप या ग्लेप धातु से व्युत्पन्न होता है जो धातु-पाठ मे देन्ये है। समतुल्य सस्कृत शब्द गेप्य-ग्लेप्य होना चाहिए या जिसका शाब्दिक अर्थ 'गरीब' या 'दुखी' है"—बूलर।

५ चपल का अर्थ है चचल मनवाला। समादपयितवे समादापेति का अपूर्ण कालिक रूप है और समादापेति समा+दा का प्रेरणार्थक रूप है। समादपयितवे का अर्थ है "स्थायी या अस्थायी रूप से धार्मिक सकल्प अथवा कुछ या सब धार्मिक उपदेशो पर आचरण करने की प्रतिज्ञा करना"—चाइल्डर्स। यह अर्थ यहाँ बहुत ठीक बैठता है। अशोक का आशय यह है कि मेरे सब अफसर मेरे बताये हुए धर्म के कुछ या सब नियमो का पालन कराने के लिए चचल मनवालो को प्रेरित करने मे समर्थ है।

(२)

अनुवाद

देवताओ का प्रिय राजा प्रियदर्शी ऐसा कहता है · धर्म श्रेष्ठ है ? पर धर्म क्या है ? पापो[1] का अभाव, अच्छे काम करना, दया, दान, सत्य, पवित्रता। मैंने अनेक प्रकार से चक्षुदान[2] किये हैं, दोपायों तथा चौपायो पर, पक्षियो और जलीय पशुओ पर मैंने अनेक उपकार किये हैं, यहाँ तक कि उन्हे जीवन भी प्रदान किया। और मैंने अन्य कितने ही पुण्य के काम किये। मैंने यह धम्मलिपि

इसलिए लिखवायी है कि वे मेरा अनुसरण करें और यह चिरस्थायी[3] रहे। जो इसके अनुसार कार्य करेगा, वह शुभ कार्य करेगा।

टिप्पणियाँ

१. अगले प्रज्ञापन में आसिनव शब्द पाप शब्द का साथी माना गया है। इसकी तुलना शिला प्रज्ञापन १० के परिस्रवे से की जा सकती है—वहाँ यह अपुने का समानार्थक माना गया है। इससे आसिनव की सेनार्ट द्वारा आ+स्रु से की हुई व्युत्पत्ति, बूलर की आ+स्नु से की हुई व्युत्पत्ति की अपेक्षा अधिक सभाव्य हो जाती है। इस शब्द के ठीक अर्थ के लिए, देखो ऊपर, पृ० ११०-११ आदि।

२. "सेनार्ट द्वारा किया हुआ 'चखुदाने' का निर्वचन 'च खु दाने' ठीक नहीं क्योकि च और खु अव्ययो से वाक्य शुरू नही हो सकता, और क्योकि पाठ में शब्दखण्डो की निरन्तरता के कारण, वे दो वाक्यो के हिस्से नहीं माने जा सकते"—बूलर। चखु—'आध्यात्मिक चक्षु'—बूलर। पर इसे भौतिक अर्थों में लेना अधिक अच्छा होगा, और सभाव्यत यह उस दड की क्षमा का निर्देश करता है जो 'आँख के लिए आँख' 'दाँत के लिए दांत' होता था। यह आ-पान-दखिना, 'जीवन दान तक' से ठीक मेल खाता है—बूलर, और 'उन्हे पानी देने तक भी' से मेल नही खाता।

३. इसकी तुलना शिला प्रज्ञापन ५ और ६ के अन्तिम भाग से करो।

(३)

अनुवाद

देवताओ का प्रिय राजा प्रियदर्शी कहता है. "(मनुष्य) अपने सिर्फ अच्छे काम देखता है, (वह अपने से कहता है) "मैंने यह अच्छा काम किया है'[1]। वह अपना पाप कभी[2] नही देखता (और अपने से यह नही कहता) 'मैने यह पाप किया है' अथवा 'यह सचमुच बुरा काम

है।' पर यह (ऐसी चीज है) जिसमे आत्म-निरीक्षण कठिन[3] है। तो भी (व्यक्ति को) देखना चाहिए (और अपने-आपसे कहना चाहिए) :' ये (विषय-विकार) प्रचडता, क्रूरता, क्रोध, घमड, ईर्ष्या आदि दुर्गुण पैदा करते हैं, और उनके कारण मेरा पतन हो सकता है।[4] यह भी सदा ध्यान रखना चाहिए कि इससे मुझे इस लोक मे तथा परलोक मे[5] भी लाभ होगा।"

टिप्पणियाँ

१. इसकी तुलना शिला प्रज्ञापन ५ के आरम्भिक अश से करो।

२ नो मिन=नो मनाक्, 'जरा भी नहीं' 'किसी भी तरह नहीं'—बूलर।

३ पटिवेख, जैसा कि सेनार्ट ने बताया है, पाली का पच्चवेक्खनम्, 'आत्म-निरीक्षण' ही है। उसने चाइल्डर्स द्वारा उस शीर्षक के नीचे उद्धृत विशुद्धि-मग्ग के एक सदर्भ का निर्देश किया है। ऊपर पृ० ९२-९३ आदि।

४ सेनार्ट इस्या को माने से अलग करता है और इसे इसके बाद वाले कालनेन शब्द से मिलाता है। पर बूलर का यह कथन ठीक है कि इस प्रकार इन्हे तोडना ठीक नहीं क्योंकि सब प्रतियो में दो शब्दो के बीच में जगह छोडी गयी है। पलिभसयिसम् मे पलिभासति धातु है—बदनाम करना—सेनार्ट। बूलर इसे परिभ्रशयिष्यामि का समतुल्य मानता है, जो अधिक ठीक है।

५ माइकलसन ने 'मन' का अर्थ 'भी' किया है, जो ठीक है।

(४)

अनुवाद

देवताओ का प्रिय राजा प्रियदर्शी ऐसा कहता है मैंने अपने अभिषेक के छब्बीस वर्ष बाद यह धम्मलिपि लिखवायी। मैंने लाखो व्यक्तियो के ऊपर रज्जुको को नियुक्त किया है।[1] मैंने उन्हें न्यायिक

अनुसधान और दड[२] मे स्वतन्त्र कर दिया है जिससे वे अपना कर्तव्य विश्वास के साथ और निर्भय होकर पूरा करे, जनपदो के लोगो का हित और सुख उत्पन्न करे और (उन पर) उपकार करे। वे सुख और दु ख के मूल कारणो का पता लगाएंगे और जनपदो के लोगो तथा निष्ठावानो[३] को प्रेरणा करेंगे, जिससे उन्हे इस लोक और परलोक मे सुख मिले। रज्जुक मेरी आज्ञा का पालन करने को उत्सुक हैं।' और क्योकि रज्जुक मेरी आज्ञा का पालन करना चाहते हैं इसलिए (निम्न) कर्मचारी भी मेरी इच्छाओ और आज्ञाओ[४] का अनुवर्तन करेंगे और कुछ (लोगो) को प्रेरणा करेंगे। जिस प्रकार मनुष्य को अपना बच्चा होशियार धाय को सोपकर सतोप होता है (और वह अपने मन मे कहता है), 'होशियार धाय मेरे बच्चे का पालन-पोषण करना चाहती है', उसी प्रकार मैंने जनपदवासियो के हित और सुख की कामना से रज्जुको को नियुक्त किया है जिससे वे निर्भय और नि सकोच होकर निर्विघ्न रूप से अपने कर्त्तव्य का पालन करें। इस कारण मैंने न्यायिक अनुसधान और दड के बारे में उन्हे स्वतन्त्र कर दिया है। क्योकि यह वाछनीय है—क्या? न्यायिक अनुसंधान की और दड की एकरूपता। और मैंने यह आदेश भी दिया है: जो लोग कैद हैं, जिन्हे सजाएं दी जा चुकी हैं और जिन्हे प्राणदड दिया गया है उन्हे मैंने तीन दिन की मोहलत दी है जो अधिकारपूर्वक और पूरी तरह उनकी अपनी है।[६] या तो (उनके) सबधी (इस अवधि में) उनके प्राण बचाने के लिए कुछ (रज्जुको से) दड कम करा सके, अथवा (आध्यात्मिक) विनाश से बचने के लिए वे परलोक के लक्ष्य से दान दे सके और उपवास कर सके।[७] कारण कि मेरी इच्छा है कि कैद के दिनों मे भी[८] वे परलोक के सुख के लिए यत्न कर सके, और कि अनेक प्रकार के

धार्मिक आचरणो, आत्मसयम और उदारता की मनुष्यो मे अभि-वृद्धि हो।

टिप्पणियाँ

१. 'आयत' शब्द स्तम्भ प्रज्ञापन ७ (२) पक्ति 1 और SE.I पक्ति ४ मे भी आता है। सेनार्ट का यह विचार ठीक मालूम होता है कि यह आयत्त और आयुत्त शब्दो की गडबडी का एक उदाहरण है।

२ अतपतिये, जो आत्मपत्य के समतुल्य है, आधिपत्य की तरह बनायी हुई सज्ञा है। बूलर के अनुसार, अभिहार का अर्थ 'सम्मान, उपहार' है, और उसने जातक, जिल्द ५, पृ० ५०, श्लोक १४३ तथा पृ० ५६, पक्ति २८ का निर्देश किया जिसका टीकाकार ने 'पूजा' अर्थ किया है। पर जैसा कि सेनार्ट ने प्रदर्शित किया है, इसी प्रज्ञापन मे आगे अभिहाल और दड को वियोहाल-समता और दड-समता के साथ रखा गया है। इसलिए यहाँ अभि-हार व्यवहार का तुल्यार्थक होना चाहिए। और फिर, क्योकि व्यवहार का दड के साथ, और उससे वैषम्य प्रदर्शित करते हुए, उल्लेख है, इसलिए इसका अर्थ सिर्फ 'कानूनी विवाद' या 'मुकदमा' नहीं हो सकता, वल्कि 'मामले की न्यायिक प्रक्रिया, परीक्षा या अनुसधान' होगा। अशोक के इस कथन का कि मैने रज्जुको को व्यवहार और दड में स्वतन्त्र कर दिया है, आशय ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। ऊपर पृ० ६१-६३।

अस्वथ अश्वस् से बना है और इसी के बारे में एफ० डब्लू० टामस की टिप्पणी के लिए देखो JRAS. १९१५, पृ० १०६ और आगे।

३. इस प्रज्ञापन के 'धम्मयुतेन च वियोवदिसति जन जानपद' की तुलना स्तभ प्रज्ञापन ७ के 'हेव च हेवं च पलियोवदाथ जन धम्मयुत' की जा सकती है। इससे प्रकट होता है कि पहले में आये धम्मयुतेन शब्द का अर्थ "धर्म के सिद्धान्तो के अनुसार" (बूलर) नहीं हो सकता, बल्कि "उसी समय से उस समय निष्ठावान्" (सेनार्ट) अधिक ठीक है।

४ सेनार्ट लघति का शुद्ध रूप चघति बताता है। यह स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योकि सब प्रतियो में यह लघति है । बूलर लघति को संस्कृत 'रघते', वे शीघ्रता करते हैं, उत्सुक है, का रूप मानता है । पर सेनार्ट का पटिचलति को परिचरति मानना सही प्रतीत होता है, जिसका अर्थ है 'सेवा करना, आज्ञा मानना' । शिला प्रज्ञापन २ के अन्त में गिरनार वाली प्रति में आये परिभोगाय शब्द की तुलना अन्य प्रतियो के पटिभोगाय से करो ।

५ छदनानि को बूलर तत्पुरुष समास मानता है जो पुलिसानि के साथ है और जिसका अर्थ छद जानति—इति छदज्ञा, 'इच्छा को जानने वाले' है । सेनार्ट इसे द्वन्द्व 'समास छन्दश्च आज्ञा च' मानता है और पटिचलिसति का कर्म बताता है । बूलर को इस निर्वचन पर इस आधार पर आपत्ति है कि स्त्रीलिंग 'आ' के नपुंसक 'अ' में रूपातरित हो जाने का कोई उदाहरण नहीं मिलता । पर हम जानते हैं कि इन शिलालेखो की भाषा मे लिंगो की बड़ी गड़बडी हैं । रूपनाथ गौण शिलालेख मे काल शब्द विकृत होकर काला हो गया है । यह बड़ा स्पष्ट उदाहरण है, पर यह सिर्फ एक उदाहरण है, जिसमे 'पुंल्लिग 'अ' के रूप स्त्रीलिंग 'आ' की तरह बने है । इसी प्रकार यह क्यो न मान लें कि स्तम्भ प्रज्ञापन ४ मे एक उदाहरण मौजूद है, यद्यपि यह सिर्फ एक उदाहरण है, जिसमें स्त्रीलिंग आ के रूप नपुंसकलिंग की तरह बने है । फिर, छदनानि और सब लेखो मे पुलसानि से पृथक् है, पर कम से कम एक लेख में पटिचलिसति से जुडा हुआ है । इससे पता चलता है कि छदनानि पटिचलिसति का कर्म है, पुलिसानि का विशेषण नही । यदि सेनार्ट की प्रक्रिया को मान ले तो इसका अर्थ भी सर्वथा स्पष्ट है । यदि रज्जुक, जो बहुत ऊँचे अफसर थे, अशोक का आज्ञा-पालन करते है, तो पुरुषो अर्थात् छोटे अफसरो को तो उनका अनुसरण करना ही चाहिए । पर बूलर हमें यह मनवाना चाहता है कि पुरुष यद्यपि छोटे अफसर है, पर रज्जुको को उन्हे आदर्श मानकर उनका अनुकरण करना चाहिए ।

सेनार्ट चघति को चग्घति का विकार और जाग्रति का रूपांतर मानता है, जैसे पति-जग्गति, 'देख-रेख करना'। ग्रियर्सन इसे चघ 'उठना, चढना' धातु से व्युत्पादित करता है, जो छत्तीसगढ़ी बोली में है और इसे संस्कृत चर्घ 'जाना' से बना मानता है (JPTS, १८६१-३, पृ० २८ और आगे)। कर्न चघ की क्रिया की व्याख्या हिन्दी 'चाहना' से करता है और बूलर इस विचार से सहमत है और साथ यह भी कहता है कि चाह शब्द भारत की सब भाषाओं में है और इसलिए आर्यों की प्राचीन भाषा में यह अवश्य रहा होगा।

६. योते शब्द को कर्न ने, ठीक ही, संस्कृत यौतुक शब्द से जोडा है, और यूरोपीय विद्वान् इसे 'मोहलत' के अर्थ में लेते हैं। पर यौतुक का अर्थ मोहलत नही होता बल्कि 'वह चीज जो एक मात्र और अधिकारपूर्वक किसी व्यक्ति की हो' होता है। यह अर्थ यहाँ लागू भी हो जाता है। अशोक का यह आशय है कि जिन कैदियो को प्राणदण्ड दिया गया है, वे अधिकार के रूप में तीन दिन की मोहलत ले सकेंगे।

७. यह इस प्रज्ञापन का सबसे उलझनदार सदर्भ है। सेनार्ट "मेरे अफसर उन्हें चेता देंगे (निझपयिसति) कि वे न अधिक न कम (नातिकाव-कानि) जीएँगे (जीविताये तान)। अपने जीवन-काल (नासत) के बारे में इस तरह चेताये गये (निझपयिता) वे, अपने भावी जीवन (पालत्क) की दृष्टि से दान (दान) दे सकते हैं (दाहन्ति) या उपवास कर सकते हैं (उपवासं वा कियाच्छति)।"

बूलर . "उनके सबधी (नातिका) उनमें स कुछ को (कानि) गभीर चिंतन कराएँगे (निझपयिसति) और इन लोगो की जीवन-रक्षा के लिए (जीविताये तान), या प्राणदण्ड पाये हुए (नासत) को गभीर चिन्तन कराने के लिए (निझपयिता) वे परलोक की दृष्टि से दान देंगे या उपवास करेंगे।" बूलर अपने अनुवाद की व्याख्या करते हुए कहता है: "तीन दिन की मोहलत मे, सबधी लोग दडप्राप्त अपराधियो को अपने विचार ऊँची बातो में लगाने

के लिए प्रेरित करेंगे, और वे धार्मिक दान (लाजुको को घूस नहीं) देगे और उपवास करेंगे, और यह आशा करेंगे कि या तो दडित व्यक्तियो के प्राण न लिए जायँ, और या, जिन लोगो ने मरना है, उनके हृदय कोमल हो जाएँगे और स्वर्ग की ओर प्रवृत्त हो जाएँगे।

कुछ वर्ष पहले अपनी एम० ए० कक्षाओ के लिए मैने इस सदर्भ का निम्न अनुवाद किया था · "उनके सवधी उनमें से कुछ को, अपनी जीवन-रक्षा के लिए, धम्म-चिन्तन कराएँगे (निझपयिसति) और मरने वालों (नासत) को आत्मचिन्तन कराने के लिए, वे परलोक पर दृष्टि रखकर दान और उपवास करेंगे।" उस समय मेरा आशय यह था कि अशोक ने सिर्फ उन कैदियो को मोहलत दी थी जिन्होने मृत्यु-दण्ड मिलने पर भी, उसका धर्म अगीकार कर लिया था। और यह भाव वही प्रतीत होता है जो JBORS. VI. ३१८ आदि, में प्रकाशित लेख में लिया गया था। पर अब मै इस सदर्भ का और ही अर्थ करता हूँ. उनके सबधी कुछ (रज्जुको) को (प्राणदण्ड पाये हुए लोगो की) जीवन-रक्षा के लिए प्रसन्न करेंगे; या अन्त, अर्थात् नाश, को टालने के लिए वे परलोक पर दृष्टि रखते हुए दान देंगे या उपवास करेंगे। इस बात पर बहुत कुछ निर्भर है कि हम निझपयिसति का क्या अर्थ करते है। यदि हम इस शब्द को नि+ध्यै धातु से बना हुआ मानें, जैसे एफ० डब्लू० टामस ने माना है (JRAS. १९१६, पृ० १२० और आगे) तो वह निर्वचन ठीक होगा जो मैने पहले प्रस्तुत किया है। परन्तु लूडर्स ने अयोघर-जातक (जातक, जिल्द ४, श्लोक ३३२ और ३३४) मे आये हुए इस शब्द का उल्लेख किया है, जिसमें 'कोमल करना, रोकना' भाव है, और जो एक जगह तो विशेष रूप से, राजाओ द्वारा दिए गए दड के लिए प्रयुक्त हुआ है। यह अर्थ अधिक ठीक बैठता है, और इससे संदर्भ का अधिक स्वाभाविक निर्वचन हो सकता है। अशोक इस आरोप से भी मुक्त हो जाता है कि उसने अपने धम्म के लिए न्याय के उद्देश्य को ही निराकृत कर दिया।

८. निलुधसि पि कालसि का अर्थ सेनार्ट ने "अपनी कैद के दिनो में", बूलर ने "अपनी कैद के दिनो में भी", लूडर्स ने "एक सीमित समय मे भी"

और टामस ने "यद्यपि उनका मृत्यु का समय अपरिवर्तनीय रूप से निश्चित है (क्योंकि उसमें निभ्रांति नहीं है)" किया है (JRAS, १९१६, पृ० १२३)। मनु, ८, ३१० से तुलना करो।

(५)

अनुवाद

देवताओ का प्रिय राजा प्रियदर्शी ऐसा कहता है —अपने अभिषेक के छब्बीस वर्ष बाद मैंने निम्नलिखित जीवो[1] का वध निषेध किया—शुक, सारिका, अरुन,[2] चक्रवाक, हस, नदिमुख,[3] गेलाट, जतूका (Flying foxes), अबाकपीलिका, कच्छपी, अस्थि-हीन मत्स्य, वेद-वेयक, गगा-पपुटक, सकुजमछ, कछुआ और सेही, खरगोश जैसी गिलहरी, बारासिगे, साड, घर के कीट, गेडा, श्वेत कपोत, ग्राम कपोत, और ऐसे सब चौपाये जो खाये न जाते हो[4] और अन्य किसी काम न आते हो। गर्भिणी या स्तनधय शिशुवाली भेड, बकरी और सूकरी और उनके छह महीने से छोटे बच्चे। मुर्गो की वध्रि न की जाए। जिस भूसे मे कीडे पड गये हो, वह जलाया न जाए। व्यर्थ या जीव-जतुओ को मारने के लिए जगल न जलाये जाएँ। एक जीव को दूसरा जीव न खिलाया जाए। तीनो ऋतुओ की पूर्णिमा, और तैष की पूर्णिमा के दिन आस-पास मछली न मारी जाए और न बेची जाए—अर्थात् (पखवारे के) चौदहवे और पन्द्रहवे दिन और (अगले पखवारे के) पहले दिन, और उपवासो के दिन। इन दिनो नागवन मे, या मीनाशयो मे, अन्य जीव भी न मारे जाएँ। हर पक्ष के आठवे, चौदहवे और पन्द्रहवे दिन, तिष्य और पुनर्वसु के दिन, तीनो ऋतुओ की पूर्णिमाओ के दिन, और अन्य त्योहारो पर बैलो, मेढो, सूअरो और अन्य जान-वरो की वध्रि (वधिया) न की जाए। तिष्य, पुनर्वसु और ऋतुओ

की पूर्णिमाओ के दिन, और प्रत्येक ऋतु की पूर्णिमा वाले पक्ष मे घोडो और बैलो को दागा न जाए। छब्बीस वर्ष पूर्व अपने अभिषेक के बाद के समय मे मैंने पच्चीस बार बंदियो की मुक्ति करायी।

टिप्पणियाँ

१. जात का शब्दार्थ है 'उत्पन्न व्यक्ति'। यहाँ इसका अर्थ 'जीव' किया गया है।

२ अलुन एक अलग नाम माना गया है। इसे अनठिकमच्छे और सकुजमच्छे की तरह चक्रवाके का विशेषण मानना अधिक उपयुक्त है।

३. इस प्रज्ञापन मे वर्णित विभिन्न जीवजातियो के सिलसिले में मनमोहन चक्रवर्ती की पुस्तिका, एनिमल्स इन दि इस्क्रिप्शन्स आफ पियदसी, जो एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल के मेमोइर के रूप में प्रकाशित हुई है, उपयोगी है। मनु, ११, १३६-७ से भी तुलना करो। ध्यान देने की बात यह है कि अशोक ने जिन जीवो के वध का निषेध किया है, वे वे हैं जो न खाये जाते हैं और न किसी और काम आते हैं। इसलिए जतूका का अर्थ (बंगला) चाम्चिका (चमगादड़ की एक किस्म), करना चाहिए, जिसका मास नहीं खाया जाता—न कि चमगादड़, जिसका मास कम-से-कम छोटी जाति तो खाती ही है। बूलर ने अवाकपीलिका का अर्थ माता-चींटी ठीक ही किया है, अर्थात् रानी-चींटी, सस्कृत का पिपीलिका शब्द पाली में किपिल्लिक है। दाडी=(संस्कृत) दुडि=एक विशेष प्रकार की कछुई। अनठिक—अनस्थिक—अस्थि-रहित, सेनार्ट और बूलर के अनुसार, अस्थि-रहित मछली एक विशेष मछली (Prawn) होती है। सकुज-मच्छे का अर्थ वह मछली है जो—अपने आपको भीतर सिकोड़ सकती है। कफट=कफठ=कछुआ (सेनार्ट) सयक=(सस्कृत) शल्यक=सेही। पन्नसस का शब्दार्थ है एक खरगोश जैसा प्राणी जो वृक्षो के पत्तो में रहता है और बूलर ने इसे सफेद पेट वाली लाल गिलहरी

का वाचक माना है जो पश्चिमी घाट के वनो मे होती है और जिसका शरीर त्वचा हटाने पर बिलकुल खरगोश जैसा लगता है। सिमले=सृमर=बारासिंगा। 'सडके' भाषा के साड शब्द का वाचक है, अर्थात् 'वह बछड़ा जो स्वतन्त्र छोड दिया गया है, और इसलिए अवध्य है'। ओकपिंड को सेनार्ट उक्त अपिंड का रूप मानता है जिनके बारे में महावग्ग में लिखा है कि वे भिक्षुओं को भोजन-सामग्री खा जाते है और, बुद्धघोष के अनुसार, वे 'बिल्ली, चूहे, छिपकली और नेवले' है। यह अर्थ बहुत ठीक बैठता है क्योकि ये प्राणी न खाये जाते है और न किसी और काम आते है। इसलिए उनका सिर्फ इस कारण नाश न करना चाहिए कि वे घर की वस्तुएँ नष्ट करते है। पलसते=(पाली) पलासादो या परसतो=गेडा (बूलर)। ऊपर, पृ० ५७-५८ आदि।

४. पटिभोग नि सन्देह परिभोग है। यहाँ अशोक का "आशय उन सब प्राणियो के वध का निषेध करना है जिनकी खाल, समूर, पख आदि, काम नहीं आते, और जो खाये नहीं जाते।" ऊपर पृ० १३२ आदि।

५ चातुम्मासि=(सस्कृत) चातुर्मासी, ग्रीष्म, शिशिर और शरद् ऋतुओ में से प्रत्येक का पूर्ण च मा है। यह प्रत्येक ऋतु के पहले मास की पूर्णिमा है। तिसा पुन्नमासि तैप या पौष की पूर्णिमा है। पोसथ शब्द बौद्ध पाली उपोसथ और जैन प्राकृत पोसह का मध्यवर्त्ती है। यह ब्राह्मणो के पर्व-दिनो के समकक्ष है और प्रत्येक पक्ष के आठवें और पन्द्रहवें दिन का वाचक है। इस प्रकार पियदसी ने ५६ दिन मछली बेचने का निषेध किया। (१) तीनो ऋतुओ में से प्रत्येक के पहले महीने में, और तैप या पौष मास में छह, अर्थात् शुक्ल पक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी और पूर्णिमा, और कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा, अष्टमी और अमावस्या—इस प्रकार कुल २४, (२) शेष आठ महीनो में चार, अर्थात् प्रत्येक पक्ष की अष्टमी और पूर्णिमा या अमावस्या—इस प्रकार कुल ३२। इस तरह २४+३२=५६ दिन अशोक ने मछली मारने और बेचने का निषेध किया।

६. राजा अनेक अवसरो पर बदियो को मुक्त करते है। ऐसा एक अवसर राजा का जन्म-दिन है जब, अर्थशास्त्र (पृ० १४६) के अनुसार उसे

उन सब कैदियो को मुक्त कर देना चाहिए जो बच्चे या बूढ़े, रोगी या असहाय हो। यह बात यहां बिलकुल ठीक बैठती है, प्रथम तो इस कारण कि इस प्रज्ञापन मे, जिसका अभिप्राय सपूर्ण हत्या का निषेध करना नहीं है बल्कि अधाधुन्ध और अनावश्यक हत्या और हानि को रोकना है, सब कैदियो को मुक्त करने का उल्लेख नहीं माना जा सकता, बल्कि सिर्फ ऐसे कैदियो का उल्लेख माना जा सकता है जिनको कैद रखना अनुचित और अनावश्यक क्रूरता होगा। दूसरे, क्योंकि छब्बीस वर्ष में पच्चीस बार कैदियो की मुक्ति का उल्लेख है, इसलिए बहुत सभाव्यत यह अशोक के जन्म-दिन पर कैदियो की रिहाई का निर्देश करता है, और यह भी प्रकट करता है कि उसके लेखो में निर्दिष्ट-अभिषेक वर्ष उसके राज्य-काल के व्यतीत वर्षों के सूचक न होकर चालू वर्षों के सूचक हैं। (ऊपर, पृ० १०)।

(६)

अनुवाद

देवताओं का प्रिय राजा प्रियदर्शी ऐसा कहता है: "अपने अभिषेक के बारह वर्ष बाद मैंने लोगो के हित और सुख की वृद्धि के लिए ये धम्मलिपियाँ लिखवायी, जिससे उस (आचरण) को छोड़कर (अफसर) इसे और धर्म की वृद्धि को पोषित करे।[१] (यह देखकर कि) 'जनता का सुख और हित इसमे है,' मैं उनकी परीक्षा करता हूँ,[२] उनकी भी जो मेरे पास हैं और उनकी भी जो दूर हैं, जैसे मैं अपने सबधियो की परीक्षा करता हूँ। क्यो ? जिससे मैं (प्रजा में से) कुछ लोगो को सुख पहुँचा सकूँ और मैं इसके अनुसार ही आचरण करता हूँ। इस तरह मैं सब वर्गों (के अफसरो) की परीक्षा करता हूँ। मैंने सब सम्प्रदायो का अनेक प्रकार से आदर किया है, पर (दूसरे सम्प्रदाय मे) स्वय आगे बढ़ने[३] को मैं मुख्य चीज समझता हूँ। यह धम्मलिपि मैंने अपने अभिषेक के छब्बीसवे वर्ष लिखवायी।

टिप्पणियाँ

१. पापोव के लिए, देखो JASB, १९२०, पृ० ३३६-७ एच० के देव। इस क्रिया का कर्त्ता निकाय है जो आगे आया है, पर यहाँ अध्याहृत किया जाता है। निकाय, जो शिला प्रज्ञापन १२ के अन्त में भी आता है, अफसरों की श्रेणियो का वाचक है।

२ पटिवेख धातु का अर्थ पटिवेखा से निर्धारित होता है जो स्तम्भ प्रज्ञापन ३ में आता है।

३. पचूपगमन=प्रत्युपगमन=स्वागत के लिए आगे बढ़ना। इस अश की तुलना शिला प्रज्ञापन १२ के साराश से करो।

(७)

अनुवाद

देवताओ का प्रिय राजा प्रियदर्शी ऐसा कहता है : "प्राचीन काल मे भी ऐसे राजा थे जो यह सोचते थे कि मनुष्यो मे धम्म की वृद्धि कैसे हो। पर मनुष्यो मे धम्म की उचित वृद्धि नही हुई।" इस पर देवताओ का प्रिय राजा प्रियदर्शी ऐसा कहता है . "मेरे मन मे यह विचार आया—प्राचीन राजाओ की कामना थी कि प्रजा मे धर्म की समुचित वृद्धि हो। पर प्रजा मे धर्म की समुचित वृद्धि नही हुई। तो लोगो को धर्म के अनुकूल कैसे बनाया जाए ? लोगो मे धर्म की समुचित वृद्धि कैसे हो ? मै किस प्रकार उनमे धार्मिक वृद्धि का उत्थान कर सकता हूँ।" इस पर देवताओ का प्रिय राजा प्रियदर्शी यह कहता है : "मेरे मन मे यह विचार आया कि मैं धर्म की प्रज्ञप्ति कराऊँ और लोगो को धर्म सम्बन्धी शिक्षा देने की आज्ञा दूँ जिसको सुनकर मनुष्य उसका पालन करेंगे। धर्म की उन्नति के साथ-साथ उनकी महान् उन्नति होगी। इस प्रयोजन से मैंने धर्म पर कितने ही प्रज्ञापन निकलवाये और अनेक प्रकार से लोगो को धार्मिक शिक्षा

दिलवायी। बहुत से लोगो पर मैंने अपने अफसर व्यु[1] नियुक्त किये हैं। वे धर्म का प्रचार और उपदेश करेंगे। लाखों आदमियों के ऊपर रज्जुक नियुक्त किये हैं। उन्हे भी यह आदेश दिया गया है : "धर्मनिष्ठ आदमियो को इस-इस तरह उपदेश करो।"

देवताओं का प्रिय राजा प्रियदर्शी इस प्रकार कहता है : "सडको पर मैंने बड के पेड़ लगवाए हैं। उनसे मनुष्यो और पशुओं को छाया मिलेगी। मैंने आम के बाग लगवाये हैं। मैंने आठ-आठ कोस[2] पर कुएँ खुदवाये हैं, और मैंने विश्राम-गृह बनवाये हैं। मैंने मनुष्यो और पशुओ के आराम के लिए स्थान-स्थान पर बहुत से आरामगाह बनवाये हैं, परन्तु यह सब प्रबन्ध कोई बड़ी बात नही है। ऐसे सासारिक सुख बढाने के कार्य तो मेरी तरह कितने ही पूर्व-वर्ती राजाओ ने भी किये थे। मैंने यह सब काम इसलिये किया कि लोगो में भी धर्म के ऐसे आचरण करने की प्रवृत्ति बढ़े।"

देवताओं का प्रिय राजा प्रियदर्शी इस प्रकार कहता है : "मैंने विविध धर्म-कार्यो के लिए धर्म-महामात्र नियुक्त किये। वे साधुओं और गृहस्थियो के सब सम्प्रदायो के लिए नियुक्त किये गये हैं। मैंने यह प्रबन्ध किया है कि वे सघ के कार्य की व्यवस्था करेंगे। इसी प्रकार मैंने यह व्यवस्था की कि वे ब्राह्मण आजीविको, निर्ग्रन्थो और विविध सम्प्रदायो की व्यवस्था करेंगे। अनेक महामात्र मनुष्यो की विविध श्रेणियो और बहुत से निश्चित कार्यो के लिए हैं पर मैंने धर्म-महामात्रो की नियुक्ति सिर्फ इन तथा और सब सम्प्रदायो के लिए की है।"

देवताओ का प्रिय राजा प्रियदर्शी इस प्रकार कहता है : "ये तथा अन्य मुख्य कर्मचारी[3] मेरे तथा रानियो के द्वारा दिये गये दान का ठीक-ठीक प्रबन्ध करते हैं, और यहाँ तथा जनपदो मे, मेरे सारे

अन्त पुर मे उन्होने अनेक प्रकार से सतोपजनक कार्य[४] किये हैं, और मैंने यह प्रवन्ध किया है कि वे मेरे पुत्रो और अन्य देवीकुमारो द्वारा दिये हुए दान का ऐसे ढग से वितरण करे कि धर्म की उन्नति हो और लोग धर्म का पालन करे। और इस प्रकार लोगो मे धर्म की उन्नति और धर्म का पालन बढेगा जिससे दया, दान, सचाई, पवित्रता, नम्रता और भलाई की वृद्धि होगी।"

८ देवताओ का प्रिय राजा प्रियदर्शी ऐसा कहता है "मैने जितने अच्छे काम किये, लोगो ने उनका अनुसरण किया और वे (भविष्य मे भी) वैसा ही करेगे। इन कामो से उनकी उन्नति हुई और माता-पिता तथा गुरुजनो की शुश्रूषा, वृद्धजनो के अनुसरण और ब्राह्मणो और श्रमणो, गरीबो और दुखियो तथा दासो और नौकरो के साथ भी सद्व्यवहार बढा है।"

देवताओ का प्रिय राजा प्रियदर्शी कहता है: "मनुष्यो मे यह धार्मिक उन्नति दो कारणो से हुई, अर्थात् धर्म सवधी पाबन्दियो से और (पूर्ण) निषेध[५] से और इस विषय मे धर्म की पावन्दियो का उतना महत्त्व नही जितना (पूर्ण) निषेध का। धर्म की पावन्दियाँ वे हैं जो मैंने लागू की हैं अर्थात् इन-इन प्राणियो का वध न किया जायगा और मेरे द्वारा लागू किये गये अन्य अनेक धार्मिक नियम है। परन्तु (पूर्ण) निषेध द्वारा, जैसे (सब) प्राणियो की हिसा का निषेध और जीवमात्र की अ-हत्या से, धर्म की अधिक वृद्धि हुई है। यह लेख इसलिए लिखवाया गया है जिससे मेरे पुत्र और पौत्र इन कार्यो को तब तक जारी रक्खे जब तक सूर्य और चन्द्र कायम रहे और इस प्रकार मेरा अनुसरण करे।

इस प्रकार मेरा अनुसरण करने से इस लोक और परलोक का सुख मिलना निश्चित है। यह धर्मलिपि मैंने अपने अभिषेक के २८

वर्ष वाद लिखवायी है।

इसके बारे मे देवताओ का प्रिय कहता है कि यह धर्मलिपि जहाँ-जहाँ शिला-स्तम्भ या शिलाफलक हो, वहाँ-वहाँ उत्कीर्ण कराई जाए जिससे यह चिरस्थायी रहे।"

टिप्पणियाँ

१ यहाँ यथा के स्थान पर सभावित सही पाठ व्युठा के लिए देखिए IA, १९१२, पृष्ठ १७३।

२ अठकोलिक्यानि के लिए देखो फ्लीट का नोट, JRAS, १९०६, पृष्ठ ४० और आगे। निसिधिया के लिए, EI, २, २७४।

३ सेनार्ट ने मुख का अर्थ बिचौदिया किया है और बूलर ने मुख्य राज-कर्मचारी। एफ० डब्लू० टामस ने उन अनेक स्थानो की ओर हमारा ध्यान खींचा है जिन पर कौटिल्य अर्थशास्त्र में मुख्य शब्द आता है (JRAS १९१५, पृष्ठ ९७--९९)।

परन्तु उसने मुख्य शब्द को मुख समझ लिया है। अर्थशास्त्र से बूलर के पाठ की पुष्टि होती मालूम होती है।

४. बूलर तुठायतनानि को तुष्टयायतनानि मानता है, अर्थात् 'सतोष के जनक', 'धार्मिकता के अवसर'। क्योंकि आयतन शब्द आ+यत, यत्न करना, से वनता है, इसलिए इसका अर्थ 'प्रयत्न' अधिक ठीक है।

५. निझति के लिए स्तम्भ प्रज्ञापन ५ के नीचे टिप्पणी ७ का अन्तिम अश देखिए। इस सदर्भ के निर्वचन के लिए, देखो ऊपर, पृष्ठ १५१।

गौण शिलालेख

क—पृथक् कलिंग प्रज्ञापन

(१)

अनुवाद

देवो के प्रिय के आदेश से तोसली (या समापा) के महामात्रो को, जो नगर के न्याय-शासक हैं, इस प्रकार सम्बोधित किया

जाए : मैं जो कुछ ठीक समझता हूँ, उसे कार्य-रूप मे परिणत करना चाहता हूँ और उसका (उचित) साधनो से सूत्रपात करता हूँ और मैं इसे, अर्थात् तुम लोगो को दी हुई आज्ञा को, अपनी अभीष्ट-सिद्धि का साधन समझता हूँ। तुम लोगो को सहस्रो मनुष्यो के ऊपर इसलिए नियुक्त किया गया है जिससे हम सत्पुरुषो के स्नेह के पात्र हो सके। सब मनुष्य मेरी सन्तान के समान हैं। जिस तरह मैं चाहता हूँ कि मेरी सन्तान इस लोक और परलोक मे सब प्रकार का सुख प्राप्त करे, ठीक उसी प्रकार मैं सब मनुष्यो के लिए मगल और सुख की कामना करता हूँ। परन्तु तुम इस बात को अच्छी तरह अनुभव नही करते। कोई-कोई (अफसर) अनुभव भी करता है, पर वह भी कुछ ही अश मे समझता है, सारा नही, इसलिए इस बात का ध्यान रखो कि आचार का नियम भी सुनिश्चित कर दिया गया है। कई बार लोगो को कैद या परेशानी आ पडती है। तब उन्हे अकारण कैद या मृत्यु प्राप्त होती है[1] और बहुत लोगों को घोर यातना दी जाती है। इसलिए तुम्हें तो मध्य मार्ग पर रहने की कामना करनी चाहिए। ईर्ष्या, अधैर्य, निष्ठुरता, जल्दबाजी, अकर्मण्यता और मूढता जैसी प्रवृत्तियाँ होने पर कोई व्यक्ति शिष्ट आचरण नही कर सकता। इसलिए तुम्हे यह कामना करनी चाहिए कि ये प्रवृत्तियाँ तुम्हारी न हो। और इसका मूल उद्यम और धैर्य है। आचरण का नियम यह है कि जो परिश्रम से थक गया है उसे उठकर आगे बढना चाहिए। और मनुष्य को पुरुषार्थ करना, आगे बढना और उन्नति करनी चाहिए। तुमको आचरण के इस नियम पर विचार करना चाहिए, इसलिए (अपने आपसे) कहो तथा और कुछ मत सोचो : "देवो के प्रिय के आदेश इस प्रकार हैं। उनकी पूर्ति से बहुत लाभ है, न करने से बहुत हानि, जो लोग

इनकी पूर्ति अच्छी तरह नही करते, उन्हे न स्वर्ग मिल सकता है और न राजा की कृपा।" इस प्रकार मुझ द्वारा निर्धारित यह कर्त्तव्य दो-गुना लाभदायक है। तुम्हारे मन मे सशय क्यो होता है ? यदि तुम इसकी अच्छी तरह पूर्ति करोगे तो तुम्हे स्वर्ग मिलेगा और तुम मेरे ऋण से मुक्त हो जाओगे।

और यह लेख तिष्य नक्षत्र के दिन सबको सुनना चाहिए, और तिष्य दिनो के बीच मे प्रत्येक पर्व के दिन भी सुनाना चाहिए, चाहे एक ही (अफसर) क्यो न हो। और इस प्रकार आचरण करते हुए (मेरे आदेशो को) पूरा करने का यत्न करे। यह लेख यहाँ इसलिए लिखवाया गया है जिससे नगर के न्याय-शासक आचार के निर्धारित नियम पर चले और किसी नागरिक को अकारण कैद और अकारण परेशान न किया जाए और इस प्रयोजन के लिए मैं प्रति पाँचवे वर्ष[२] कोमल तथा शान्त प्रकृति वाले दयालु अफसर भेजा करूँगा। मेरे ध्येय से परिचित होने के कारण वे मेरे आदेशो के अनुसार कार्य करेगे, परन्तु उज्जैन से कुमार इन अफसरो को भेजेगा और तीन-तीन वर्ष के अनन्तर भेजा करेगा। इसी प्रकार तक्षशिला से भी भेजे जायेगे। जब ये महामात्र दौरो पर जाएँगे तब अपने अन्य कार्यो के साथ-साथ, इन बातो का भी ध्यान रखेगे और राजा के आदेशो के अनुसार कार्य करेगे।

टिप्पणियाँ

१. यह प्रज्ञापन का सबसे कठिन सन्दर्भ है। अशोक का आशय यह प्रतीत होता है कि जब नीचे उल्लिखित अफसरो के किसी दोष से कोई व्यक्ति कैद या परेशान होता है तब वह परेशानी अकारण ही कैद में, या कैद मृत्यु में परिवर्तित हो जाती है।

२. ऊपर पृष्ठ ५८-५९।

(२)

अनुवाद

देवो के प्रिय की आज्ञा से कुमार और महामात्रो से यह कहा जाय : मैं जो कुछ (मन मे) सोचता हूँ उसे कार्यरूप मे परिणत करना चाहता हूँ और उचित साधनो से उसका सूत्रपात करता हूँ और मैं इस अभीष्ट की सिद्धि के लिए मुख्य साधन तुम लोगो को दी हुई आज्ञा को समझता हूँ। सब मनुष्य मेरी सन्तान के समान हैं। जैसे मैं अपनी सन्तान के लिए यह चाहता हूँ कि वह इस लोक और परलोक के मगल और सुख से युक्त हो, ठीक वैसे ही मैं सब मनुष्यो के लिए चाहता हूँ।

अगर तुम यह पूछो कि मेरी पड़ोसियो के प्रति क्या इच्छा है जिससे तुम्हे यह पता चल जाय कि अपने अविजित पडोसियो के बारे मे राजा हम से क्या चाहता है तो उसका उत्तर यह है उन्हे यह समझ लेना चाहिए कि वे मुझ से न डरे और वे मुझ पर विश्वास करे और उनको मुझ से सुख मिलेगा, दु ख नही। उन्हे यह भी समझ लेना चाहिए कि राजा यथासम्भव उन्हे क्षमा करेगा परन्तु उन्हे मेरे कहने से धर्म का अनुसरण करना चाहिए जिससे इस लोक और परलोक का लाभ हो। इस उद्देश्य से ही मैंने तुम्हे यह आज्ञा दी है। तुम्हे आज्ञा देकर और अपनी इच्छा, नही नही, अटल सकल्प और प्रतिज्ञा, बताकर क्या मैं (उनके प्रति) अपने ऋण से मुक्त हो सकूँगा ? इस प्रकार ऐसा आचरण करते हुए तुम्हे अपने कर्त्तव्यो का पालन करना चाहिए और उनमे विश्वास पैदा करना चाहिए जिससे वे यह समझ सके कि राजा हमारे लिए पिता के समान है। वह हम से वैसे ही सहानुभूति रखता है जैसे

अपने से। हम भी राजा के लिए उसकी सन्तान के समान हैं। इस प्रकार तुम्हे आज्ञा देकर और अपनी इच्छा और अपना अटल सकल्प और प्रतिज्ञा जतलाकर मैं इस कार्य के लिए अपने स्थानीय मन्त्रियो की तरह[1] तुम्हारे साथ रहूँगा। तुम उनमें विश्वास पैदा कर सकते हो और उन्हे इस लोक तथा परलोक का मगल तथा सुख प्राप्त करा सकते हो। ऐसा करने से तुम्हे स्वर्ग का लाभ होगा और तुम मेरे प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करोगे।

और यह लेख इस प्रयोजन से लिखवाया गया है कि जिससे महामात्र उन पड़ोसियो मे विश्वास उत्पन्न करने के लिए और उनमें धर्माचरण की प्रवृत्ति लाने के लिए आचरण के निर्धारित नियमो पर दृढ़ रहे। यह प्रज्ञापन हर चौथे महीने पुष्य नक्षत्र के दिन सुनाया जायं, और बीच-बीच में भी सुनाया जाय चाहे एक ही अफसर हो। इस प्रकार कार्य करते हुए मेरे आदेशो की पूर्त्ति का यत्न करो।

टिप्पणी

१. देसावुतिके एक जटिल पद है और इसने विद्वानो को परेशान किया है।

सेनार्ट "इस ध्येय की पूर्ति के लिए मै तुम में ऐसे व्यक्ति रक्खूँगा जो चुस्ती से मेरे आदेशो का पालन करने योग्य हो।"

बूलर: "जहाँ तक इस बात का सम्बन्ध है, मै सब देशों में अधीक्षक रक्खूँगा।" स्पष्ट ही है कि इस प्रसंग में बूलर को (तु) फाक शब्द का ध्यान नहीं रहा। आयुक्त का अर्थ है मन्त्री या अभिकर्त्ता या स्थानापन्न। अशोक का आशय यह है कि वे उसके स्थानीय प्रतिनिधि है जो सीमान्त निवासियो के प्रति उसके आशय के अनुसार कार्य कर सकते है।

गौण शिलालेख

(१)

ब्रह्मगिरि

सुवर्णगिरि से कुमार[1] और महामात्रो की ओर से इसिला के महामात्रो से उनके स्वास्थ्य का समाचार पूछा जाय और इसके बाद उनसे कहा जाय · "देवो के प्रिय की आज्ञा है कि ढाई वर्ष से कुछ अधिक हुआ जब मैं उपासक हो गया था, परन्तु मैंने अधिक उद्योग नही किया। एक वर्ष से अधिक हुआ जब से मै सघ मे आया हूँ और तब से मैंने उद्योग किया है, परन्तु इस काल मे, मैंने सारे जम्बूद्वीप मे[3] जो लोग अलग थे, उन्हे देवो से मिलाया। (R—इस बीच मे देवो को, जो अलग थे, सारे जम्बूद्वीप मे मनुष्यो से मिलाया गया) क्योकि यह उद्योग का फल है। यह सिर्फ बडो[6] को ही नही प्राप्त होता है, बल्कि यदि कोई निम्न पदधारी भी उद्योग करे तो उसके लिए भी लोगो को बहुत स्वर्गीय सुख प्राप्त कराना सभव है। इस प्रयोजन से यह प्रज्ञापन कराया गया है, अर्थात् जिससे ऊँचे और नीचे अफसर यह उद्योग करे कि मेरे सीमान्त निवासी इसे जाने और यह उद्योग चिरस्थायी हो और इस लक्ष्य की उन्नति होगी। इसकी अवश्य खूब उन्नति होगी और कम से कम डेढ गुना उन्नति होगी और यह प्रज्ञापन २५६ व्युष्ट[5] मे कराया गया है।"

सहसराम

यह प्रज्ञापन २५६ व्युष्टो से कराया गया है क्योकि २०० तथा ५६ व्यक्ति दौरे पर गये है (विवुथ-व्युष्ट)[5] और इसे शिलाओ पर खुदवाओ और जहाँ शिला स्तम्भ हैं वहाँ भी खुदवाओ।

रूपनाथ

इस लेख को शिलाओ पर खुदवाओ। यहाँ और दूर-दूर, जहाँ-कही शिला स्तम्भ है, वहाँ भी खुदवाओ और यह मौखिक आदेश लेकर तुम सब अपने-अपने क्षेत्राधिकार मे दौरे पर जाओ। यह प्रज्ञापन २५६ व्युष्टो से कराया गया है और यह सख्या इतने ही व्यक्तियो के दौरे पर जाने को सूचित करती है।

टिप्पणियाँ

१. वियेना ओर. जर. १२, ७५-७६ में बूलर ने खडहाल जातक (जातक सख्या ५४२) के बल पर निश्चित रूप से सिद्ध कर दिया है कि अय्यपुत्त शब्द का अर्थ राजकुमार है।

२ और अधिक स्पष्टीकरण के लिए, देखो ऊपर पृष्ठ ७७-८०।

३ ऊपर पृष्ठ ११८; IA, १९१२, पृष्ठ १७०–१। इसके साथ सहदेव-मनुष्या अस्मिल्लोके पुरा बभूवु—आपस्तबीय धर्मसूत्र, पृष्ठ ७६ (बो० संस्कृत सीरीज)।

४. यहां ऊँचे और नीचे शब्दो का प्रयोग ऊँचे और नीचे अफसरो के लिए किया गया है। इस प्रज्ञापन की तुलना शिला प्रज्ञापन १० से करनी चाहिए और ऊपर टिप्पणी सख्या २ पढ़ो।

५. IA, १९०८, पृष्ठ २१; J.A., मे-जुई, १९१०; JRAS १९१३, पृष्ठ ४४७; तथा J R.A.S १९१०, पृष्ठ १४२ और १३०८; १९११, पृष्ठ १११४; १९१३, पृष्ठ १०५३, JA—जनवरी-फरबरी १९११। मेरे निर्वचन के लिए देखो IA, १९१२, पृष्ठ १७१-३।

पुस्तक-सची

बूलर, जी० IA, १८९३, पृ० २०९--३०६, १८९७, पृ० ३३४। EI, जिल्द ३, पृ० १३५–४२।

शास्त्री, एच० कृष्ण—दि न्यू अशोकन एडिक्ट आफ मस्की (हैदराबाद आर्कियोलोजिकल सीरीज, न० १)।
हुल्ट्श, ई०—ZDMG, जिल्द ७०, पृ० ५३९-४१।

(२)

अनुवाद

देवताओ का प्रिय यह भी कहता है : "पिता और माता की सेवा करनी चाहिए। इसी प्रकार प्राणियो पर दया करनी चाहिए। सत्य बोलना चाहिए।" धर्म के ये गुण हैं, जिन पर आचरण करना चाहिए। इसी प्रकार शिष्य को गुरु का आदर करना चाहिए और मनुष्य को अपने सम्बन्धियो से उचित व्यवहार करना चाहिए। (मनुष्य के मन की) यह स्वाभाविक प्राचीन रचना[1] हे और यह चिरस्थायी, है इसलिए इस पर आचरण करना चाहिए।

पड लिपिकार ने यह लिखा है।

टिप्पणी

१. ऊपर, पृष्ठ १५१।

भाब्रू लेख

अनुवाद

मगध का राजा प्रियदर्शी सघ का अभिवादन करता है और सघ की कुशलता की कामना करता है। हे भदन्तगण, आपको मालूम है कि मेरे मन मे बुद्ध, धर्म और सघ के प्रति कितना मान और श्रद्धा है। वैसे तो भगवान् बुद्ध ने जो कुछ कहा है, अच्छा ही है, परन्तु हे भदन्तगण, इस महान् धर्म की चिरस्थायिता के लिए जो मैं उचित समझता हूँ, उसकी घोषणा करना चाहता हूँ। हे भदन्तगण, वे ये धर्मग्रन्थ हैं . (१) विनय समुकसे, (२) अलियवसानि,

(३) अनागतभयानि, (४) मुनिगाथा, (५) मोनेयसूते, (६) उपतिसपसिन, और (७) मिथ्या के बारे मे भगवान् बुद्ध का राहुल को उपदेश[१]। हे भदन्तगण, मैं चाहता हूँ कि भिक्षु और भिक्षुणियाँ इन ग्रन्थो को लगातार सुने और विचारे। इसी प्रकार उपासक पुरुष और स्त्रियाँ करे। मैंने यह लेख इसलिए लिखवाया है जिससे लोग मेरे अभिप्राय को समझे।

टिप्पणी

१ ऊपर, पृष्ठ ७६-७८, JRAS १८८६, पृष्ठ ६३६; १६०१, पृष्ठ ३११, ५७७; १६११, पृष्ठ ११९३; १६१३, पृष्ठ ३८५; १६१५, पृष्ठ ८०५; IA, १८६१, पृष्ठ १६५; १६१२, पृष्ठ ३७; १६१६; पृष्ठ ८, JA, मे-जुई १८६६। मैक्सवालेसर, डास एडिक्ट वौन भाब्रा (मेटिरि-लियेन जुरकुण्ड डेस वुद्धिस्मास, ई० ल्यूमेन डास भाब्रा एडिक्ट डेस कोनिग्स अशोक (जेइट० इण्डोल, ईरान, अक्तूबर २, १६२३, पृष्ठ ३१६ और आगे)।

गौण स्तम्भ लेख

रुम्मिन्देइ (पदेरिया लेख)

अनुवाद

अपने अभिषेक के बीस वर्ष बाद देवताओ का प्रिय राजा प्रियदर्शी स्वय यहाँ आया और उसने अर्चना[१] की। क्योकि यहाँ शाक्य मुनि बुद्ध का जन्म हुआ था, इसलिए उसने वहाँ एक बहुत ही बडी पत्थर की दीवार[२] बनवाई और एक स्तम्भ स्थापित कराया। क्योकि यहाँ भगवान् का जन्म हुआ था, इसलिए लुम्बिनी गाँव के धार्मिक कर माफ कर दिये गये, और मालगुजारी[३] के रूप मे वह सिर्फ आठवाँ हिस्सा देगा।

टिप्पणियाँ

१ ऊपर, पृष्ठ ६६-६७।

२. पहले विद्वानो ने सिलाविगडभीचा को बड़े विचित्र शब्दो मे विभाजित किया था, पर सबसे पहले सर रामकृष्ण भण्डारकर ने यह सिद्ध किया कि यह वस्तुतः एक पद है जिसका अर्थ है पत्थर की बनी हुई बाढ या रेलिंग।

JB BRAS, जिल्द दस, पृष्ठ ३६६, (टिप्पणी, १४) फ्लीट बहुत अश तक उनसे सहमत है (JRAS १९०८, पृष्ठ ४७६-७ और पृष्ठ ८२३) मे स्वय इन अक्षरो को सिला-विगड-भीचा (शिला-विकट भित्तानि) का निरूपक मानता हूँ, जिसका अर्थ है, बड़ी-बड़ी पत्थर की दीवारे, जैसी एक दीवार वासुदेव सकर्षण के सम्मान में नगरी में बनाई गई थी। (MASI, न ४, पृष्ठ १२९। पूर्ववर्त्ती व्याख्याओ के लिए, देखो EI, जिल्द ५, पृष्ठ ५; S.B. Pr. A.W. १९०३, पृष्ठ ७२४, IA, १९०५, पृष्ठ १, १९१४, पृष्ठ १९-२०)।

३. पहले-पहल एफ० डब्लू० टामस ने 'बलि' का ठीक-ठीक अर्थ 'धार्मिक कर' लगाया था (JRAS, १९०९, पृष्ठ ४६६-७) उसके 'अठभागीय' के सही निर्वचन के लिए, देखो JRAS, १९१४, पृष्ठ ३९१-२।

पुस्तक-सूची

बूलर, जी—EI, जिल्द ५, पृ० ४ और गये।

स्मिथ, वी० ए०—IA, १९०५, पृष्ठ १ और आगे; तथा तराई, नैपाल की प्राचीन वस्तुओ पर मुखर्जी की रिपोर्ट, कलकत्ता, १९०१, की भूमिका।

फ्लीट, जे० एफ०—JRAS, १९०८, पृष्ठ ४७१ और आगे।

कारपेन्टियर, जे०--IA, १९१४, पृष्ठ १७ और आगे।

निगलीव लेख

अनुवाद

देवताओ के राजा प्रियदर्शी ने अपने अभिषेक के चौदह वर्ष बाद बुद्ध कोनाकमन के स्तूप को दूसरी बार बडा करवाया और अपने अभिषेक के बीस वर्ष बाद वह स्वय इस स्थान पर आया, उसने पूजा की और एक शिला स्तम्भ बनवाया।

सारनाथ स्तम्भ का लेख

अनुवाद

देवताओ के राजा प्रियदर्शी की आज्ञा है :

.. पाटलिपुत्र .. सघ मे कोई फूट न डाले पर जो कोई सघ मे फूट डाले, चाहे वह भिक्षु हो या भिक्षुणी, उसे श्वेत वस्त्र पहना दिये जायँ और ऐसी जगह रहने के लिए बाधित किया जाय जो (भिक्षुओ का) निवास-स्थान[1] नही है। यह आदेश भिक्षुओ और भिक्षुणियो के सघो को सुना दिया जाय।

देवताओ का प्रिय इस प्रकार कहता है · "ऐसा एक लेख सभा-भवन मे रख दिया जाए जिससे तुम उसे देख सको[2] और एक प्रति ऐसी जगह रखो जहाँ उपासक पहुँच सके, और उपासक प्रत्येक उपवास के दिन आये और उस आदेश को पढे। और उपवासो के दिन, जब महामात्र बारी-बारी से अपने मुख्यालय पर आये, तब उन्हे इस आदेश को पढना और समझना चाहिए और जहाँ तक तुम्हारा अधिकार क्षेत्र[3] है, तुम्हे वहाँ तक, यह आदेश लेकर दौरा करना चाहिए। इसी प्रकार सब किलो मे और जिला नगरो[4] में तुम्हे अन्य कर्मचारियो को यह आदेश देकर दौरे पर भेजना चाहिए।"

टिप्पणियाँ

१ बौद्ध भिक्षुक का वेश पीले रग का होता है और जब उसे श्वेत वस्त्र दिए जाते है तो इसका अर्थ यह है कि उसे सघ से बाहर कर दिया जाता है। (ओल्डनबर्ग का विनयपिटक, जिल्द ३, पृष्ठ ३१२, पक्ति १८; तथा JASB, १६०८, पृष्ठ ७-१०)। अनावासे के विषय में, बुद्धघोष की व्याख्या SBE, १७, पृष्ठ ३८८, टिप्पणी १ देखिए।

२. राजा निश्चय ही महामात्रो को सम्बोधित कर रहा है, भिक्षुओ को नहीं, जैसा कि कुछ विद्वानो ने समझ लिया है। 'ससरण' का शब्दार्थ है 'राजमार्ग', 'मिलन', इत्यादि और बहुत सभाव्यत यहाँ यह शब्द जिला कचहरी का वाचक ह जो राजमार्ग पर भी होती ह और मिलने का आम स्थान भी

होती है। एफ० डब्लू० टामस ने चुल्लवग्ग में इस शब्द का जो निर्देश बताया है (JRAS, १९१५, पृष्ठ १०६-१११) वह कचहरी के भवन के प्रामाणिक रूप का वाचक भी हो सकता है।

३. आहार शब्द का अर्थ है जिला, और इस अर्थ में इसका पुराने लेखों में बहुत जगह प्रयोग मिलता है। विवासापाथ और इस सन्दर्भ के साधारण निर्वचन के लिए देखो, IA, १९१२, पृष्ठ १७२।

४ प्रत्येक जिले (आहार) में एक से अधिक ताल्लुके (विषय) होते हैं। प्रत्येक ताल्लुके का मुख्य नगर किले की तरह होता होगा, EI, ८, १७१।

पुस्तक-सूची

बोजेल, जे० पी० एच०—EI, जिल्द ८, पृष्ठ १६६ और आगे।

वेनिस, आर्थर—JASB, १९०७, पृष्ठ १ और आगे।

सेनार्ट, ई०—कौंप्तेस रेंदुस द लाकादमी इन्स्क्रिप्स्यो, १९०७, पृष्ठ २५।

बौयर—JA, जिल्द, १० (१९०७), पृष्ठ ११९।

सांची का स्तम्भ लेख

[इस लेख की अनुलिपि (Facsimile) EI, २ में पृष्ठ ३६९ के सामने वाली प्लेट में देखी जा सकती है। इसके साथ बूलर का एक लिप्यन्तर (Transcript) भी है जिसे प्रोफेसर हुल्ट्श ने पुरातत्व विभाग द्वारा प्रस्तुत सामग्री की सहायता से हाल मे ही बहुत शुद्ध कर दिया है। उसका सशोधित पाठ JRAS, १९११, पृष्ठ १६७-९ में विद्यमान है।]

अनुवाद

भिक्षुओ और भिक्षुणियो के लिए एक मार्ग निर्धारित कर दिया गया है। जब तक सूर्य और चन्द्रमा प्रकाशमान हैं, तब तक मेरे पुत्र और पौत्र बने रहे, जिससे जो कोई सघ को तोड़े, चाहे वह भिक्षु हो या भिक्षुणी, उसे सफेद कपडे पहनाकर सघ से बाहर कर दिया जाय क्योकि मेरी यह कामना है कि सघ अपने मार्ग पर चलता हुआ चिरस्थायी हो।

इलाहाबाद स्तम्भ का लेख

(इसमें भी सघ में फूट डालने का दड बताया गया है और यह पिछले

दो का प्रतिरूप है। इस लेख का बहुत कम हिस्सा सरक्षित है और इससे जो एकमात्र नया तथ्य प्रकट हुआ है वह यह है कि इसमें अशोक का कौशाम्बी के महामात्रो के नाम एक आदेश है जिससे स्पष्ट प्रकट होता है कि यह स्तम्भ शुरू में कहाँ लगाया गया था।)

ख—रानी का अज्ञापन

अनुवाद

देवताओं के प्रिय के आदेश से सब जगह के महामात्रो से कहा जाय कि मेरी द्वितीय रानी जो भी दान करे, चाहे वह आम्र उद्यान हो, फलोद्यान हो, भिक्षुक घर हो, या जो कुछ भी उस रानी का दान हो, वह सारा तीवर की माता द्वितीय रानी कारुवाकी का ही समझा जाय।[1]

टिप्पणी

१. अपनी द्वितीय रानी की दान की इस तरह सूचना देकर अशोक स्पष्ट रूप से राज्य-परिवार के अन्य सदस्यो के अनुकरण के लिए एक आदर्श पेश कर रहा है। देखो ऊपर, पृष्ठ १२८ और आगे।

पुस्तक-सूची

बूलर, जी.—IA, जिल्द १९, पृष्ठ १२४--१२६।
हुल्ट्स, ई —JRAS, १९२१, पृष्ठ १११३—४।

बराबर पर्वत के गुफा लेख

अनुवाद

क—यह गुफा राजा प्रियदर्शी ने अपने अभिषेक के बारह वर्ष पश्चात् आजीविको को दान दी।

ख—खलतिक पहाड की यह गुफा उसने अपने अभिषेक के बारह वर्ष पश्चात् आजीविको को दी।

ग—राजा प्रियदर्शी ने अपने अभिषेक के उन्नीस वर्ष बाद खलतिक पहाड मे . ।

पुस्तक-सूची

बूलर, जी०—IA, जिल्द २०, पृष्ठ ३६४।